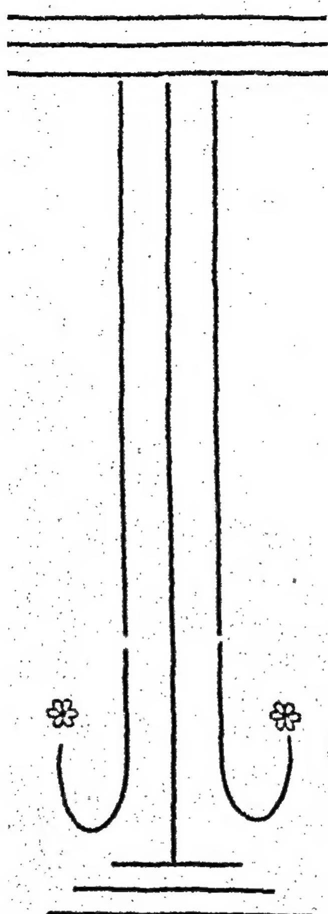
प्रकाशक—
आगरा बुक स्टोर,
आगरा, अजमेर, मेरठ, बनारस, लखनऊ।

प्रथम संस्करण—१९४० ई०
द्वितीय संस्करण—१९४२ ई०
तृतीय संस्करण—१९४५ ई०
चतुर्थ संस्करण—१९४६ ई०

मुद्रक—
गुलाबचन्द अग्रवाल, बी० कॉम०
अग्रवाल प्रेस, आगरा।

समर्पण



पूज्य माताजी
की
पुनीत स्मृति में

—लेखक

प्राक्कथन

'प्रबन्ध-पीयूष' को उच्च कक्षाओं में हिन्दी पढ़नेवाले विद्यार्थियों के समक्ष रखते हुए मुझे हर्ष है। यह पुस्तक विशेषतः विश्वविद्यालय के छात्रों के लिए लिखी गई है, पर हिन्दी की मध्यमा, उत्तमा, प्रभाकर आदि उच्च परीक्षाओं में सम्मिलित होनेवाले विद्यार्थी भी इसका उपयोग कर सकते हैं।

'निबन्ध-निकुञ्ज' के पश्चात् निबन्ध-रचना का यह मेरा द्वितीय प्रयास है। 'निबन्ध-निकुञ्ज' का जो आदर विद्यार्थी-समाज ने किया उसी ने मुझे प्रस्तुत पुस्तक को प्रकाश में लाने के लिए प्रोत्साहित किया। इस पुस्तक की रचना की प्रेरणा मुझे अपने एम० ए० के निबन्धों से मिली थी। फिर जब कालेज के विद्यार्थियों को पढ़ाने का सुअवसर प्राप्त हुआ, तब उनके लिए निबन्धों की उपयुक्त पुस्तक का अभाव बहुत खटका। फल-स्वरूप इस पुस्तक में संकलित निबन्धों की रचना का सूत्रपात हुआ।

इस पुस्तक की रचना में मुझे गुरुवर पं० जगन्नाथजी तिवारी एम० ए० (हिन्दी तथा संस्कृत), शास्त्री (अध्यक्ष-हिन्दी-संस्कृत-विभाग, आगरा कालेज) तथा गुरुवर पं० अयोध्यानाथजी शर्मा, एम० ए० (अध्यक्ष-हिन्दी-विभाग, सनातन धर्म कालेज, कानपुर) से बड़ी सहायता मिली है। अतः इन पूज्य महानुभावों का मैं हृदय से आभारी हूँ। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के प्रति भी मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट किए बिना नहीं रह सकता जिनके विचारों से मैंने बहुत लाभ उठाया है। कहना न होगा कि प्रधानतः शुक्लजी के विचारों की आधार-शिला पर ही इस भवन का निर्माण हुआ है। शुक्लजी के अतिरिक्त उन समस्त

लेखकों और कवियों का भी मैं कृतज्ञ हूँ जिनकी कृतियों ने मुझे प्रस्तुत रचना में किसी-न-किसी प्रकार की सहायता प्रदान की है।

इस रचना में मुझे कहाँ तक सफलता मिली है, इसका निर्णय तो पाठक-वृन्द ही कर सकेंगे। पर यदि इससे विद्यार्थी-समाज का कुछ भी हित हुआ तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूँगा।

जगनेर, आगरा
१ जनवरी, १९४० ई०

शिवप्रसाद अग्रवाल

चतुर्थ संस्करण पर लेखक का वक्तव्य

'प्रबन्ध-पीयूष' का यह चतुर्थ संस्करण पाठकों के हाथ में है। इतनी शीघ्र इस पुस्तक का चतुर्थ संस्करण हो जाना इसकी सर्वप्रियता का पर्याप्त प्रमाण है।

इस बार प्रबन्धों में यथास्थान संशोधन किया गया है तथा कुछ आवश्यक प्रबन्ध और जोड़ दिये गए हैं। आशा है प्रस्तुत रूप में यह पुस्तक पाठकों को अधिक रुचेगी।

मैं हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अधिकारियों का विशेष कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मेरी इस रचना को मध्यमा परीक्षा की पाठ्यपुस्तकों में स्थान दिया है।

अन्त में मैं उन समस्त महानुभावों को हार्दिक धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता जिन्होंने इस रचना को अपनाया है।

शिव-सदन,
स्वदेशी बीमा नगर, आगरा
गुरुपूर्णिमा, सं० २००५

शिवप्रसाद अग्रवाल

विषय-सूची

क्रम संख्या	विषय	पृष्ठांक

१—हिन्दी-साहित्य में गोस्वामी तुलसीदास का स्थान १
२—वर्तमान हिन्दी-कविता की प्रवृत्तियाँ १४
३—हमारी शिक्षा और उसका माध्यम २६
४—हिन्दी-कविता में प्रकृति-चित्रण ३६
५—हिन्दी-उर्दू-समस्या ४६
६—आख्यायिका (कहानी)—लेखन ५३
७—भारत को राष्ट्रभाषा की आवश्यकता और उसका रूप ६२
८—'सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केशवदास' ७१
९—कविता और आचार ८२
१०—रहस्यवाद और हिन्दी-कविता ८६
११—हिन्दी-गद्य का विकास ९९
१२—समाज की देश-काल के अनुरूप व्यवस्था ११२
१३—कवि अपने समय का प्रतिनिधि होता है ११९
१४—सभ्यता के विकास में काव्य का स्थान १२८
१५—कविता और मानव-जीवन १३४
१६—भारतवर्ष में सह-शिक्षा १४०

क्रम संख्या विषय		पृष्ठांक
१७—हिन्दी-काव्य में करुण-रस	....	१५०
१८—साहित्य का समाज पर प्रभाव	....	१६०
१९—साहित्य और आलोचना	....	१६७
२०—समाज में नारी का स्थान	....	१७३
२१—मुसलमानों की हिन्दी-सेवा	....	१८०
२२—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के कार्य-क्षेत्र में आते ही हिन्दी में समुन्नति का युग आया	....	१८७
२३—नाट्यकला का सामाजिक जीवन पर प्रभाव	....	१९६
२४—साहित्य समाज का दर्पण है	....	२०३
२५—हिन्दी का भविष्य	....	२०९
२६—काव्य और उपयोगितावाद	....	२१५
२७—वैयक्तिक शासन और प्रजातन्त्र	....	२२३
२८—हिन्दी-साहित्य और वैष्णव कवि	....	२३१
२९—काव्य की कसौटी	....	२४१
३०—शान्ति की विजय युद्ध की विजय से बढ़कर है	....	२५१
३१—'सबै दिन जात न एक समान'	....	२६०
३२—साम्यवाद और भारतवर्ष	....	२६७
३३—लोक-प्रिय साहित्य का रूप	....	२७४
३४—बेसिक शिक्षा	....	२८१
३५—गांधीवाद की रूप-रेखा	....	२९०
३६—भारतवर्ष की आर्थिक उन्नति में कलों का योग	....	२९९

क्रम संख्या	विषय		पृष्ठांक
३७—	हिन्दी पर विदेशी भाषाओं का प्रभाव	....	३०५
३८—	विद्यार्थी-जीवन और संयम	....	३१५
३९—	'स्वावलम्ब की एक झलक पर न्यौछावर कुबेर का कोष'	....	३२३
४०—	अहिंसा का आदर्श और राष्ट्र की रक्षा	....	३३०
४१—	साहित्य में आदर्शवाद और यथार्थवाद	....	३३७
४२—	कविता में भाव और कल्पना का स्थान	....	३४३
४३—	समालोचना के सिद्धान्त	....	३५०
४४—	उपन्यास की रचना	....	३५५
४५—	हास्य-रस की जीवन में उपयोगिता	....	३६१
४६—	उच्च शिक्षा का जीवन में उपयोग	....	३६७
४७—	संस्कृति और साहित्य	....	३७३
४८—	स्त्रियों की उच्च शिक्षा और भारतीय गार्हस्थ्य-जीवन एवं संस्कृति	....	३७९
४९—	कविता के अपेक्षित साधन	....	३८६
५०—	भारतीय विश्वविद्यालयों की शिक्षा	....	३९३
५१—	'सत्यं, शिव, सुन्दरम्' और साहित्य	....	४०१
५२—	भारत का उद्योगीकरण	....	४०७
५३—	वर्तमान काल का प्रतिनिधि कवि—श्री मैथिली शरण गुप्त	....	४१४
५४—	राष्ट्रीयता और हिन्दी-कविता	....	४२२

क्रम संख्या	विषय		पृष्ठांक
५५—सूर की काव्य-प्रतिभा		....	४३२
५६—हिन्दी-साहित्य में नाटकों का विकास		....	४४२
५७—देवनागरी-लिपि और उसमें सुधार		....	४४६
५८—प्रगतिवाद और हिन्दी-कविता		....	४५७
५६—'साहित्य संगीत कला विहीन : साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीन :'		....	४६६
६०—स्वतन्त्र भारत की समस्याएँ		....	४७२

भूमिका

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहकर वह अपने विचार दूसरों के सम्मुख प्रकट करना चाहता है और दूसरों के विचार स्वयं जानना चाहता है। इस प्रकार के आदान-प्रदान की प्रवृत्ति मानव-स्वभाव की विशेषता है। शिक्षा का कर्तव्य है कि वह मनुष्य को सुन्दर और सशक्त ढंग से अपने विचार प्रकट करने की शक्ति प्रदान करे। विचार-प्रकाशन मुख द्वारा हो सकता है या लेखनी द्वारा। अतः शिक्षा भाषण-शक्ति और लेखन-शक्ति दोनों का विकास करे। पर वर्तमान शिक्षा द्वारा यह कार्य भली भाँति सम्पादित नहीं होता। उच्च से उच्च शिक्षा प्राप्त करने पर भी अधिकांश व्यक्ति न तो मौखिक भाव-प्रकाशन में समर्थ होते हैं और न लेखनी चलाने में। स्कूलों और कालेजों में मौखिक भाव-प्रकाशन पर तो कुछ भी ध्यान नहीं दिया जाता। लेखनी चलाने पर जो थोड़ा-बहुत ध्यान दिया जाता है वह पाठ्य पुस्तकों तक ही सीमित रह जाता है, उससे स्वतन्त्र रचना-शक्ति पैदा करने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता। विद्यार्थियों को न तो कविता रचना सिखलाई जाती है, न निबन्ध-रचना और न कहानी-रचना। यद्यपि निबन्ध-रचना पर परीक्षाओं में प्रश्न पूछे जाते हैं, तथापि अध्यापक-गण इस ओर ध्यान नहीं देते। फलतः विद्यार्थी इस कला से अनभिज्ञ रहते हैं। यहाँ हमें इसी कला पर विचार प्रकट करना है।

निबन्ध-लेखन

निबन्ध या प्रबन्ध वह गद्य-रचना है जिसमें किसी विषय पर आकर्षक और सरस शैली में किसी लेखक के क्रमबद्ध विचार प्रकट किए गए हों। इस प्रकार निबन्ध के दो अङ्ग ठहरते हैं—(१) विचार समूह या सामग्री (Matter) और (२) शैली (Style)। निबन्ध-लेखन की सफलता बहुत कुछ सुन्दर शैली पर निर्भर रहती है। पर इसका यह आशय नहीं है कि सामग्री अनावश्यक वस्तु है। उसकी भी अपनी उपयोगिता है। चाहे शरीर को कितना ही सुसज्जित किया जाय, किन्तु प्राणों के अभाव में वह सुन्दर नहीं लगेगा।

विचार-समूह या सामग्री

किसी विषय पर लेखनी के पूर्व उसकी सामग्री जुटाने के लिए उस पर मनन करना चाहिए। मनन करने से जो विचार मस्तिष्क में आवें उन्हें लिख लिया जाय। किसी विषय-सम्बन्धी विचार उसी के मस्तिष्क में अधिक आ सकते हैं जिसने उस विषय का अच्छा अध्ययन किया है। वास्तव में निबन्ध लिखने के लिए विस्तृत अध्ययन और निरीक्षण की नितान्त आवश्यकता है।

विद्यार्थी को चाहिए कि वह अपनी पाठ्यपुस्तकों के अतिरिक्त विभिन्न विषयों की पुस्तकों का अवलोकन करे और अपने ज्ञान-भंडार में नित्य-प्रति अभिवृद्धि करता जाय। पुस्तकें केवल मनोविनोदार्थ ही न पढ़ी जायँ, वरन् उनके अध्ययन से कुछ नवीन विचार, कुछ नवीन बातें,

अवश्य ग्रहण की जायँ। यदि किसी पुस्तक को पढ़ने के पश्चात् हमारा ज्ञान-भंडर ज्यों का त्यों रहा तो समझिए कि उसके पढ़ने में हमने अपना अमूल्य समय यों ही खो दिया। सच्चा अध्ययन वही है जो हमें कुछ नई बातें सिखलावे।

अध्ययन के साथ-साथ निरीक्षण भी वांछनीय है। अध्ययन द्वारा हम दूसरों से कुछ सीखते हैं। निरीक्षण द्वारा हम स्वयं अपने ज्ञान को बढ़ाते हैं। जो बात स्वयं निरीक्षण से ग्रहण की जाती है उसका महत्व उस बात की अपेक्षा कहीं अधिक होता है जो अध्ययन से प्राप्त की जाती है, क्योंकि निरीक्षण में प्रत्यक्षानुभव के कारण किसी बात को समझने और उसे स्मृति-पटल पर अंकित करने की शक्ति अंतर्निहित रहती है। अतः हमें निरीक्षण से अवश्य सहायता लेनी चाहिए। प्रत्येक घटना को जो हमारे सामने घटित हो हमें ध्यानपूर्वक देखना चाहिए। हम जहाँ-कहीं जायँ वहाँ के रीति-रिवाज, रहन-सहन खान-पान आदि से परिचय प्राप्त करें। इसके अतिरिक्त हमें अपनी ज्ञानेन्द्रियाँ सदैव सजग रखनी चाहिएँ जिससे हमारे आस-पास की वस्तुएँ हमारे निरीक्षण से बाहर न रह सकें।

किसी विषय-सम्बन्धी विचारों को लिख लेने के बाद निबंध की रूप-रेखा (संकेत अथवा ढाँचा) बनानी चाहिए। रूप-रेखा में दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। अनावश्यक बातें जहाँ तक हो न रक्खी जायँ और विचारों को क्रमबद्ध लिखा जाय। मान लीजिए 'महात्मा

गाँधी' पर लेख लिखना है। लेखक को चाहिए कि अपनी रूप-रेखा में पहले 'गाँधी जी के आविर्भाव के समय भारत की दशा' लिखे, फिर 'उनका प्रारम्भिक जीवन', 'वकालत', 'अफ्रीका में सत्याग्रह, आदि अन्य बातें लिखे। यदि वह पहले 'प्रारम्भिक जीवन' लिखकर, 'आविर्भाव के समय भारत की दशा' लिखेगा तो क्रम भंग हो जायगा जिससे निबन्ध का सारा मजा मिट्टी हो जायगा।

रूप-रेखा के एक-एक विचार को बढ़ाकर निबन्ध के एक-एक परिच्छेद (पैराग्राफ) में लिखना चाहिए। इसके आदिम और अन्तिम विचार या बात को क्रमशः 'प्रस्तावना' और 'उपसंहार' नाम देना चाहिए। यह ध्यान रहे कि लेख में कोई भी ऐसी बात न लिखी जाय जो विषय की सीमा से बाहर हो। इसके अतिरिक्त किसी बात की पुनरावृत्ति न की जाय और विचारों में सर्वत्र संगति बनी रहे।

शैली

निबन्ध-रचना समास शैली में की जाय, व्यास शैली में नहीं। भावों और विचारों को थोड़े शब्दों में व्यक्त किया जाय। Brevity is the soul of wit के अनुसार संक्षेप में विचार-व्यंजना बुद्धिमत्ता की आत्मा है।

इसके अतिरिक्त विचारों में सर्वत्र भावात्मक पुट जो बात कही जाय वह भाव की लपेट में कही जाय, जिस वह सीधी हृदय पर चोट करे।

शैली में सबसे अधिक महत्वपूर्ण वस्तु भाषा है। निबन्ध की भाषा शुद्ध, स्पष्ट और सुबोध हो। उसमें दुरूहता कहीं न आने पावे। कुछ लोगों की यह धारणा है कि रचना में क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग करने से सुन्दरता आ जाती है। यह धारणा भ्रम-पूर्ण है। भाषा की कठिनता तो रचना के सौन्दर्य पर कुठाराघात करती है।

भाषा में धारा-प्रवाह का भी गुण होना चाहिए। निबन्ध पढ़ने-वाले को कहीं भी रुकावट का अनुभव न हो। वह एक वाक्य से दूसरे वाक्य तक सरकता-सा चला जाय। धारा-प्रवाह के लिए यह आवश्यक है कि वाक्यों में स्वाभाविक सम्बन्ध हो। वे आपस में एक दूसरे से इस प्रकार जुड़े हों जिस प्रकार शृङ्खला की कड़ियाँ। वाक्य जहाँ तक हो सके छोटे-छोटे लिखे जायँ, क्योंकि लम्बे-लम्बे वाक्यों का ठीक-ठीक निर्वाह करना कठिन होता है। अधिकांश विद्यार्थी इस प्रकार के वाक्य लिखने में त्रुटियाँ करते हैं। लम्बे-लम्बे वाक्यों का कभी-कभी मतलब भी गुम हो जाया करता है।

भाषा सशक्त और फड़फड़ाती हुई लिखी जाय जिससे पाठक प्रभावित होकर निबन्ध को अन्त तक पढ़ता हुआ चला जाय। इसके लिए इस बात का ध्यान रहे कि वाक्य के जिस अंश पर जोर देना हो उसे वाक्य के आदि अथवा अन्त में रक्खा जाय। जैसे—यदि भारतीय कष्टों के अन्त का कोई एक मात्र साधन है तो वह स्वराज्य है। कभी-कभी किसी बात को जोरदार बनाने के लिए

उसे प्रश्नवाचक अथवा विस्मयादिसूचक वाक्य में लिखते हैं। जैसे—(१) ज्ञान-प्रसार में किस प्रकार विदेशी भाषा मातृभाषा की अपेक्षा अधिक सरल हो सकती है ? (२) कैसे रमणीय, कैसे सुहावने, कैसे सुन्दर दृश्य हैं ! यदि इन वाक्यों को साधारण रूप में—(१) ज्ञान-प्रसार में विदेशी भाषा मातृ-भाषा की अपेक्षा सफल नहीं हो सकती है। (२) दृश्य रमणीय, सुन्दर और सुहावने हैं—रख दिया जाय तो इनमें शिथिलता आ जायगी। कहीं-कहीं वाक्य या वाक्यांश के आदि अथवा अन्त में एक ही शब्द या शब्द-समूह की पुनरावृत्ति से भी भाषा में अच्छी शक्ति आ जाती है। जैसे—(१) महात्मागांधी के प्रौढ़ मस्तिष्क से प्रसूत यह शिक्षा निस्संदेह हमारे बालकों का कल्याण करेगी, निस्संदेह हमारे देश को ऊँचा उठायेगी, निस्संदेह हमें निरक्षरता के अभिशाप से मुक्त करेगी। (२) जो आज उत्कर्ष के शिखर पर चढ़ा हुआ है, वह कल अपकर्ष के गर्त में गिर जायगा। जो आज अधोगति के अंधकूप में पड़ा हुआ है वह कल ऊर्ध्वगामी होगा। जो आज भूख से तड़पता फिरता है वह कल भोजन से छक जायगा। जो आज समृद्धि के समुद्र में सैर कर रहा है वह कल दाने-दाने को तरसेगा।

मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग से भाषा रोचक हो जाती है। जैसे—विदेशी भाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना टेढ़ी खीर है। यह वाक्य 'विदेशी भाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना कठिन काम है' इस वाक्य से कहीं अधिक रोचक है। अतः लेख में इनका प्रयोग करना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रहे कि अन्य भाषाओं

से अनुवाद करके मुहावरे अथवा लोकोक्तियाँ न रक्खी जायँ, क्योंकि ऐसा करने से भाषा का रूप विकृत हो जाता है। जैसे—अँगरेजी के मुहावरे 'To Put the cart before the horse' के हिन्दी-अनुवाद 'घोड़े के सम्मुख गाड़ी रखना' का प्रयोग कितना हास्यास्पद होगा। लक्षणा शक्ति का प्रयोग भी भाषा की रोचकता में वृद्धि करता है। जैसे—प्रेम अन्धा होता है। इसके स्थान पर यदि हम कहें 'प्रेम में मनुष्य को कर्तव्य अकर्तव्य का ज्ञान नहीं रहता' तो यह वाक्य फीका हो जाता है। भाषा में यत्र-तत्र विनोद का पुट अवश्य रहे। इससे हृदय की कली-कली खिल जाती है और मन नहीं ऊबता। स्मरण रहे कि विनोद कुरुचि उत्पादक अथवा मर्यादा-विरुद्ध न हो।

निबन्ध का सौन्दर्य अलङ्कारों के प्रयोग से बढ़ जाता है, पर उनकी भरमार अच्छी नहीं। जहाँ जो अलंकार स्वतः विचार-प्रवाह में आ जायँ उन्हीं को निबन्ध में स्थान दिया जाय। सिर खुजला-खुजलाकर रचना में अलंकार बिछाना ठीक नहीं। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि सादृश्य मूलक अलंकार भावों को स्पष्टता प्रदान करते हैं। उनके प्रयोग में भाषा में लालित्य एवं रमणीयता आ जाती है। जैसे—'जब साहित्यकार के हृदय-समुद्र में बाह्य परिस्थितियों द्वारा मंथन होता है तब भाव-लहरें उठने लगती हैं।'

निबन्ध में यथास्थान उदाहरण देकर विचारों को स्पष्ट और पुष्ट करना चाहिए। जहाँ कोई सूक्ष्म विचार प्रकट करना हो वहाँ उदाहरण अवश्य दिया जाय, अन्यथा

विचार की व्यंजना ठीक न हो सकेगी और पाठक उसे हृदयङ्गम न कर सकेगा। जहाँ विचार साधारण हो वहाँ उसकी अभिव्यक्ति के लिए उदाहरण की आवश्यकता नहीं होती, पर उसकी पुष्टि में यदि कोई उदाहरण दे दिया जाय तो निबन्ध की शोभा में वृद्धि हो जायगी।

निबन्ध में कहीं-कहीं किसी कवि या लेखक की ऐसी उक्ति दी जा सकती है जो विषय पर ठीक लागू होती है। हाँ, इस प्रकार की उक्तियों की संख्या अधिक न हो, क्योंकि निबन्ध में निबन्ध लिखनेवाले के विचारों की ही प्रधानता रहनी चाहिए। पर साहित्यिक लेखों में विचारों की पुष्टि के लिए प्रमाण-स्वरूप स्थान-स्थान पर कवि या लेखक की उक्तियाँ देनी पड़ती हैं। अतः इस प्रकार के लेखों के लिए इस नियम को शिथिल करना पड़ता है। उक्ति सदैव ऐसे उपयुक्त स्थल पर रक्खी जाय जहाँ वह ठीक खप जाय।

प्रस्तावना

शैली में निबन्ध के प्रारम्भ करने का ढंग विशेष महत्त्व रखता है। निबन्ध का प्रारम्भ है भी कठिन कार्य। इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए अभ्यास की आवश्यकता है। कोई ऐसा नियम नहीं है जो इसके लिए बतलाया जा सके। केवल अभ्यास से इस कला में कुशलता प्राप्त की जा सकती है। आरम्भ आकर्षक होना चाहिए जिससे पढ़नेवाला निबन्ध की ओर आकृष्ट हो। यदि ऐसा न होगा तो पाठक का मन पहले से ही मुरझा जायगा

और वह निबन्ध को अन्त तक पढ़ने के लिए इच्छुक न होगा। अतएव प्रारम्भ में लेखक को विशेष सावधानी की आवश्यकता है। आरम्भ की भाषा खूब फड़फड़ाती हुई हो। कई प्रकार से निबन्ध का आरम्भ किया जाता है। कोई लेखक विषय की परिभाषा देता है। कोई लेखक किसी उक्ति का प्रयोग करता है। कोई लेखक किसी दृश्य को उपस्थित करता है। कोई लेखक विषय से सम्बन्धित कुछ बातों का उल्लेख करता है। कोई लेखक किसी समस्या को लेकर आगे बढ़ता है। अपनी योग्यता के अनुसार लेखक इनमें से किसी एक का आश्रय ग्रहण करता है। प्रारम्भ करने का ढङ्ग लेखक पर तो निर्भर रहता ही है, पर विषय पर भी बहुत कुछ अवलम्बित होता है।

उपसंहार

जिस प्रकार निबन्ध का प्रारम्भ करना कठिन है उसी प्रकार उसकी समाप्ति भी सरल नहीं। अतः लेखक को इसकी रचना में भी विशेष सतर्क रहना चाहिए। यदि निबन्ध को एकदम समाप्त कर दिया जायगा तो पाठक को एक धक्का सा लगेगा और उसका सब आनन्द किरकिरा हो जायगा। इसलिए उपसंहार ऐसा लिखा जाय कि पाठक अबोध रूप से निबन्ध का रसास्वादन करता हुआ अन्त तक पहुँच जाय जहाँ उसे सर्वाधिक आनन्द की प्राप्ति हो। इस प्रकार के उपसंहार के लिए कोई नियम नहीं बतलाया जा सकता। पर कुछ स्थूल बातें ध्यान में रखनी चाहिएँ। निबन्ध के अन्त में उसका सारांश दिया जाय अथवा अपनी सम्मति प्रगट की जाय अथवा किसी कवि या लेखक की उक्ति दी जाय अथवा विषय

का भविष्य बतलाया जाय अथवा विषय का महत्त्व प्रदर्शित किया जाय अथवा सुधार के लिए अपील की जाय। स्मरण रहे कि अन्तिम पैराग्राफ लिखने में जितनी चतुराई से काम लिया जायगा उतना ही अच्छा प्रभाव पाठक पर पड़ेगा। अतः उपसंहार बहुत सोच-समझकर लिखना चाहिए।

अन्त में यही कहना है कि निबन्ध-लेखन एक कला है। इसमें कुशल बनने के लिए अध्ययन, निरीक्षण और अभ्यास की आवश्यकता है। विद्यार्थी को चाहिए कि वह विभिन्न विषयों की पुस्तकें खूब पढ़े, अपनी ज्ञानेन्द्रियाँ को सजग रखकर प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक बात, प्रत्येक घटना का निरीक्षण करे और निबन्ध लिखने का अभ्यास करे। वह प्रति माह कम से कम दो निबन्ध लिख कर किसी योग्य व्यक्ति को दिखा दिया करे। अच्छा हो यदि वह किसी विषय पर निबन्ध लिखने के पूर्व उसके लिए इधर-उधर से सामग्री एकत्रित करे। प्रस्तुत पुस्तक से विद्यार्थी-गण तभी सच्चा लाभ उठा सकते हैं जब वे इसमें से किसी निबन्ध को पढ़कर और फिर अन्य पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं से सहायता लेकर उसे अपनी भाषा में लिखें। यह पुस्तक उनको आधार का काम देगी। आजकल देखा जाता है कि विद्यार्थी निबन्ध लिखने से बहुत जी चुराते हैं। फलतः वे परीक्षा-भवन में बैठ कर बहुत बुरा निबन्ध लिखते हैं और बहुत कम अंक पाते हैं। यहाँ तक कि बहुत से विद्यार्थी अच्छा निबन्ध न लिख सकने के कारण ही परीक्षा में अनुत्तीर्ण होते हैं और इस प्रकार अपने वर्ष भर के परिश्रम पर पानी फेरते हैं।

हिन्दी-साहित्य में गोस्वामी तुलसीदास का स्थान

(१) प्रस्तावना—आविर्भाव के समय हिन्दुओं की दशा
(२) प्रचलित सभी काव्य-पद्धतियों पर रचना
(३) प्रचलित दोनों काव्य-भाषाओं में रचना
(४) मानव-जीवन की विविध दशाओं का प्रत्यक्षीकरण
(५) प्रकृति-चित्रण
(६) मनुष्य की विविध मुद्राओं का चित्रण
(७) काव्य के बाह्याङ्ग का सुन्दर रूप
(८) प्रबन्ध-पटुता
(९) केशव, जायसी और सूर के साथ तुलना
(१०) उपसंहार—सारांश

भारतवर्ष में मुसलमानों का आधिपत्य पूर्णतः स्थापित हो जाने पर हिन्दुओं के हृदय में गौरव तथा आत्माभिमान के भाव नहीं रह गए। कट्टर एवं धार्मिक असहिष्णु मुसलमान हिन्दुओं के धर्म पर आक्षेप करते थे, उन पर अत्याचार करते थे और पराधीन हिन्दू दीन बने हुए सब कुछ सह लेते थे। वस्तुतः हिन्दुओं का जीवन निराशामय था। उसमें उनके लिए कोई माधुर्य नहीं रह गया था। संसार में उनके आँसु पोंछने वाला कोई नहीं था। गज की एक ही पुकार पर पैदल दौड़ आने वाला ईश्वर भी अब उनकी सहस्रों पुकारों को नहीं सुनता था। हिन्दुओं की ऐसी दुर्दशा के समय गोस्वामी तुलसीदास का भारतवर्ष में आविर्भाव हुआ जिन्होंने हिन्दू-जनता के भग्न होते हुए

हृदय को सँभाला और दुष्ट-दलनकारी भगवान् राम का शील-सौन्दर्य शक्ति-समन्वित रूप दिखला कर उनके जीवन को सरस बना दिया। साथ ही अपनी अलौकिक प्रतिभा द्वारा हिन्दी-साहित्य को प्रौढ़ता की चरमकोटि पर पहुँचा दिया, उसके कलेवर को देदीप्यमान रत्नों से अलंकृत किया।

हिन्दी-साहित्य में जिस उच्च आसन पर गोस्वामीजी आसीन हैं वहाँ तक आज तक किसी की पहुँच नहीं हुई है। अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा द्वारा उन्होंने हिन्दी-काव्य की प्रचलित सभी रचना-शैलियों में राम-चरित्र की सुधा-धारा प्रवाहित करके उनमें पूर्ण सफलता प्राप्त की है। उनके समय में काव्य-रचना की पाँच प्रधान शैलियाँ प्रचलित थीं—(१) वीरगाथा-काल की छप्पय-पद्धति, (२) कबीरदास की नीति-सम्बन्धी बानी की दोहा-पद्धति, (३) जायसी की दोहा-चौपाई-पद्धति, (४) विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति और (५) गंग आदि भाटों की कवित्त-सवैया-पद्धति। इन पाँचों शैलियों में उनकी वाणी का संचार हुआ है। वीर-गाथा-काल की छप्पय-पद्धति पर यद्यपि उन्होंने अधिक रचना नहीं की तथापि जो कुछ की है वह उनकी तत्सम्बन्धी निपुणता प्रदर्शित करने के लिए पर्याप्त है। उनकी 'कवितावली' में छप्पय-पद्धति देखी जाती है। वहीं से निम्नांकित छप्पय दिया जाता है—

कतहुँ विटप भूधर उपारि परसेन बरक्खत।
कतहुँ बाजि सों बाजि मर्दि गजराज करक्खत॥

तरल चोट चटकन चकोट अरि उर सिर वज्जत।
विकट कटक बिद्दरत बीर वारिद जिमि गज्जत॥
लंगूर लपेटन पटकि भट, 'जयति राम जय' उच्चरत।
तुलसीस पवननंदन अटल जुद्ध क्रुद्ध कौतुक करत॥

कबीरदास की दोहा-पद्धति पर तो पूरी 'दोहावली' है और 'रामचरित-मानस' में भी कुछ दोहे हैं। नमूने देखिए—

एक भरोसो, एक बल, एक आस विश्वास।
एक राम-घनश्याम हित, चातक तुलसीदास॥
उरबी परि कुलहीन होइ, ऊपर कला प्रधान।
तुलसी देखु कलाप गति, सावन धन पहिचान।

(दोहावली)

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय, लागहु मोहिं राम॥

(रामचरितमानस)

जायसी की दोहा-चौपाई-पद्धति पर गोस्वामीजी का 'राम-चरित-मानस' बहुत प्रसिद्ध है। यहाँ तक कि प्रत्येक हिन्दू उसे अपना धार्मिक ग्रन्थ मान कर उसका आदर करता है। उसमें से चौपाई का एक उद्धरण देखिए—

कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि,
कहत लखन सन राम हृदय गुनि
मानहु मदन दुन्दुभी दीन्हीं,
मनसा विश्व विजय कहँ कीन्हीं।

विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति पर गोस्वामीजी ने 'गीता-वली', 'कृष्ण-गीतावली' और 'विनय-पत्रिका' की रचना की है। गीतावली का निम्नांकित पद देखिए, जिसमें भाव की व्यजंना अत्यन्त मार्मिक है—

मेरो सब पुरुषारथ थाको।
विपति बँटावन बन्धु-बाहु बिनु करौं भरोसो काको ?
सुनु सुग्रीव साँचेहू मोपर फेर्यो बदन बिधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यो लखन सो भ्राता॥
गिरि कानन जैहैं शाखामृग हौं पुनि अनुज संघाती।
ह्वै है कहा बिभीषन की गति, रही सोच भरि छाती॥
तुलसी सुनि प्रभु बचन भालु कपि सकल बिकल हिय हारे।
जामवन्त हनुमन्त बोलि तब औसर जानि प्रचारे॥

गंग आदि भाटों की कवित्त-सवैया-पद्धति पर गोस्वामीजी की 'कवितावली' है। इसमें से एक सवैया और एक कवित्त देखिए—

दूलह श्री रघुनाथ बने, दुलही सिय सुन्दर मन्दिर माहीं।
गावति गीत सबै मिलि सुन्दरि, बेद जुआ जुरि विप्र पढ़ाहीं॥
राम को रूप निहारति जानकी कङ्कन के नग की परछाहीं।
यातें सबै सुधि भूल गई, कर टेकि रही पल टारति नाहीं॥

× × × ×

बालधी बिसाल बिकराल ज्वाल-जाल मानो,
लङ्क लीलिबे को काल रसना पसारी है।
कैधौं व्योमबीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीररस बीर तरवारि सी उघारी है॥

तुलसी सुरेस-चाप, कैधौं दामिनी कलाप,
कैधौं चली मेरु तें कृसानु-सरि भारी है ।
देखे जातुधान जातुधानी अकुलानी कहैं,
कानन उजार्यो अब नगर प्रजारी है ॥

हिन्दी के अन्य किसी भी कवि को हम इस प्रकार भिन्न-भिन्न शैलियों में रचना करते हुये नहीं पाते ।

जिस प्रकार काव्य की प्रचलित सभी पद्धतियों पर गोस्वामीजी ने अपना रचना चमत्कार दिखलाया है उसी प्रकार काव्य की प्रचलित दोनों भाषाओं—व्रजभाषा और अवधी—में उनकी काव्य-श्री दिखलाई पड़ी है । व्रजभाषा और अवधी पर जैसा समान और विस्तृत अधिकार गोस्वामीजी का था वैसा अधिकार आज तक किसी अन्य कवि का नहीं देखा गया है । सूर और जायसी सरीखे श्रेष्ठ कवि भी केवल एक ही भाषा पर अधिकार रखते थे । न सूर अवधी लिख सकते थे और न जायसी व्रजभाषा उनकी भाषा सर्वत्र प्रौढ़, परिस्कृत और सुव्यवस्थित है । उसमें रसानुकूल शब्द योजना देखी जाती है । एक उदाहरण लीजिए ।

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि ।
कहत लखन सन राम हृदय गुनि ॥
मानहुँ मदन दुन्दुभी दीन्हीं ।
मनसा विश्व विजय कहँ कीन्हीं ॥

विषय की दृष्टि से भी गोस्वामीजी के सम्मुख हिन्दी का कोई भी कवि नहीं खड़ा रह सकता । मानव-जीवन

की जितनी अधिक दशाओं का समावेश उन्होंने अपनी कविता में किया है उतनी का किसी अन्य कवि ने नहीं। मानव-अन्तःकरण की सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्ति का उद्‌घाटन उन्होंने किया है। यहां तक कि कुछ ऐसी दशाओं का भी दर्शन कराया गया है जिनका अभी तक नामकरण तक नहीं हुआ है। वीरगाथा-काल के कवि केवल उत्साह को, भक्तिकाल के कवि केवल ज्ञान अथवा लोकोत्तर प्रेम को और रीति काल के कवि केवल दाम्पत्य प्रेम को लेकर चले हैं। हिन्दी के अन्य सभी कवियों का क्षेत्र संकुचित रहा है, गोस्वामीजी के समान विस्तृत नहीं। विस्तृत क्षेत्र में कार्य करते हुये भी गोस्वामीजी ने कहीं भी अपनी रचना में शिथिलता नहीं आने दी है। उन्होंने जिस सिद्धहस्तता के साथ शृङ्गार रस का वर्णन किया है उसी के साथ वीर का। जिस कौशल के साथ करुण रस का चित्रण किया है उसी के साथ भयानक का। जिस पटुता के साथ बीभत्स रस का रूप खड़ा किया गया है उसी के साथ रौद्र का। शान्त, अद्भुत तथा हास्य रस भी उनकी रचनाओं में अपने भव्य रूप दिखलाते हैं। छोटे-छोटे भाव तो अगणित हैं, कहाँ तक बतलाए जायँ। सभी रसों के नमूने दिखलाना तो इस छोटे से निबन्ध के बूते की बात नहीं, तो भी बीभत्स तथा अद्भुत रस के नमूने यहां दिखलाए जाते हैं—

ओझरी की झोरी कांधे, आंतनि की सेल्ही बाँधे,
मूंड के कमण्डलु, खपर किये कोरि कै।
जोगिनी झुटुंग झुंड झुंड बनी तापस सी,
तीर तीर बैठीं सो समर सरि खोरि कै।

सोनित सों सानि सानि गूदा खात सतुआ से,
प्रेत एक पियत बहोरि घोरि घोरि कै ।
(वीभत्स रस)

लीन्हों उखारि पहार बिसाल, चल्यो तेहि काल, बिलंब न लायो ।
मारुतनन्दन मारुत को मन को खगराज को वेग लजायो ॥
तीखी तुरा तुलसी कहतो पै हिये उपमा को समाउ न आयो ।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभलीक लसी कपि यों धुकि धायो ॥
(अद्भुत रस)

शृङ्गार का वर्णन जनकपुर की वाटिका में राम-जानकी-मिलन के अवसर पर अथवा रावण द्वारा सीता-हरण पर, करुण का वर्णन दशरथ के विलाप-रूप में अथवा लक्ष्मण के शक्ति लगने के अवसर पर, हास्य का वर्णन नारद-मोह के प्रसङ्ग में, वीर का वर्णन राक्षसों के वध के अवसर पर, रौद्र का वर्णन जनक के परितापयुक्त वचन कहने पर अथवा परशुराम-संवाद में, भयानक का वर्णन हनुमान द्वारा लङ्का दहन पर और शान्त का वर्णन प्रधानतः उत्तरकाण्ड में तुलसीदासजी ने किया है ।

कहीं-कहीं एक से अधिक भावों की साथ-साथ मार्मिक अभिव्यंजना करके गोस्वामीजी ने कमाल किया है । ऐसे स्थल देखते ही बनते हैं । भरतजी रामचन्द्रजी से मिलने चित्रकूट जा रहे हैं । निकट पहुँचने पर राम लक्ष्मण को देख कर उनकी जो दशा हो जाती है उसका वर्णन कितना भव्य है, देखिए—

"मन अगहुँड़ तनु पुलक सिथिल भयो,
नलिन नयन भरे नीर ।
गड़त गोड़ मानों सकुच पंक महँ,
कढ़त प्रेम-बल धीर ॥

संकोच और प्रेम का इतना उत्कृष्ट समन्वय अन्यत्र कहाँ मिलेगा ? भावसंधि का इतना सुन्दर उदाहरण अन्यत्र कहाँ मिलेगा ?

बाह्य-दृश्य चित्रण की दृष्टि से भी गोस्वामीजी हिन्दी के अन्य कवियों से ऊंचे उठे हुये हैं । यद्यपि उनका अधिकतर प्रकृति-चित्रण अन्य कवियों का सा ही साधारण है तथापि कहीं-कहीं उन्होंने संश्लिष्ट योजना द्वारा प्राकृतिक दृश्यों के ऐसे सजीव चित्र खींचे हैं कि वे उनको अन्य कवियां से ऊँचा उठाकर संस्कृत के कालिदास, वाल्मीकि आदि कवियों के समकक्ष रख देते हैं । उनके चित्रकूट के दृश्य ऐसे ही हैं । देखिये—

सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु-रंगमगे सृंगनि ।
मनहुँ आदि अंभोज विराजत सेवित सुर-मुनि-भृंगनि ॥
सिखर-परस घन घटहिं मिलति वग-पाँति सो छवि कवि वरनी ।
आदि वराह विहरि वारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी ॥

वास्तव में प्रकृति के जिन रूपों के साथ उनके हृदय ने सामंजस्य स्थापित किया उन्हीं के प्रत्यक्षीकरण में उन्होंने अनुपम कौशल दिखलाया है ;

भिन्न-भिन्न कार्यों में संलग्न मनुष्यों की मुद्राओं का चित्रण करने से दृश्य अधिक जीता-जागता हो जाता है। इस बात की ओर गोस्वामीजी के अतिरिक्त अन्य कवियों ने कम ध्यान दिया है। गोस्वामीजी भौं पर हाथ रक्खे हुए कभी बाहर कभी भीतर जाने वाली शवरी की मुद्रा का कैसा सुन्दर चित्रण करते हैं, देखिए

छन भवन छन बाहर बिलोकति पन्थ भू पर पानि कै।

उन्होंने रूप चित्रण में तो कमाल किया है, देखिए—

"सुखमा-सुरभि-सिंगार-छीर दुहि,
मयन अमियमय कियो है दही री।
मथि माखन सिय राम सँवारे
सकल भुवन छवि मनहुँ मही री॥
तुलसिदास जोगी देखत सुख सोभा
अतुल न जाति कही री।
रूप रासि विरची विरंचि मनो
सिला लवनि रति-काम लही री॥"

कविता के बाह्य अङ्ग का जैसा सुन्दर रूप गोस्वामीजी की रचना में मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं। उक्ति का अनूठापन, भाषा, अलंकार सभी उनके काव्य-सौन्दर्य को बढ़ाने वाले हैं। उनका-सा उक्ति-वैचित्र्य सूर के अतिरिक्त अन्य कवि की रचना में नहीं पाया जाता। इसके उदाहरण रावण-अङ्गद-संवाद में तथा पुष्प-वाटिका-प्रसंग में सखियों की उक्तियों में मिलते हैं। देखिए—

पुनि आउब एहिं बिरिआँ काली।
अस कहि मन बिहंसी इक आली॥"

सीताजी को घर लौट चलने के लिए संकेत करने वाली यह कैसी गूढ़ एवं चातुर्यपूर्ण उक्ति है ! उनकी सी प्रौढ़, सुव्यवस्थित एवं परिष्कृत भाषा घनानन्द के अतिरिक्त अन्य कवि की नहीं। अलंकारों की योजना उन्होंने ऐसे मार्मिक ढङ्ग से की है कि वे सर्वत्र भावों या तथ्यों की व्यंजना में भी सहायक हुए हैं। केशव के समान पांडित्य-प्रदर्शनार्थ या विहारी के समान शब्द-चमत्कार दिखाने के लिये अलंकारों का कहीं भी प्रयोग नहीं हुआ है।

गोस्वामीजी की प्रबन्ध-पटुता उनकी सब से बड़ी विशेषता है जो हिन्दी के कदाचित किसी भी कवि में वैसी नहीं पाई जाती। इसी प्रबन्ध-पटुता के कारण उनका 'रामचरितमानस' आज हिन्दू-जनता का कंठहार हो रहा है। हमारे यहाँ हिन्दी में प्रधान प्रबन्ध-काव्य रचयिता दो ही हुये है—जायसी और तुलसी। कहने की आवश्यकता नहीं कि जायसी में हमारे गोस्वामीजी की सी प्रबन्ध-काव्य रचने की कुशलता नहीं देखी जाती। 'रामचरितमानस' में राम-कथा आदि से अन्त तक अबाध-गति से प्रवाहित होती है और उसमें भिन्न-भिन्न घटनाएँ शृङ्खला की कड़ियों की भांति एक दूसरी से जुड़ी हुई हैं। कहीं भी कथा में शिथिलता नहीं आई है। जायसी के 'पदमावत' में कई स्थलों पर कथा में शिथिलता आ गई है और उसका सम्बन्ध-निर्वाह भी अच्छा नहीं हुआ है। चरित्र-चित्रण भी प्रबन्ध-पटुता का एक अंश है। गोस्वामीजी ने दशरथ, राम, लक्ष्मण रावण, हनुमान, भरत, सीता, कैकेयी, मंथरा, कौशल्या,

मन्दोदरी आदि, पात्र-पात्रिओं के बड़े सुन्दर चित्र खींचे हैं। विषम परिस्थितियों में पात्र-पात्रियों को डाल कर उनके चरित्र की विशेषताओं का उद्घाटन करना सफल महाकवि का ही काम है। गोस्वामी जी इस कला में कितने निपुण थे यह निम्नांकित उदाहरण से प्रकट हो जायगा—

अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा।
सिय मुख ससि भए नयन चकोरा॥
भए विलोचन चारु अचंचल।
मनहुँ सकुचि निमि तजे दृगंचल॥"

यहाँ कवि ने पुष्पवाटिका में रामचन्द्र जी का आकर्षण सीताजी के प्रति दिखाया है। वे टकटकी लगाकर सीताजी के मुख को देखने लगते हैं। उनका यह कृत्य मर्यादा की दृष्टि से कुछ खटकता है, क्योंकि किसी स्त्री की ओर निहारना भारतीय संस्कृति के विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त छोटे भाई की उपस्थिति में ऐसी हरकत और भी बुरी लगती है। इस प्रकार कवि ने उन्हें नीचे गिरा दिया, ऐसा प्रतीत होता है। पर क्या गोस्वामी जी द्वारा यह संभव था? क्या वे अपने इष्टदेव का ऐसा पतन दिखा सकते थे? कदापि नहीं। आगे चलकर रामचन्द्र जी द्वारा सफाई देखिए—

जासु विलोकि अलौकिक सोभा।
सहज पुनीत मोर मनु छोभा॥
सो सब कारन जान विधाता।
फरकहिं सुभद अङ्ग सुनु भ्राता॥

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ ।
मनु कुपन्थ पगु धरइ न काऊ ॥
मोहि अतिसय प्रतीत मन केरी ।
जेहिं सपनेहु पर नारि न हेरी ॥

राम की इस युक्ति से स्थिति स्पष्ट हो जाती है, दोष का निवारण हो जाता है और उनका चरित्र सूर्य की भाँति उज्ज्वल चमकने लगता है। इस प्रकार कवि ने राम को कठिन परिस्थिति में डालकर उनके आचरण का भव्य रूप प्रदर्शित किया है। यह है उनकी प्रतिभा। यह है उनकी दक्षता।

तुलसीदासजी से तुलना के लिये केशव, जायसी, और सूर को लोग प्रायः रक्खा करते हैं। केशव की तो तुलना तुलसी से किसी प्रकार नहीं की जा सकती। कहाँ तुलसी सूर्य और कहाँ केशव दीपक! मानव-अन्तःकरण प्रकृति-चित्रण, रचना-शैली, चरित्र-चित्रण सभी दृष्टियों से तुलसी केशव की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़े चढ़े हैं। केशव हृदय-हीन थे और तुलसी सहृदय। जायसी और तुलसी हिन्दी में दो ही श्रेष्ठ प्रबन्धकार कवि हुये हैं। पर प्रबन्ध-पटुता, भाषा, मानव-हृदय का विस्तृत अध्ययन, बाह्यदृश्य-चित्रण और चरित्र-चित्रण इन सभी दृष्टियों से तुलसीदासजी जायसी से कहीं श्रेष्ठ हैं। जायसी के 'पद्मावत' में न तो पात्रों के चरित्र का विकास ही देखा जाता है और न हृदय के विविध भावों का प्रत्यक्षीकरण ही। उसमें तो दाम्पत्य रति की ही प्रधानता पाई जाती है। पर गोस्वामीजी के 'रामचरित-

मानस' में भरत, लक्ष्मण, राम, सीता, दशरथ, कैकेयी, मंथरा आदि पात्र-पात्रियों का चरित्र मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से चित्रित हुआ है और उसमें हृदय के सभी भावों को स्थान मिला है। बाह्यदृश्य-चित्रण तो जायसी का बहुत बुरा हुआ है। प्रायः वस्तुओं की नामावली दे दी गई है अथवा प्रकृति को उद्दीपन-रूप में उपस्थित किया गया है। भाषा भी जायसी ने बोलचाल की अवधी रक्खी है। पर गोस्वामीजी ने ठेठ और साहित्यक अवधी दोनों का अच्छा प्रयोग किया है। प्रबन्ध-पटुता भी गोस्वामीजी की सी जायसी में नहीं मिलती जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है। अतःनिस्सन्देह गोस्वामीजी जायसी से उच्च पद के अधिकारी हैं।

अब सूर को लीजिए। सूर और तुलसी का जोड़ा हिन्दी-साहित्य में प्रसिद्ध है। प्रतिभा की दृष्टि से हम दोनों कवियों में कोई अन्तर नहीं कर सकते। पर इसमें सन्देह नहीं कि तुलसीदासजी का क्षेत्र विस्तृत है और सूरदास का संकुचित। यदि तुलसी ने काव्य के दोनों क्षेत्रों—प्रबन्ध और मुक्तक—में अपनी वाणी का संचार किया है तो सूर ने केवल मुक्तक-क्षेत्र में। यदि तुलसी ने मानव हृदय के भावों का समष्टि रूप अपनी कविता में प्रदर्शित किया है तो सूर ने केवल एक भाव प्रेम (वात्सल्य और दाम्पत्य) को स्थान दिया है। यदि तुलसी ने समस्त प्रचलित काव्य-शैलियां और काव्य-भाषाओं पर अपना अधिकार प्रदर्शित किया है तो सूर ने केवल गीत-शैली और ब्रज-भाषा को चुना है। इसके अतिरिक्त सूर के काव्य में लोकपक्ष का अभाव पाया

जाता है। उन्होंने अपने उपास्यदेव कृष्ण के लोकपक्ष को जनता के सम्मुख प्रतिष्ठित नहीं किया है, पर तुलसी के काव्य में लोकपक्ष की प्रधानता है। उनके राम दुष्ट-दलन, संसार-रक्षक राम हैं, ब्रज-वनिताओं से घिरे हुए उन्हीं के साथ क्रीड़ाएं करते हुए कृष्ण नहीं। अतः विस्तार एवं प्रभाव की दृष्टि से तुलसी ही सूर से ऊंचे ठहरते हैं।

सारांश यह है कि हिन्दी-साहित्य में गोस्वामीजी का स्थान सर्वोच्च है। इन्हीं एक कवि ने हिन्दी-साहित्य को उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया, इसमें सन्देह नहीं। तुलसी-सा कवि पाकर हिन्दी-साहित्य कृतकृत्य हो गया, हिन्दी-कविता सुशोभित हुई। किसी ने ठीक ही कहा है—

"कविता करके तुलसी विलसे
कविता लसी पा तुलसी की कला।"

वर्त्तमान हिन्दी-कविता की प्रवृत्तियाँ

(१) प्रस्तावना—समयानुसार हिन्दी कविता का रूप परिवर्तन
(२) वर्त्तमान हिन्दी-कविता की विषय-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ

(क) करुणा की प्रवृत्ति (ख) राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता के उद्गार (ग) शृङ्गारी पुट (घ) छायावाद का आधिक्य (ङ) प्रकृति के प्रति अनुराग (च) राम-कृष्ण की भक्ति (छ) प्रगतिवाद (ज) मुक्तकों की भरमार

(३) वर्तमान हिन्दी-कविता की शैली-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ

(क) खड़ी-बोली का आधिक्य (ख) कल्पना की प्रधानता (ग) अलंकारों का सुन्दर प्रयोग (घ) नवीन छन्द-विधान (ङ) व्याकरण की दुर्दशा (च) प्रगीतात्मक शैली की ओर झुकाव

(४) उपसंहार—स्वतन्त्र विकास में हिन्दी-कविता का महत्व

संसार परिवर्तनशील है। सभी सांसारिक वस्तुएँ समयानुसार परिवर्तित होती रहती हैं। कविता ही को देखिए। समय की प्रवृत्तियों के अनुकूल प्रत्येक भाषा की कविता में रूपान्तर देखा जाता है। हिन्दी-कविता की धारा ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी से अखंड रूप से प्रवाहित हो रही है। इस धारा ने समयानुसार अनेक रूप परिवर्तित किए हैं। वीरगाथा-काल में यह वीर-रस मय रही, रीतिकाल में यह शृङ्गारमय रही और आज यह अपना और ही वेश बदले हुए हैं। हमें यहाँ पर इसकी वर्तमान प्रगति और प्रवृत्तियों का ही विवेचन करना है।

किसी व्यक्ति-विशेष के सुख-दुःख की भावनाएँ उसकी सामाजिक, राजनैतिक आदि परिस्थितियों पर बहुत कुछ अवलम्बित रहती हैं। प्रतिनिधि कवियों की रचनाओं पर उनकी छाप रहती है। वर्तमान काल में अङ्गरेज़ी-शिक्षा के प्रचार से लोगों में देश-प्रेम और स्वतन्त्रता की भावनाएँ जाग्रत हो गई हैं पर राजनैतिक वातावरण उनके प्रतिकूल है। पश्चिम के सामाजिक विचारों से वे प्रभावित हो चुके हैं पर अपने समाज की रूढ़ियों के कारण विवश हैं। उनकी आर्थिक

स्थिति भी संतोष-जनक नहीं है। राजनीति के क्षेत्र में समाज दासत्व की बेड़ियों से जकड़ा हुआ स्वतन्त्रता का स्वप्न देख रहा है। इन सब परिस्थितियों ने लोगों के जीवन को नीरस बना दिया है। इस नीरसता का रूप हमारी कविता में स्पष्टतः दृष्टिगत होने लगा है। प्रायः प्रत्येक कवि की रचना वेदना, करुणा, निराशा आदि भावों से ओत-प्रोत होने लगी है। देखिए बाबू मैथिलीशरण गुप्त स्त्री-जाति की दीनता पर कारुण्य-पूर्ण विचार प्रकट करते हुए क्या कहते हैं—

अबला जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी ।
अंचल में है दूध और आंखों में पानी ॥

श्रीमती महादेवी वर्मा की तो वेदना चिर-सहचरी ही हो गई है। वे कहती हैं—

मेरी आहें सोती हैं
इन ओठों की ओटों में ।
मेरा सर्वस्व छिपा है
इन दीवानी चोटों में ॥

पं० सुमित्रानन्दन पन्त तो जीवन की सरसता के लिये दुःख का होना आवश्यक समझते हैं। देखिये—

बिना दुख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार ।

इसी प्रकार प्रसाद जी, कौशलेन्द्रजी, माखनलालजी चतुर्वेदी, भगवतीचरणजी वर्मा आदि कवियों की कविताओं में भी करुणा का साम्राज्य देखा जाता है।

इस स्वातन्त्र्य-युग में देशोद्धार तथा स्वतन्त्रता की लहर उठना स्वाभाविक ही है। भारतवर्ष में अगणित वीर देशोद्धार का बाना धारण किये मातृभूमि पर अपने जीवन का बलिदान चढ़ा रहे हैं! राष्ट्रीय जागृति के लक्षण सर्वत्र दिखलाई देते हैं। ऐसे वातावरण में कवियों की वाणी भी राष्ट्रीयता के रंग में रँगी हुई देखी जाती है। देखिये माखनलालजी चतुर्वेदी पुष्प-रूप में किस प्रकार अपनी अभिलाषा प्रकट कर रहे हैं—

मुझे तोड़ लेना वनमाली,
उस पथ में देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने,
जिस पथ जावें वीर अनेक॥

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान की जालियाँवाले बाग में वसन्त, विजयी मयूर, विजया-दशमी, विदाई, स्वदेश के प्रति शीर्षक कविताएँ राष्ट्रीयता से भरी हुई हैं। विजया-दशमी की चार पंक्तियाँ देखिए—

पन्द्रह कोटि असहयोगिनयाँ
दहला दें ब्रह्मांड सखी।
भारत-लक्ष्मी लौटाने को
रच दें लंका-कांड सखी॥

श्यामनारायन पाण्डेय की 'हल्दी घाटी' स्वतन्त्रता से ओत प्रोत है। उसमें स्वतन्त्रता की अलख जगाने वाले वीर महाराणा प्रताप के गौरव तथा हल्दीघाटी के अमर युद्ध का सजीव वर्णन है। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

रक्षा की तलवार उठाकर,
समर किया लाखों से ।
पोंछ दिया आँसू प्रताप ने,
माता की आँखों से ॥
निकल रही जिसकी समाधि से,
स्वतन्त्रता की आगी ।
यहीं कहीं पर छिपा हुआ है,
वह स्वतन्त्र वैरागी ॥"

मैथलीशरण जी गुप्त, वियोगीहरिजी, प्रसादजी, बालकृष्णजी शर्मा आदि की रचनाएँ भी देश-प्रेम का मधुर राग अलापती हैं ।

साथ ही कुछ कवि अब भी पुरानी लकीर को ही पीटते चले आ रहे हैं । अभी उनका जी नायक-नायिकाओं से नहीं भरा । रीति काल की जिन अश्लील रचनाओं ने समाज के रूप को विकृत कर दिया था वे आज भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती हैं । पर समय के प्रभाव से उनका बोल बाला नहीं । आधुनिक समाज में ऐसी कविताएँ अधिक दिन तक नहीं रह सकतीं, वरन् शीघ्र ही बरसाती मेंढकों की भाँति काल के गर्भ में विलीन हो जायँगी । कविता में रति-भाव की व्यंजना करना बुरा नहीं; परन्तु इसका अनौचित्य खटकता है । जीवन में इसकी प्रधानता होते हुये भी इसके द्वारा मर्यादा उल्लंघन होना समाज के लिये हितकर नहीं है । आजकल का समय हमें कर्मवीर बनने का पाठ पढ़ा रहा है । हमें अपनी दशा सुधारने और मातृभूमि का उद्धार करने के

लिए उद्योगी तथा कर्मण्य होना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में प्रेम का विलासमय रूप अङ्कित करना समाज को और भी अधःपतित करना है।

प्रेम के लोकोत्तर रूप को लेकर कविता में उसकी अभिव्यंजना करना वर्त्तमान काल का प्रधान लक्षण है। कविगण परोक्ष सत्ता के प्रति प्रेम की व्यंजना करते हुये देखे जाते हैं। उनकी वाणी में अलौकिक प्रेम की विकलता ही अधिक देखी जाती है। वे अपने प्रियतम या प्रियतमा ईश्वर के साक्षात्कार के अभाव में तड़पते हुए पाये जाते हैं। इस प्रकार की रचनाओं को रहस्यवाद या छायावाद के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

छायावाद का प्रयोग दो अर्थों में होता है। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में, दूसरे प्रतीकात्मक शैली के रूप में। प्रतीकात्मक शैली में प्रस्तुत के स्थान पर किसी अप्रस्तुत का वर्णन छायारूप में होता है। वर्त्तमान काल में प्रसादजी, पंतजी, निरालाजी, डा० रामकुमार वर्मा और महादेवीजी छायावादी कवियों में प्रमुख हैं। निरालाजी की छायावादी कविता की एक पंक्ति लीजिए—

एक दिन थम जायगा रोदन तुम्हारे प्रेम अंचल में।

प्रसादजी की भी कुछ छायावादी पंक्तियाँ देखिए—

भरा नैनों में मन में रूप।
किसी छलिया का अमल अनूप॥
जल-थल, मारुत व्योम में जो छाया है सब ओर।
खोज खोज कर खो गई मैं पागल-प्रेम-विभोर॥

आजकल की छायावादी रचनाओं में प्रायः प्रेमी हृदय की आर्द्रता और गम्भीरता वैसी नहीं देखी जाती जैसी जायसी और कबीर की रहस्यवादी उक्तियों में देखी जाती है। आजकल की छायावादी रचनाएँ कभी-कभी कल्पना-प्रसूत भी देखी जाती हैं जो हृदय पर वैसा प्रभाव नहीं डालतीं। वास्तव में हृदय से निकलने वाली कविता ही हृदय में प्रवेश करती है। जायसी की यह उक्ति—

पिउ हिरदय में भेंट न होई।
को रे मिलाव कहौं केइ गोई॥

पाठक के हृदय को स्पर्श किए बिना नहीं रह सकती।

वर्त्तमान हिन्दी-कविता में प्राकृतिक वर्णनों की प्रचुरता भी देखी जाती है। आजकल हमारे कवि प्रकृति से अनुराग करने लगे हैं। आलंकारिक रूप में प्रकृति का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से होता आया है। प्राचीन कविगण प्राकृतिक वस्तुओं का उपयोग प्रायः अलंकार-सामिग्री के रूप में करते थे। इसके अतिरिक्त उद्दीपन विभाग के रूप में भी प्रकृति काव्य में प्रयुक्त होती था। कुछ इने-गिने कवियों को छोड़ कर प्रकृति को काव्य का वर्णनीय विषय किसी ने नहीं बनाया। कारण स्पष्ट है। हिन्दी के प्राचीन कवियों के हृदय में प्रकृति के प्रति कोई अनुराग न था। आजकल अङ्गरेजी-साहित्य के सम्पर्क से हमारे कवि प्रकृति-चित्रण की ओर उन्मुख हुए है। प्रसादजी, पंतजी, महादेवीजी, गुप्तजी, उपाध्यायजी, पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि ने प्रकृति का अच्छा चित्रण किया है। गुप्तजी की ये चार पंक्तियां देखिए, जिनमें उन्होंने एक पक्षी का बड़ा स्वाभाविक चित्र खींचा है—

फैलाये यह एक पञ्ज, लीला किये,
छाती पर भर दिये, अङ्ग ढीला किये।
देखो ग्रीवा भंग-संग किस ढंग से,
देख रहा है हमें विहंग उमंग से॥

'ग्राम-श्री' शीर्षक कविता से पंतजी की ये चार पंक्तियाँ भी देखिए—

"फैली खेतों में दूर तलक
मखमल की कोमल हरियाली,
लिपटीं जिससे रवि की किरणें
चाँदी की सी उजली जाली"

वर्त्तमान कवियों में भी राम-कृष्ण की भक्ति के प्रति प्रेम बना है। समाज में बहुत कुछ परिवर्त्तन हो जाने पर भी कविगण राम और कृष्ण को अपनी कविता के विषय बनाये हुए हैं। उनको इन अवतारों की लीलाओं के वर्णन में आनन्द आता है। यद्यपि प्राचीन काल में अनेक कवियों ने राम और कृष्ण पर रचनायें की तो भी ये विषय आज तक अपनी नवीनता और आकर्षण बनाए हुए हैं। गुप्तजी ने 'पंचवटी' एवं 'साकेत' राम-सम्बन्धी और 'द्वापर' कृष्ण-सम्बन्धी रचनायें की हैं। उपाध्यायजी का 'प्रियप्रवास' कृष्ण-सम्बन्धी रचना है। इनके अतिरिक्त इस प्रकार की अन्य रचनायें भी हुई हैं।

इधर कुछ दिनों से हमारे कवि समाजवाद की ओर अग्रसर हुए हैं। अतीन्द्रिय जगत की सैर करने वाली छायावादी कविता पर अब समाज की वास्तविकता की

और उन्मुख हो रही है। कवियों को रचनाओं में पूँजीवाद के विरुद्ध आवाज उठाई जा रही है, किसान-मजदूर-आन्दोलन को स्थान मिल रहा है। किस प्रकार जमींदार और पूँजीपति क्रमशः कृषकों और श्रमिकों का आर्थिक शोषण करते हैं, उनका रक्त चूस-चूसकर तिजोरियाँ भरते हैं, उनकी पसीने की कमाई से स्वयं तो मखमल के गद्दों पर पड़े हुए विलास-सागर में विमग्न रहते हैं; किन्तु उन बेचारों को दिन रात पिसते रहने पर भी पेट भरने के लिये पर्याप्त रोटियाँ और शरीर ढकने के लिये पर्याप्त वस्त्र भी नहीं प्रदान करते, इसका चित्र समाजवादी कवियों की रचनाओं में देखा जाता है।

इस प्रकार की कविताएँ 'प्रगतिवादी' कहलाती हैं। प्रगतिवाद को प्राचीन कविता का प्रतिक्रिया-स्वरूप समझना चाहिए। अब तक कविता में प्रायः उच्च श्रेणी के लोगों का जीवन प्रतिपादित होता था, निम्न श्रेणी के मनुष्यों के जीवन को उसमें स्थान नहीं मिलता था। अब कवियों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ है। वे किसानों और मजदूरों के जीवन को अपनी कविता का विषय बनाने लगे हैं। किसानों एवं मजदूरों के जीवन की साधारण से साधारण वस्तु उनकी कविता में स्थान पाने लगी है। श्री भगवतीचरण वर्मा की 'भैंसागाड़ी' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"हिलती डुलती, हँफती कँपती,
कुछ रुक रुककर कुछ सिहर सिहर,
चरमर-चरमर—चूँ—चरर—मरर
जा रही चली भैंसागाड़ी।"

दिनकरजी की एक रचना देखिए—

श्वानों को मिलता दूध वस्त्र भूखे बालक चिल्लाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं॥
युवती के लज्जा वसन बेंच जब ब्याज चुकाये जाते हैं।
मालिक जब तेल फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं॥"

'साहित्य समाज का दर्पण है'—उक्ति के अनुसार समाजवादी भावनाओं का चित्रण कविता में होना ही चाहिए; पर 'प्रगतिवाद' के नाम से कुत्सित, निकृष्ट और कभी-कभी वीभत्स रचनाओं को प्रोत्साहन मिलने से कला के 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' आदर्श को अवश्य धक्का लगेगा। कला यथार्थ जीवन की विवेचना अवश्य करे; किन्तु असुन्दर एवं अशिव का प्रतिपादन न करे।

वर्त्तमान हिन्दी-कविता प्रबन्ध-काव्य से मुख मोड़कर मुक्तक की ओर अग्रसर हो रही है। आजकल मुक्तकों की भरमार देखी जाती है। प्रायः कविगण छोटे-छोटे विषयों को लेकर पद्यात्मक निबन्ध लिखते हैं; जैसे—झरना, आँसू, फूल, विषाद, वसंत, छाया, बालापन, निद्रा, ताँडव, मिलन आदि। यह समय का प्रभाव है। आजकल कवियों में प्रबन्ध-पटुता की कमी देखी जाती है। जो इने-गिने प्रबन्ध-काव्य हैं वे भी कुछ-न-कुछ अंशों में असफल हैं। मानव-कार्य-क्षेत्र जटिल हो जाने के कारण आजकल कवित्व-शक्ति के विकास के लिए समुचित स्थान ही नहीं रह गया है।

यह तो हुई वर्त्तमान-कविता के विषय की बात। अब उसकी शैली को लीजिए। शैली में भाषा, कल्पना

छन्द, व्याकरण आदि का प्रधान स्थान है। वर्तमान कविता का पद-विन्यास कोमल और अत्यन्त सुन्दर होता है। पर उसमें लाक्षणिकता लाने के लिए अँगरेजी भाषा का पल्ला पकड़ा जा रहा है। अङ्गरेजी भाषा की लाक्षणिक पदावलियां का ज्यों का त्यों अनुवाद रख कर आजकल के कवि अपनी रचनाओं को सजाने लगे हैं; जैसे पंतजी ने Innocent eyes पदावली का अनुवाद 'अजान-नयन' करके निम्नाङ्कित पंक्तियों में रख दिया है,—

कान से मिले अजान नयन।
सहज था सजा सजीला तन॥

रत्नाकरजी ने भी Vacant looks के लिए 'चख रीतें' प्रयोग किया है। देखिए—

इमि बिलखत बतरात चकित चितवत चखरीतैं।

इसी प्रकार Dreamy Splendour के लिए 'स्वप्निल आभा' और Golden dream के लिए 'स्वर्णस्वप्न' प्रयोग कवियों ने किए हैं। हिन्दी में लाक्षणिक शक्ति अँगरेजी से कम नहीं है। फिर क्या आवश्यकता है कि हम लाक्षणिक पदावलियों के लिए किसी विदेशी भाषा का आश्रय ग्रहण करें? हिन्दी को लाक्षणिक पदावलियों के प्रयोग के सम्बन्ध में यह ध्यान रहे कि वे अस्वाभाविक होकर खिलवाड़ न हो जायँ। अभिलाषाओं का सोना और जगना तो स्वाभाविक पदावलियाँ हैं पर उनका करवटें बदलना भद्दापन दिखाता है। प्रसादजी की इन पंक्तियों को देखिए—

अभिलाषाओं की करवट, फिर सुप्त व्यथा का जगना।
सुख का सपना हो जाना, भीगी पलकों का लगना॥

वर्तमान हिन्दी कविता की भाषा प्रधानतः खड़ी बोली है। हाँ, ब्रजभाषा का भी कोई-कोई कवि प्रयोग करता है पर ऐसे कवियों की संख्या बहुत थोड़ी है। वास्तव में ब्रजभाषा के दिन अब नहीं रहे हैं। उसकी धारा तो रत्नाकरजी के साथ ही रत्नाकर में विलीन हो गई, यदि ऐसा कहा जाय तो अनुचित न होगा। आजकल की कविता में प्रायः खड़ी बोली का बड़ा ही अव्यवस्थित तथा अपरिष्कृत रूप देखा जाता है। परन्तु बाबू मैथिलीशरण और ठाकुर गोपालशरणसिंह सरीखे कवियों की रचनाओं में खड़ी बोली अपना व्यवस्थित और विशुद्ध रूप भी दिखा रही है।

वर्तमान हिन्दी-कविता में अँगरेजी कविता के अनुकरण से कल्पना का प्राधान्य देखा जाता है। आजकल भाव-प्रधान कविताओं की कमी है और बुद्धिप्रधान कविताओं की प्रचुरता। कल्पना काव्य की सहायता अवश्य कर सकती है, पर वह काव्य का सब कुछ नहीं हो सकती। अलंकारादि के रूप में वह भावों की व्यञ्जना अधिक मार्मिक कर सकता है, किन्तु वह काव्य का साध्य नहीं हो सकती। भाषा के साथ खिलवाड़ करके वह चमत्कार-विधान भले ही कर दे परन्तु सच्ची कविता की उत्पत्ति नहीं कर सकती। आज-कल के हिन्दी-कवि कल्पना के पीछे बुरी तरह पड़े हैं। पंतजी की 'छाया' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

तरुवर की छायानुवाद-सी,
उपमा-सी, भावुकता-सी,
अविदितभावाकुल-भाषा-सी
कटी-छटी नव-कविता-सी।

चमत्कार-विधान जिसको 'अभिव्यञ्जनावाद' कहते हैं वर्तमान काव्य की प्रधान प्रवृत्ति है। 'अभिव्यञ्जनावाद' में उक्ति के चमत्कार को ही कविता माना जाता है, उक्ति द्वारा व्यञ्जित भाव को नहीं। आजकल के अधिकांश कवियों का लक्ष्य मानव-जीवन का चित्रण न करके मस्तिष्क को खरोंच-खरोंच कर अनूठी उक्तियाँ कह देना मात्र है। हमारे पूर्वजों ने काव्य का लक्ष्य मानव-जीवन के मार्मिक चित्रण द्वारा आत्मा की उच्चता रक्खा है। पश्चिमवालों की भाँति 'कला-कला ही के लिए' सिद्धान्त हमारे यहाँ कभी नहीं माना गया है। हमारे यहाँ काव्य-कला को साध्य न मानकर उसको साधन मात्र माना गया है। वास्तव में चमत्कृत करने वाली उक्ति को ही कविता समझ बैठना भारी भूल है। काव्य का कार्य चमत्कार उत्पन्न करना नहीं बल्कि भावों के रूप में जीवन का चित्रण है। कविता का प्राण भाव है, कल्पना नहीं।

आजकल की कविता में अलङ्कारों का सुन्दर प्रयोग होता है। कविगण प्रायः मूर्त उपमेय साहृश्य के लिए अमूर्त उपमानों का उपयोग करते हैं। जैसे—'शैशव की स्मृति सी सुकुमार' (पंत)। इसी प्रकार सूक्ष्म भावों की मूर्त्तोपमा भी देखी जाती है जैसे—विषाद को इन पंक्तियों में मूर्तिमान माना गया है—

कौन, प्रकृति के करुण काव्य सा, वृक्ष पत्र की मधु छाया में।
लिखा हुआ सा अचल पड़ा है, अमृत सदृश नश्वर काया में॥ (प्रसाद)

स्वाभाविकता भी वर्तमान कविता में प्रयुक्त अलंकारों की एक विशेषता है। देखिए निम्नांकित पंक्तियों में पंतजी

लहर का सादृश्य नवोढ़ा नायिका से दिखलाते हुए कैसी स्वाभाविक अलंकार-योजना करते हैं—

नवोढ़ा-बाल-लहर, अचानक उपकूलों के,
प्रसूनों के ढिंग रुक कर सरकती है सत्वर।

वर्तमान हिन्दी-कविता में विभिन्न प्रकार के छंदों का प्रयोग हो रहा है और नए-नए छंदों की उत्पत्ति भी हो रही है। बहुत-सी रचनाएँ भिन्न-तुकांत छंदों में की जा रही हैं। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रियप्रवास' नामक प्रबन्ध-काव्य भिन्न-तुकांत छंदों में ही लिखा है। इधर कुछ दिनों से बँगला के अनुकरण पर हमारी वर्तमान कविता छंद से मुक्त होने का प्रयास कर रही है। छंद रूपी बंधन तोड़कर आजकल की कविता स्वच्छन्द रूप से विचरण करना चाहती है। पर यह अच्छा नहीं। छंद से कविता में मधुरता आ जाती है, कविता संगीतमय हो जाती है। कविता को छंद से अलग कर देने से उसकी प्रभावोत्पादिकता में भारी कमी आ जायगी। निरालाजी की 'जूही की कली' शीर्षक छन्द-मुक्त कविता शुष्क और गद्य-सी प्रतीत होती है। कुछ पंक्तियाँ देखिए :—

विजन-वन वल्लरी पर,
सोती थी सुहाग भरी स्नेह स्वप्न मग्न,
अमल-कोमल तनु तरुणी जूही की कली,
दृग बन्द किए शिथिल पत्रांक में,

कुछ कवि आजकल व्याकरण की भी उपेक्षा कर रहे हैं। पंतजी तो शब्दों से स्त्रीलिङ्ग-पुल्लिङ्ग का पचड़ा ही हटाना चाहते हैं। वे 'व्याकरण की लोहे की कड़ियाँ'

तोड़ने के पक्षपाती हैं। 'प्रभात' शब्द पुल्लिङ्ग होते हुए भी पंतजी की दृष्टि में स्त्रीलिङ्ग है। इसी प्रकार अन्य कई प्रयोग भी व्याकरण से अनुमोदित नहीं हैं। विराम चिन्हों की आजकल बड़ी दुर्दशा है कोई कवि पूर्ण विराम (।) के स्थान पर सम्बोधन का चिन्ह (!) लगा देता है, तो कोई आवश्यकता न होने पर भी डैश (—) का प्रयोग कर देता है। जैसे—

इन ललचाई आँखों ने—
देखा है कौन खजाना ?

वर्तमान हिन्दी-कविता पाश्चात्य लिरिक (lyric) शैली का अनुकरण कर रही है। पंतजी, महादेवीजी, निरालाजी, प्रसादजी आदि लिरिक अर्थात् प्रगीतात्मक शैली को अपनाए हुए हैं।

अन्त में हमें यही कहना है कि वर्तमान हिन्दी कविता कुछ अंशो में दूसरों का अनुचित अनुकरण कर रही है। यह हमारी कविता को शोभा नहीं देता। अनुकरण सदैव अच्छी बातों का होना चाहिए। जिन बातों का अनुकरण करने से हमारी कविता का रूप विकृत होता जा रहा है, उसकी शक्ति कम होती जा रही है, वह अपने उद्देश्य से परे होती जा रही है, उनको त्यागने में ही हमारा कल्याण है। अपनी कविता का स्वतंत्र विकास करने में ही हमारा महत्व है

हमारी शिक्षा और उसका माध्यम

(१) प्रस्तावना—भारतवर्ष में विदेशी शिक्षा-माध्यम
(२) अँगरेजी द्वारा शिक्षा-प्रचार से हमारे देश को हानियाँ—
(क) भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर कुठाराघात (ख) ज्ञानोपार्जन और ज्ञान-प्रचार में रुकावट
(३) मातृ-भाषा द्वारा शिक्षा-प्रचार से लाभ—
(क) समय की बचत (ख) योग्यता में वृद्धि (ग) देश भर का शीघ्र सुशिक्षित हो सकना (घ) मातृ-भाषा के साहित्य का भरा-पूरा हो जाना (ङ) भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की संरक्षा
(४) उपसंहार—मातृ-भाषा को शिक्षा-माध्यम बनाने से देश और समाज की उन्नति

यह हमारा दुर्भाग्य है कि हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति प्रायः विदेशी वस्तुओं से की जाती है, हमको विदेशी रङ्ग में रँग जाता है, सब प्रकार से हमारा सम्बन्ध विदेशी वस्तुओं से जोड़ा जाता है। शिक्षा को ही ले लीजिए। हमारे देश में शिक्षा मातृ-भाषा द्वारा नहीं दी जाती। उसका माध्यम विदेशी भाषा अङ्गरेजी है। संसार में भारतवर्ष के अतिरिक्त शायद ही ऐसा सभ्य देश हो जहाँ विदेशी भाषा में शिक्षा दी जाती हो। यह बात समझ में नहीं आती कि कोई देश किस प्रकार विदेशी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाकर उन्नति कर सकता है, ज्ञान-प्रसार में किस प्रकार विदेशी भाषा मातृ-भाषा की अपेक्षा अधिक सफल हो सकती है। जिस भाषा को बालक बचपन में अपनी माता से सीखता है

उसी के द्वारा यदि उसको शिक्षित किया जाय, यदि उसको विविध विषयों का ज्ञान कराया जाय तो वह सरलता से अपनी उन्नति कर सकता है। वास्तव में मातृ-भाषा और शिक्षा का स्वाभाविक सम्बन्ध है। न जाने क्यों भारतवर्ष में शिक्षा का सम्बन्ध विदेशी भाषा से जोड़कर उलटी गंगा बहाई जा रही है। कुछ महाशयों का कहना है कि यदि मातृ-भाषा शिक्षा का माध्यम बना दी जायगी तो अङ्गरेजी के अध्ययन को हानि पहुँचेगी, जो हमारे लिये एक बुरी बात होगी। हाँ, ऐसा करने से निस्संदेह अङ्गरेजी के अध्ययन में कमी हो जायगी। आजकल शिक्षा का माध्यम होने के कारण सभी विद्यार्थियों को अङ्गरेजी का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। जब वह शिक्षा का माध्यम नहीं रहेगी तब उसका पढ़ना प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अनिवार्य न रह जायगा। अतः बहुत से विद्यार्थी उसका अध्ययन करना छोड़ देंगे। केवल वे ही उनको पढ़ेंगे जिनकी उस भाषा में रुचि होगी। पर यह समझ में नहीं आता कि अङ्गरेजी के पढ़ने में कमी हो जाने से देश या समाज को क्या हानि होगी। यह सच है कि अङ्गरेजी-साहित्य राष्ट्रीयता के भावों से भरा पड़ा है। अतः अङ्गरेजी के पढ़ने से मनुष्य के हृदय में राष्ट्रीय भावों का संचार होता है। पर क्या अङ्गरेजी न पढ़ते हुए हम उसके साहित्य के समुज्ज्वल अंग के सम्पर्क में नहीं आ सकते? क्यों नहीं? अनुवादों द्वारा हम अपनी मातृ-भाषा में अङ्गरेजी के राष्ट्रीयता-प्रधान साहित्य की अवतारणा कर सकते हैं और इस प्रकार उससे अपना सम्बन्ध रख सकते हैं।

अङ्गरेजी द्वारा शिक्षा-प्रचार से देश को भारी हानि हुई है। भारतीय स्त्री-पुरुषों में आत्मसम्मान का भाव नहीं रह गया है। हम लोग सब बातों में अपने को अँगरेजों से छोटा समझते हैं। अँगरेज हमारे अनुकरणीय हो रहे हैं। उनके ताल-सुर पर हम नाचते हैं। उनकी सभ्यता का, उनकी रहन-सहन का, अनुकरण करने में हम अपना सौभाग्य एवं महत्व समझते हैं। हममें यह विचार जड़ पकड़ गया है कि प्रत्येक भारतीय वस्तु बुरी है, उसको त्याग देना चाहिये। हम भारतीय रीति-नीति, भारतीय रहन-सहन, भारतीय वेश-भूषा से मुख मोड़ रहे हैं। यहाँ तक कि हम भारतवासियों को भी नहीं चाहते। हमें विलायती मेमें अच्छी लगती हैं, भारतीय पतिव्रत पत्नी नहीं। हम अपनी मातृ-भाषा से घृणा करते हैं। उसमें बातचीत करना, उसमें कुछ लिखना, हमें क्षुद्र बनाता है। इस प्रकार हम जातीयता को खो बैठे हैं। भाषा का जातीयता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब हमने अपनी मातृ-भाषा से मुख मोड़ लिया तब जातीयता कैसे रह सकती थी थी? वस्तुतः आज हमारी जो दुर्दशा है उसका उत्तरदायित्व बहुत कुछ अँगरेजी द्वारा शिक्षा-प्रदान पर है।

अँगरेजी द्वारा शिक्षा दी जाने से ज्ञानोपार्जन तथा ज्ञान-प्रसार में भी पर्याप्त रुकावट हुई है। भारतीय विद्यार्थी को किसी विषय के अध्ययन करते समय भाषा सम्बन्धी गुत्थियाँ सुलझानी पड़ती हैं। जब वह अँगरेजी भाषा में लिखी हुई इतिहास, विज्ञान आदि की पुस्तक पढ़ता है तब पहले भाषा को समझने का प्रयत्न करता

है और तत्पश्चात विषय को यदि किसी कारण वह भाषा को नहीं समझ पाता तो विषय का समझना उसके लिए असम्भव हो जाता है। विदेशी भाषा पर पूर्ण आधिपत्य प्राप्त करना टेढ़ी खीर है। अतः भाषा-सम्बन्धी कठिनाइयाँ उपस्थित हुआ ही करती हैं। परिणाम यह होता है कि विभिन्न विषयों के ज्ञानोपार्जन में भारतीय विद्यार्थियों को बड़ी कठिनाई पड़ती है और बहुत अधिक समय लगता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक भारतवासी के अँगरेजी पढ़े-लिखे न होने के कारण ज्ञान का भंडार उसके लिए बन्द रहता है। इतने अधिक वर्षों में थोड़े-से लोग अँगरेजी पढ़ पाये हैं। वे ही शिक्षित हैं। उन्होंने ही कुछ ज्ञान प्राप्त किया है। शेष अशिक्षित बने हुए हैं। अतः ज्ञान के प्रसार में बड़ी बाधा हो रही है।

अब हमें देखना है कि मातृ-भाषा द्वारा शिक्षा प्रदान करने से क्या लाभ हो सकते हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि मातृ-भाषा को सीखने में लोगों को कठिनाई नहीं पड़ती है, क्योंकि बाल्यावस्था से ही उसके साथ उनका सम्बन्ध हो जाता है। बिना पढ़ाये भी बालक टूटी-फूटी मातृ-भाषा बोल ही लेता है। अतः शिक्षा देने में आजकल की अपेक्षा बहुत कम समय लगेगा। जो विद्यार्थी आजकल २४-२५ वर्ष की आयु में शिक्षा समाप्त करता है वह १८-२० वर्ष की अवस्था में ही सुशिक्षित हो सकेगा। विद्यार्थियों को परदेशी भाषा सीखना कठिन होता है, विशेषतः अँगरेजी जैसी भाषा सीखना जो उनकी मातृ-भाषा से बिलकुल नहीं मिलती। यह सोचने की बात है कि भारतवर्ष में बालक-बालिकाओं को कितना

समय, कितना परिश्रम और कितनी शक्ति अङ्गरेजी सीखने में व्यर्थ लगानी पड़ती है। यदि उस समय, उस परिश्रम, उस शक्ति, को आवश्यक और उपयोगी ज्ञान की प्राप्ति में लगाया जाय तो इससे देश की शीघ्र उन्नति हो सकती है।

मातृ-भाषा द्वारा शिक्षा देने से विद्यार्थियों की योग्यता भी बढ़ जायगी। आजकल प्रायः देखा जाता है कि एम० ए० पास करने पर भी विद्यार्थी अपने विषय का पंडित नहीं हो पाता। इसका कारण यह है कि विदेशी भाषा में लिखित विचार और बातें पूर्ण रूप से उसकी समझ में नहीं आतीं। पुस्तकों में कई स्थलों पर भाषा के भँवर में पड़कर विद्यार्थी प्रतिपादित तथ्य तक नहीं पहुँचता। अतः उसका ज्ञान अधूरा रहता है, उसमें अपने विषय की अच्छी योग्यता नहीं हो पाती।

आजकल देश का अधिकांश भाग अशिक्षित है। प्रत्येक मनुष्य अङ्गरेजी नहीं पढ़ सकता, क्योंकि अङ्गरेजी शिक्षा बहुमूल्य है और मनुष्य प्रायः दरिद्र हैं। फिर बिना अङ्गरेजी पढ़े कैसे शिक्षित बना जाय? यदि शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा हो तो उक्त कठिनाई नहीं रह जायगी। शिक्षा के लिए अधिक व्यय नहीं करना पड़ेगा। ऐसा होने से ज्ञान का द्वार सर्व-साधारण के लिए खुल जायगा। देश का प्रत्येक मनुष्य भगवती वीणापाणि के प्रसाद का पात्र हो सकेगा। चारों ओर जागृति हो जायगी। कुरीतियाँ, ढोंग, आडम्बर, अज्ञान,

भय आदि चमगादड़ें एवं उलूक ज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश में न ठहर सकेंगे। भारतवर्ष में कालिदास, वाल्मीकि, व्यास, तुलसी सरीखे अगणित महानुभाव पैदा होंगे। संसार में पुनः भारतवर्ष की कीर्ति-पताका फहराने लगेगी और वह सभ्यता की दौड़ में सबसे आगे निकल जायगा।

यदि मातृ-भाषा द्वारा शिक्षा दी जाया करे तो हमारे देश की सभी भाषाओं का साहित्य भरा-पूरा हो जाय। आजकल तो शिक्षा का माध्यम अङ्गरेजी होने के कारण विद्यार्थी अपनी सम्पूर्ण शक्तियाँ उसी के ज्ञान प्राप्त करने में जुटा देते हैं। अङ्गरेजी पर इतना जोर दिया जाता है कि विद्यार्थी अपनी मातृ-भाषा को भली-भाँति सीख भी नहीं सकते, उसके साहित्य को भरा-पूरा बनाने की तो हम बात ही क्या कहें? कितने ही विद्यार्थी तो अँगरेजी को अधिक महत्व दिए जाने के कारण अपनी मातृ-भाषा का न सम्मान करते हैं और न उससे प्रेम। यहाँ तक कि वे उसे घृणा की दृष्टि से देखते हैं। वे मातृ-भाषा बोलने में शर्माते हैं, शुद्ध मातृ-भाषा बोल भी नहीं सकते। परिणाम यह होता है कि मातृ-भाषा का साहित्य विकसित नहीं होता, उसे प्रौढ़ता नहीं प्राप्त होती, उसका आकार भी नहीं बढ़ता। जब हमारे विद्यार्थियों से अङ्गरेजी भाषा का पल्ला छुड़ा दिया जायगा, उनको अपनी भाषा में शिक्षा मिलेगी, तब क्या कारण है स्वदेशी साहित्य उन्नति न करे? ऐसा करने से हमारे विद्यार्थी अपनी भाषा की उन्नति में संलग्न होंगे। मातृ-भाषा में विविध विषयों पर अनूठे-अनूठे ग्रन्थ लिखे जायँगे। लेखकों को प्रोत्साहन

मिलेगा, क्योंकि उनकी पुस्तकें पढ़नेवालों की संख्या बढ़ जायगी।

ये सब लाभ तो होंगे ही पर एक सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति की रक्षा हो जायगी। जैसा कि पूर्व ही बतलाया जा चुका है भारतवर्ष दिन-प्रतिदिन अपनी सभ्यता से पृथक् होता जा रहा है। किसी भी देश के लिए अपनी सभ्यता खो देना आत्मघातक सिद्ध होता है। सभ्यता की रक्षा प्राण देकर भी करनी चाहिये। यदि बच्चे आरम्भ से ही मातृ-भाषा पढ़ेंगे तो उनके हृदय में भारतीय संस्कृति के भाव जड़ पकड़ जायँगे। वे भारतीय गौरव, भारतीय आदर्श और भारतीय रहन-सहन के भक्त होंगे। कभी उन पर विदेशी रंग न चढ़ने पायगा।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए भारतवर्ष के हित में यह नितान्त आवश्यक है कि यहाँ शीघ्र मातृ-भाषा शिक्षा का माध्यम बना दी जाय। जिस प्रान्त की जो मातृ-भाषा हो उस प्रान्त को उसी के द्वारा शिक्षा दी जाय। वर्तमान शिक्षा-पद्धति में जहाँ अन्य दोष हैं वहाँ माध्यम सम्बन्धी दोष भी विद्यमान हैं। इस दोष के निराकरण से हमारे देश का, हमारे साहित्य का, हमारी संस्कृति का, कल्याण होगा। इस दोष के निराकरण से हमारी शीघ्र उन्नति होगी। भारतेन्दुजी ने ठीक ही कहा है—

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल॥

हिन्दी-कविता में प्रकृति-चित्रण

(१) प्रस्तावना—कविता और मानव-जीवन का सम्बन्ध; मानव-जीवन और प्रकृति का सम्बन्ध

(२) संस्कृत काव्य में प्रकृति-चित्रण

(३) हिन्दी-कविता में तीन प्रकार का प्रकृति-चित्रण—

(क) अलंकारों के उपमान-रूप में (ख) भावों के उद्दीपन-रूप में (ग) वर्णनीय विषय के रूप में—(अ) वस्तु-नामावली (आ) संश्लिष्ट योजनात्मक चित्रण (इ) अनुरंजनकारी दृश्यों का ही समावेश (ई) प्रकृति के भोले-भाले सामान्य रूप का चित्रण

(४) उपसंहार—आधुनिक कवियों का प्रकृति-प्रेम

"कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और उसका निर्वाह होता है।" दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि सृष्टि के नाना रूपों के साथ मनुष्य के हृदय का सामंजस्य स्थापित करना ही कविता का लक्ष्य है। मानव-हृदय अनेक भावों—प्रेम, करुणा, क्रोध, उत्साह, भय आदि—का भण्डार है। इन भावों का व्यायाम तभी हो सकता है जब कविता इनका सम्बन्ध संसार की विभिन्न वस्तुओं के साथ स्थापित कर दे, जब कविता जगत और जीवन के व्यापारों का मार्मिक प्रतिपादन करती हुई हमारे हृदय की वृत्तियों को उनमें लीन कर दे। इस प्रकार हम देखते हैं कि कविता के दो क्षेत्र हैं—मानव-जीवन और प्रकृति। हिन्दी के कवियों में अधिकांश ने मानव-जीवन को ही अपनी कविता का विषय चुना है, प्रकृति को

नहीं। पर कहना न होगा कि प्रकृति में हमारे भावों को जाग्रत एवं सशक्त करने की शक्ति कम नहीं, बल्कि मानव-जीवन की अपेक्षा अधिक है। फूल, पत्ती, पशु, पक्षी, मेघ, नदी, नाले, निर्झर, खेत, विद्युत आदि प्राकृतिक वस्तुएं हमारे हृदय को अधिक आकृष्ट करती हैं। जब हम लहलहाते हुए हरे-भरे खेतों को देखते हैं तब आह्लादित होते हैं। जब हम किसी वाटिका में विकसित फूलों को देखते हैं तब आनन्द से भर जाते हैं। जब हम अरुणोदय के समय लाल-पीले मेघों को देखते हैं तब हमारा मन उनकी ओर आकर्षित होता है। जब हम चाँदी के समान उज्ज्वल नदी या झरने को चट्टानों के साथ अठखेलियां करते हुए देखते हैं तब हमारा मन उसमें लीन हो जाता है। अतः यह आवश्यक है कि कवि हमारे भावों के उद्बोधन के लिये प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन करे, प्रकृति को कविता का विषय बनाकर उसका मर्मस्पर्शी चित्र अङ्कित करे।

संस्कृत-काव्य में प्राकृतिक दृश्यों के बहुत सुन्दर वर्णन मिलते हैं। आदि कवि वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि ने प्रकृति के नाना रूपों के साथ अपने हृदय का पूर्ण सामंजस्य प्रदर्शित किया है। रामायण, कुमार-संभव, रघुवंश, उत्तर-राम-चरित आदि में प्रकृति के बहुत ही सुन्दर संश्लिष्ट चित्र पाए जाते हैं। वाल्मीकिजी ने प्यासे पक्षियों द्वारा पत्तों की नोकों पर लगे हुए जल पीने के दृश्य का कैसा सुन्दर वर्णन किया है, देखिए—

मुक्तासकाशं सलिलं पतद्वै
सुनिर्मलं पत्र पुटेषु लग्नम्।

हृष्टा विवर्णच्छदना विहंगाः
सुरेन्द्रदत्तं तृषिताः पिबंति ॥

वास्तव में इस प्रकार के वर्णनों में कवि ने प्रकृति को वर्णनीय विषय बनाया है, किसी भाव को सहायक नहीं।

हिन्दी—कविता में जो कुछ प्रकृति-वर्णन मिलता है वह प्रायः तीन प्रकार का है—(१) अलंकारों के उपमान-स्वरूप में, (२) भावों के उद्दीपन-स्वरूप में और (३) वर्णनीय विषय-स्वरूप में ।

हिन्दी-कविता में प्रकृति का उपयोग उपमान-रूप में बहुत हुआ है । कवियों ने कहीं पर नायिका के मुख को कमल के समान सुन्दर बताया है, तो कहीं पर निर्दय मनुष्य के हृदय को पत्थर के समान कठोर। कहीं पर अधर को विद्रुम या बिम्बाफल से समानता दी है, तो कहीं पर शरीर को विद्युत के समान कहा है, कहीं पर मुख में चन्द्रमा की सम्भावना की है, तो कहीं पर नेत्रों में मछली की । गोस्वामी तुलसीदास की निम्नांकित दो पंक्तियाँ देखिए जिनमें उन्होंने प्रकृति का इसी रूप में उपयोग किया है—

लता-भवन ते प्रगट भए, तेहिं अवसर दोउ भाइ ।
निकसे जनु जुग विमल बिधु, जलद पटल बिलगाइ ॥

सूरदासजी का भी यह वर्णन देखिए—

देखि री हरि के चंचल नैन ।
खंजन मीन मृगज चपलाई, नहिं पटतर एक सैन ॥

राजिवदल, इंदीबर, शतदल, कमल, कुशेशय जाति ।
निसि मुद्रित प्रातहि वै बिगसत, ये बिगसे दिन रात ॥
अरुन असित सित झलक पलक प्रति को बरनै उपमाय ।
मनो सरस्वति गङ्ग जमुन मिलि आगम कीन्हों आय ॥

इसी प्रकार एक कवि ने रोती हुई नायिका का वर्णन किया है । देखिए—

कनक लतानि इन्दु, इन्दु मांहि अरविन्द,
झरैं अरविन्दन तें बुन्द मकरन्द की ।

इस प्रकार सभी हिन्दी-कवियों ने नख-शिख-वर्णन में प्रकृति का भद्दा उपयोग किया है । वास्तव में अलंकारों को सामिग्री के रूप में प्रकृति का कुछ भी अच्छा वर्णन नहीं होता । ऐसे स्थलों पर पाठक या श्रोता का ध्यान उपमेय पर ही रहता है, उपमान पर नहीं । प्रकृति उपमेय की सहायक होकर आती है, प्रधानता उपमेय की ही रहती है । कवि का उद्देश्य भी उपमेय-वर्णन ही होता है ।

भावों के उद्दीपन-रूप में भी हिन्दी के कवियों ने प्राकृतिक दृश्यों का अधिक वर्णन किया है । शृङ्गार-रस में शीतल पवन, निर्जन उद्यान, खिले हुए पुष्प, चाँदनी रात आदि प्रकृति के रूप उद्दीपन-विभाव का कार्य करते हैं । इनसे प्रेम का भाव उद्दीप्त होता है, प्रज्वलित होता है । देखिए, तुलसीदासजी की सीता के वियोग को प्रकृति किस प्रकार उद्दीप्त करती है—

नूतन किसलय मनहु कृसानू । काल निसा सम निसि शशि भानू ॥
कुवलय बिपिन कुंतबन सरिसा । बारिद तप्त तेल जनु बरिसा ॥

सूरदासजी की गोपिकाएं भी कुञ्जों को देखकर विरहोद्दीप्त होती हैं। वे कहती हैं—

विन गोपाल बैरिन भईं कुंजें।
तब ये लता लगति अति शीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजें॥

विहारी की भी नायिका कहती है—

विगसत नववल्ली कुसुम, निकसत परिमल पाय।
परसि प्रजारति विरह-हिय, बरसिरहे की वाय॥

प्राचीन हिन्दी-कवियों ने प्रकृति को वर्णनीय विषय बहुत कम बनाया है। हाँ, इधर कुछ दिनों से कवियों का ध्यान इस ओर अवश्य आकर्षित हुआ है। आजकल के कवि झरना, पुष्प, वसन्त, पावस आदि प्रकृति के विभिन्न अङ्गों पर सुन्दर स्वतन्त्र रचनाएँ करने लगे हैं। इस प्रकार की रचनाएँ दो श्रेणियों में रक्खी जा सकती हैं। एक श्रेणी को वस्तुनामावली वाली श्रेणी और दूसरी को संश्लिष्ट योजनात्मक चित्रण वाली श्रेणी कह सकते हैं। वस्तुनामावली में प्राकृतिक वस्तुओं का परिगणन मात्र रहता है। कवि उनका नाम गिनाता चलता है। संश्लिष्ट योजनात्मक चित्रण में किसी दृश्य के भिन्न-भिन्न अङ्गों का उसके आस-पास की परिस्थिति के साथ ऐसा मिला हुआ वर्णन रहता है कि पाठक या श्रोता के नेत्रों के सामने उस दृश्य का चित्र सा उपस्थित हो जाता है।

पहले वस्तुनामावली-रूप में प्रकृति का वर्णन देखिए। आचार्य केशवदास विश्वामित्र के आश्रम का वर्णन करते हुए कहते हैं—

तरु तालीस तमाल ताल हिताल मनोहर ।
मंजुल बंजुल तिलक लकुच कुल नारिकेर वर ॥
एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहैं ।
सारी शुक कुल कलित चित्त कोकिल अलि मोहैं ॥

इसमें वृक्षों और पक्षियों के नाम तो गिनाए ही गए हैं, पर एक बड़ा दोष यह है कि स्थान का ध्यान बिलकुल नहीं रक्खा गया है। केशवदास ने यह नहीं विचारा कि ये सब वस्तुएँ मगध के जंगल में होती भी हैं या नहीं। वस्तुतः केशवदास ने स्वयं प्रकृति का कभी निरीक्षण नहीं किया। वे तो अपने काव्य में प्रकृति की अवतारणा कल्पना द्वारा करते थे। जायसी में भी वस्तुनामावली की प्रवृति देखी जाती है। देखिए, भिन्न-भिन्न वृक्ष और पक्षियों के नाम उन्होंने किस प्रकार दिये हैं—

लवंग सुपारी जायफर सब फर फरे अपूर ।
आस-पास घन इमली औ घन तार खजूर ॥

× × × ×

भोर होत बोलहिं चुहचूही । बोलहिं पांडुक "एकै तूही।"
सारौं सुआ जो रहचह करहीं । कुरहिं परेवा औ करवरहीं ॥
"पीव-पीव" कर लाग पपीहा । "तुही-तुही" कर गडुरी जीहा ।
"कुहू-कुहू" करि कोइल राखा । औ भिंगराज बोल बहु भाखा ॥
या फूल तें वा फूल पै जो चपल गति सों धावतीं ।
सित, पीत, नील, सुरंग चित्रित पंख को फरकावतीं ॥
(रामचन्द्र शुक्ल)

प्रकृति को आलम्बन बनाने वाली कविताओं का एक दूसरे ढङ्ग से भी विभाजन किया जा सकता है। एक

वे हैं जिनमें प्रकृति के अनुरंजनकारी दृश्यों का ही समावेश हुआ है। दूसरी वे हैं जिनमें प्रकृति के भोले-भाले रूप को चित्रित किया गया है। श्रीधर पाठक, पं० सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा आदि कवियों की रचनाओं में प्रकृति का चित्ताकर्षक रूप ही देखा जाता है पाठकजी के 'काश्मीर-वर्णन' की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

चहुँ दिसि हिम गिरि-सिखर, हीर-मन मौलि-अवलि मनु।
स्रवत सरित-मिन-धार, द्रवत सोइ चन्द्रहार जनु॥
फल फूलनि छवि 'छटा छई जो वन उपवन की।
उदित भई मनु अवनि-उदर सों निधि रतनन की॥

पन्तजी का गंगा-वर्णन देखिए—

तापस-बाला-सी गङ्गा कल, शशि-मुख से दीपित मृदु-करतल,
लहरें उर पर कोमल कुन्तल।
गोरे अङ्गों पर सिहर-सिहर, लहराता तार-तरल सुन्दर,
चंचल अंचल-सा नीलाम्बर।
साड़ी की सिकुड़न-सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से भर,
सिमटी हैं वर्तुल मृदुल लहर।

पंतजी को तो कविता करने की प्रेरणा ही प्रकृति-निरीक्षण से मिली है। उन्हें प्रकृति से विशेष प्रेम है, जैसा कि निम्नाङ्कित पंक्तियों से प्रकट है—

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?"

पंतजी ने 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में प्रकृति का उग्र रूप भी चित्रित किया है; किन्तु यह रूप उन्हें बहुत कम रुचता है।

महादेवीजी का एक प्रातःकालीन दृश्य देखिए—

"हंस देती जब प्रात, सुनहरे
अञ्चल में बिखरा रोली,
लहरों की बिछलन पर जब
मचली पड़ती किरणें भोली,
तब कलियाँ चुपचाप उठाकर पल्लव के घूंघट सुकुमार।
छलकी पलकों से कहती हैं 'कितना मादक है संसार' ॥"

कहने की आवश्यकता नहीं कि इनमें संश्लिष्ट योजना का अभाव है।

प्रकृति के भोले-भाले रूप को चित्रित करने वाले कवि थे स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल। शुक्लजी को गुलाब के फूल को देखकर उतना ही आनन्द आता था जितना एक कटीली झाड़ी को देखकर। प्रकृति के अनुरंजन कारी तथा उग्र दोनों रूपों को देखने की अन्तर्दृष्टि उन्हें मिली थी। यही कारण है कि उन्होंने ऐसे वर्णन भी किए हैं—

केतकी तर बसत कारो नाग फेंटी मारि।

अब संश्लिष्ट योजनात्मक चित्रण की ओर आइए। गोस्वामीजी तुलसीदास ने गीतावली में चित्रकूट का जो वर्णन किया है उसको पढ़कर नेत्रों के सम्मुख चित्रकूट का चित्र-सा खिंच जाता है। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

सोहत श्याम जलद मृदु घोरत धातु रंगमगे शृङ्गनि ।
मनहु आदि अंभोज विराजत सेवित सुर-मुनि-भृङ्गनि ॥
सिखर-परस घन घटहिं मिलति बगपाँति सो छवि कवि बरनी।
आदि वराह विहरि वारिधि मनों उठ्यो है दसन धरि धरनी ॥

इनमें ध्वनि और वर्ण के विन्यास से चित्र उपस्थित करने की शक्ति आ गई है।

सेनापति का षट्ऋतु-वर्णन हिन्दी-साहित्य में प्रसिद्ध है। इन्होंने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा प्राकृतिक दृश्यों के सुन्दर संश्लिष्ट चित्र खींचे हैं। देखिए—

दामिनि दमक, सुरचाप की चमक,
स्याम घटा की झमक अति घोर घनघोर है ।

या

लाल-लाल केसू फूलि रहे हैं बिसाल,
संग स्याम रङ्ग भेंटि मानों मसि में मिलाये हैं।
तहाँ मधु व्याज आइ बैठे मधुकर पुंज,
मलय-पवन उपवन बन धाये हैं ।

वर्त्तमान काल में बाबू मैथिलीशरण गुप्त और पं० रामचन्द्र शुक्ल के कतिपय प्रकृति-वर्णन इसी कोटि के हैं। देखिए—

आगे आगे भाग रहा है मोर यह,
पत्तों से पथ झाड़, चपल चितचोर यह ।
मचक-मचक वह कीश मण्डली खेलती,
लचक-लचक बच डाल भार है झेलती ॥

(मैथिलीशरण गुप्त)

बैठे झुनगे डार पै कहुँ रहे पूँछ हिलाय हैं ।
पै आज भटकत नेकु नाहिं तितलीन पर दरसात हैं ॥

या

सूखती तलैया के चारों ओर चिपकी हुई,
लाल-लाल काइयों की भूमि पार करते ।

स्वर्गीय जयशंकर प्रसादजी ने भी प्रकृति का सुन्दर एवं असुन्दर दोनों प्रकार का रूप प्रस्तुत किया है । सुन्दर रूप देखिए—

"रजनी के रंजक उपकरण बिखर गए,
घूंघट खोल उषा ने झांका और फिर ।
अरुण अपांगों से देखा, कुछ हंस पड़ी,
लगी टहलने प्राची प्रांगण में तभी ॥"

असुन्दर रूप देखिए—

"उधर गरजती सिंधु लहरियाँ
कुटिल काल के जालों-सी ।
चली आ रहीं फेन उगलतीं
फन फैलाये व्यालों-सी ॥"

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय भी प्रकृति का अच्छा वर्णन करते हैं । गुप्तजी की भाँति ये भी प्रकृति का सुन्दर रूप चित्रित करते हैं, परन्तु शुक्लजी की भाँति इनका चित्त सामान्य दृश्यों में नहीं रमता । इनका संध्या वर्णन देखिए—

दिवस का अवसान समीप था ।
गगन था कुछ लोहित हो चला ॥

तरु शिखा पर थी अबराजती ।
कमलिनी-कुल वल्लभ की प्रभा ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्त्तमान काल के हिन्दी-कवियों को प्रकृति से अनुराग हो चला है। अब प्रकृति उनकी रचनाओं में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखने लगी है। हमारी कविता में प्रकृति के जो साँग और संश्लिष्ट चित्रों का प्रायः अभाव पाया जाता है, आशा है, उसकी पूर्ति शीघ्र हो जायगी। इसके लिए प्रकृति के साथ हृदय का सामंजस्य अपेक्षित है। 'प्रकृति मानव-जाति की चिर सहचरी है। उसका हमारे जीवन में महत्वपूर्ण स्थान है। उसकी ओर उदासीन रहना मानव-जाति के लिए हितकर नहीं। कवियों द्वारा मनुष्य और प्रकृति के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा होने में मनुष्य-जाति का कल्याण है।

हिन्दी उर्दू-समस्या

(१) प्रस्तावना—देश की उन्नति में बाधा; उर्दू की जन्मदात्री हिन्दी होना और दोनों का सम्बन्ध विच्छेद
(२) हिन्दी-उर्दू-विरोध की प्राचीनता
(३) हिन्दी-उर्दू-विरोध का कारण
(४) हिन्दी को संस्कृत से सम्बद्ध रहने की आवश्यकता—
(क) भारतीय आर्य-भाषाओं से सम्बन्ध विच्छेद की आशंका
(ख) संस्कृत शब्दों के प्रयोग से शैली में प्रौढ़ता तथा गरिमा का समावेश (ग) नये विचारों की

अभिव्यक्ति के लिए संस्कृत में अक्षय शब्द-भण्डार का होना (घ) हिन्दू-सभ्यता तथा संस्कृति की रक्षा

(५) समस्या की भयंकरता और संयुक्तप्रांत को हानि

(६) समस्या का भारतीय पहलू

(७) उपसंहार—सारांश

भारतवर्ष के अभ्युत्थान के लिये हमें अभी न जाने कितने रोड़े बटोर कर मार्ग परिष्कृत करना है, अभी न जाने कितनी समस्याओं को हल करना है। हिन्दी-उर्दू-समस्या भी उन महत्व-पूर्ण समस्याओं में से एक है जिनके हल पर भारतवर्ष की उन्नति निर्भर है। यद्यपि उर्दू का जन्म हिन्दी से हुआ है तो भी वह हिन्दी का विरोध करती है। अरबी-फारसी की गोद में खेलकर अब उसने अपनी जननी को भुला दिया है। वह जितना प्रेम अरबी-फारसी से रखती है उतना ही द्वेष हिन्दी से। दिन-प्रतिदिन वह हिन्दी से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर रही है। उसका वाक्य-विन्यास, उसका व्याकरण, उसकी लिपि, उसका शब्द-भण्डार, फारसी रंग में रँग रहा है।

हिन्दी और उर्दू का विरोध बहुत प्राचीन है। हाँ, आजकल उसने भीषण रूप अवश्य धारण कर लिया है। प्राचीन काल से ही इस विरोध के कारण हिन्दी-भाषा के दो रूप—शुद्ध भाषा और उर्दू-मिश्रित भाषा—दिखलाई देते हैं। गद्य के प्रारम्भिक लेखकों में हिन्दी और उर्दू का विरोध स्पष्टतया दृष्टिगत होता है। इस विरोध के

प्रधान नायक इंशाअल्लाखाँ और लल्लूलाल थे खाँ साहब की रचना में उर्दूपन शब्दों ही तक परिमित न था वाक्य विन्यास तक फैला हुआ था। उधर लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' को देखने से ज्ञात होता है कि लेखक ने उर्दूपन से बचने की बड़ी चेष्टा की है। आगे चलकर ईसाई धर्म-प्रचारकों ने अपनी रचनाओं में उर्दूपन का पूर्ण बहिष्कार किया। यहां तक कि यदि किसी विचार को व्यक्त करने के लिए उन्हें हिन्दी का कोई प्रचलित शब्द नहीं मिलता था तो वे उसके लिए उर्दू का शब्द न रखकर हिन्दी का ग्रामीण शब्द तक रख दिया करते थे। फिर आगे चलकर राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह में भी हम यही हिन्दी-उर्दू का झगड़ा पाते हैं। राजा शिवप्रसाद की पुस्तकों में उर्दूपन शब्दों ही तक परिमित न रहकर वाक्यों तक में प्रविष्ट हो गया है। राजा लक्ष्मणसिंह की रचनाओं ने इनसे ठीक विपरीत मार्ग ग्रहण किया है। उनमें ढूँढ़ने से उर्दू का एक शब्द तक नहीं मिलेगा, फिर वाक्य-विन्यास का तो कहना ही क्या? सं० १६११ में जब इस देश में शिक्षा की व्यवस्था हुई तब उर्दूवालों ने हिन्दी की पढ़ाई का घोर विरोध किया। उनका कहना था कि जब अदालत आदि राज्य के कार्यों में उर्दू ही प्रयोग में आती है तब एक और भाषा को क्यों लिया जाय, उर्दू की पढ़ाई की ही देश में क्यों न व्यवस्था की जाय?

हिन्दी और उर्दू के विरोध का प्रधान कारण यह है कि हिन्दी संस्कृत की ओर झुकती है और उर्दू अरबी-फ़ारसी की ओर। यदि दोनों ही मध्यवर्ती मार्ग ग्रहण

करें तो विरोध मिट सकता है, अन्यथा नहीं। पर हिन्दी ऐसा नहीं कर सकती। यदि वह ऐसा करेगी तो उसे बहुत हानि होने की सम्भावना है। हिन्दी के संस्कृत की ओर झुकने के कारण ये हैं—

भारतवर्ष की समस्त आर्य-भाषाएँ संस्कृत से दृढ़ और अटूट सम्बन्ध रखती हैं। वे अपने शब्द-भंडार को संस्कृत से भरती रहती हैं। हिन्दी भी अपने शब्द-भंडार की वृद्धि के लिए संस्कृत का पल्ला पकड़ती है। यदि ऐसा न करे तो वह अन्य भारतीय आर्य-भाषाओं से दूर हो जायगी। अन्य आर्य-भाषा-भाषी उसको न समझ सकेंगे। परिणाम यह होगा कि हिन्दी में राष्ट्रभाषा होने की उपयुक्तता न रह जायगी।

संस्कृत के शब्दों के प्रयोग से शैली में प्रौढ़ता और गरिमा आ जाया करती है, उसमें एक विशेष छटा का प्रादुर्भाव हो जाता है। साहित्यिक मनुष्य इस बात को भली-भाँति जानते हैं। साधारण मनुष्य भले ही इस कथन की सत्यता में विश्वास न करें; पर बात ऐसी ही है।

नए भावों और विचारों की अभिव्यक्ति के लिए हिन्दी संस्कृत को अथाह समुद्र के समान पाती है। बिना किसी कठिनाई के वह नवीन विचार या भाव के उपयुक्त शब्द संस्कृत से लेकर अपने शरीर में पचा लेती है। यदि हिन्दी संस्कृत के स्थान पर अन्य भाषा से शब्द,

माँग ले तो वह वैसी सरलता से उस शब्द को अपने शरीर में नहीं पचा सकेगी। यही कारण है कि आज तक जितने विदेशी शब्द हिन्दी ने लिए हैं उनमें से अधिकांश अपना विदेशी रूप-रंग बनाए हुए हैं।

हिन्दी प्रधानतः हिन्दुओं की भाषा है। हिन्दू लोग अपनी प्राचीन सभ्यता तथा संस्कृति को गौरव-पूर्ण समझते हैं और इन्हें आदर की दृष्टि से देखते हैं। वे कभी इनसे दूर नहीं होना चाहते। संस्कृत-ग्रन्थों में हिन्दुओं की प्राचीन संस्कृति और सभ्यता झाँक रही है। संस्कृत के निकट रहने से हिन्दी में वैसा ही प्राचीन सभ्यतामय वातावरण पैदा हो जाया करता है जो संस्कृत में है। इस प्रकार हमारा सम्बन्ध प्राचीन सभ्यता से नहीं टूटने पाता।

हिन्दी-उर्दू-समस्या संयुक्तप्रान्त के लिए बड़ी भयंकर समस्या है। आजकल इस बात का घोर प्रयत्न हो रहा है कि प्रत्येक प्रान्त में वहाँ के निवासियों की मातृभाषा ही शिक्षा और सामाजिक तथा राजनैतिक कार्यों का माध्यम हो। जैसे बंगाल में बालकों को बँगला में शिक्षा दी जाय और वहाँ के न्यायालयों, कार्यालयों, सामाजिक कार्यवाहियों आदि में भी बँगला का प्रयोग हो। आशा है कि यह प्रयत्न निकट भविष्य में सफल होगा। तब संयुक्त-प्रान्त की क्या दशा होगी? अन्य प्रान्तों की भाँति इस प्रान्त में एक भाषा तो है नहीं जिसको शीघ्र सार्वजनिक कार्यों का माध्यम बना लिया जाय। यहाँ तो उर्दू और हिन्दी दो भाषाएँ हैं।

इनमें से किसको चुना जायगा ? किस भाषा में नीची से नीची श्रेणी से लेकर ऊँची से ऊँची श्रेणी तक शिक्षा प्रदान की जाया करेगी ? अध्यापकगण किस भाषा में भाव-प्रकाशन किया करेंगे ? पाठ्य पुस्तकें किस भाषा में लिखी जाया करेंगी ? न्यायालयों में किस भाषा को स्थान दिया जायगा ? कार्यालयों की कार्यवाही की भाषा क्या होगी ? ये प्रश्न मस्तिष्क में उठते हैं। यह तो हो नहीं सकता कि यहाँ के हिन्दुओं के लिए पृथक् संस्थाएँ स्थापित की जायँ और मुसलमानों के लिए पृथक्, क्योंकि ऐसा करने से यह प्रान्त एक प्रकार से दो भागों में विभक्त हो जायगा। यहाँ के हिन्दू और मुसलमान एक प्रान्त में रहते हुए भी पारस्परिक व्यवहारों में विदेशियों के समान हो जायँगे। इसके अतिरिक्त व्यय भी बहुत बढ़ जायगा जिसे सहने के लिए प्रान्त की आर्थिक स्थिति तैयार नहीं। संभव है दोनों भाषाओं के मिले जुले रूप हिन्दुस्तानी को प्रान्तीय भाषा बनाया जाय और उसी में सब कार्य हों, हिन्दी और उर्दू छूट जायँ। यह भी अच्छा नहीं होगा। कम से कम हिन्दी से हाथ धो बैठना तो हिन्दुओं के लिए प्राणघातक होगा। उनमें हिन्दुत्व अथवा प्राचीन संस्कृति का नाम-निशान भी नहीं रह जायगा। तब तो यही अच्छा हो कि हिन्दी और उर्दू दोनों को इस प्रान्त के सार्वजनिक कार्यों का माध्यम बनाया जाय। ऐसा करने से व्यय अवश्य बढ़ जायगा। पर इसका चारा ही क्या है ?

हिन्दी-उर्दू-समस्या प्रान्तीय समस्या ही नहीं है, उसका एक भारतीय पहलू भी है। राष्ट्रभाषा के लिए

प्राय: लोग हिन्दी को अधिक उपयुक्त समझते हैं। पर मुसलमान उसका विरोध करते हैं और कहते हैं कि उर्दू को क्यों न राष्ट्रभाषा का पद प्रदान किया जाय ? इस प्रकार राष्ट्रभाषा का प्रश्न उलझन में पड़ा हुआ है। साम्प्रदायिकता का भद्दा रंग उस पर चढ़ा हुआ है। यद्यपि हिन्दी के राष्ट्रभाषा बनाए जाने से उर्दू को कोई हानि की सम्भावना नहीं तो भी व्यर्थ उसका विरोध किया जाता है। इसका कारण साम्प्रदायिक डाह के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मुसलमान लोग हिन्दी की उन्नति और गौरव नहीं सह सकते। यही कारण है कि देश में राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी समस्या उठ खड़ी हुई है।

सारांश यह है कि हिन्दी-उर्दू-समस्या का हल कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव-सा होता जा रहा है। दिन-प्रतिदिन हिन्दी और उर्दू के बीच की खाई अधिक चौड़ी होती जा रही है। ऐसी दशा में हम तो यही ठीक समझते हैं कि हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों में प्रत्येक हिन्दू को हिन्दी अपनानी चाहिए। मुसलमान उर्दू को अपनावें। दोनों ही अपनी-अपनी भाषा को भरी-पूरी बनावें, उनका विकास करें, उनको उन्नत करें। राष्ट्रीय कार्यों के संचालन के लिए अधिकांश भारतीय जन-समाज की भाषा हिन्दी के सरल तथा सुबोध रूप को ग्रहण किया जाय। मुसलमानों को हिन्दी का साधारण ज्ञान प्राप्त करना कठिन नहीं, क्योंकि वह उर्दू से पर्याप्त समानता रखती है। उन्हें हिन्दी भी सीखनी चाहिए। भारतीय सभ्यता और संस्कृति पर

कुठाराघात करके एक नई भाषा हिन्दुस्तानी गढ़कर उसे राष्ट्रीय पद पर आसीन करना हमें नहीं रुचता।

आख्यायिका (कहानी)—लेखन

(१) प्रस्तावना—गद्य क्षेत्र में आख्यायिका का महत्त्व
(२) लक्ष्य और क्षेत्र
(३) आरम्भ की विधि
(४) वस्तु की स्वाभाविकता, मनोरंजकता और सरलता
(५) वस्तु का प्रवाह
(६) वस्तु-रचना में सांकेतिकता की आवश्यकता
(७) अंत की विधि
(८) आख्यायिका का हृदय की चुटकी लेना
(९) आख्यायिका में पात्रों का गौण स्थान
(१०) कथोपकथन से आख्यायिका में सौन्दर्य वृद्धि
(११) दृश्य-विधान
(१२) आख्यायिका और शिक्षा
(१३) आख्यायिका के भेद और प्रणालियाँ
(१४) उपसंहार—आख्यायिका का भविष्य

इधर कुछ दिनों से गद्य के क्षेत्र में आख्यायिका का प्रवेश हुआ है। जिस प्रकार गद्य-साहित्य के नाटक, उपन्यास और निबन्ध अङ्ग माने जाते हैं उसी प्रकार अब आख्यायिका भी उसका एक अङ्ग माना जाने लगा है। पिछले कुछ वर्षों से गद्य-साहित्य के इस अङ्ग ने आशातीत उन्नति की है। मासिक पत्रों में जैसी इसकी धूम रहती है वैसी साहित्य के किसी और अङ्ग की

नहीं। यहाँ तक कि इसके बढ़ते हुए प्रचार ने उपन्यास तक के स्थान को हड़पने का दावा किया है। कुछ लोगों की यह धारणा हो चली है कि निकट भविष्य में आख्यायिका उपन्यास का स्थान ले लेगी और उपन्यास काल के अंधकार में विलीन हो जायगा। हम यह तो नहीं कह सकते कि भविष्य के गर्भ में क्या है, भविष्य में क्या होगा; पर, यह देखते हुए कि आख्यायिका के छोटे-से क्षेत्र में जीवन की गंभीर समस्याओं का विवेचन नहीं हो सकता, ऐसा प्रतीत होता है कि आख्यायिका उपन्यास का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती। दोनों ही अपने अपने क्षेत्र में कार्य करते रहेंगे। यदि आख्यायिका मनोरंजन करती रहेगी तो उपन्यास जीवन की समस्याओं को सुलझाया करेगा।

आख्यायिका एक छोटा-सा गद्य-कथानक होता है जो एक बैठक में पढ़कर समाप्त हो सके। विषय की दृष्टि से इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। किसी भी विषय पर आख्यायिका लिखी जा सकती है समाज की कमजोरियों के प्रदर्शनार्थ भी आख्यायिका लिखी जा सकती है, ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश डालने को भी आख्यायिका की रचना की जा सकती है, मनोविज्ञान-सम्बन्धी भी आख्यायिका हो सकती है और मनोरंजनार्थ किसी घटना के वर्णन-स्वरूप भी आख्यायिका रची जा सकती है। निस्संदेह उसका प्रधान उद्देश्य मनोरंजन है। पर इस कार्य का सम्पादन करते हुए भी वह जीवन के किसी अंग पर, जीवन की किसी दशा पर, प्रकाश डाल सकती है।

आख्यायिका की रचना के सिद्धान्त अभी पूर्ण रूप से निर्धारित नहीं हो सके हैं। इसका कारण यह है कि यह एक नई चीज है और अभी इसका सुचारू रूप से विवेचन नहीं हो सका है। फिर भी विद्वानों ने साहित्य के इस अङ्ग की कतिपय विशेषताओं का उद्‌घाटन किया है।

सबसे पहली विशेषता का सम्बन्ध आख्यायिका के आरंभ करने की विधि से है। वस्तुतः आख्यायिका के आरंभ पर ही उसकी सफलता का भार रहता है। यदि आरंभ अच्छा न हुआ तो वह पाठक के ध्यान को आकर्षित नहीं कर सकती। अतएव उसके आरंभ में लेखक को विशेष सावधान रहना चाहिए। उसमें यदि कुछ परिस्थिति-परिचायक या समाँ बाँधनेवाली बातें रहें अथवा किसी आकस्मिक घटना का सूत्रपात कर दिया जाय अथवा दो पात्रों का वार्तालाप दिखाया जाय तो निस्संदेह पाठक अवश्य उसको पढ़ने के लिए उत्सुक होगा।

आख्यायिका की वस्तु स्वाभाविक, मनोरंजक एवं सादा हो। वस्तु की जटिलता से उसका सारा आनन्द किरकिरा हो जाता है। आख्यायिका का ध्येय किसी एक भावना को जाग्रत कर देना है। इसकी साधना के लिए लेखक को जीवन का एक ऐसा दृश्य लेकर चलना चाहिए जिसका आख्यायिका के संकुचित क्षेत्र में भली भाँति निर्वाह हो सके। आख्यायिका के समाप्त कर देने पर पाठक यह अनुभव न करे कि वह अधूरी रह गई

या उसका अनावश्यक विस्तार कर दिया गया। ये दोनों ही बातें उसके लिए जीवन-घातक हैं। यदि वस्तु अधूरी रह जायगी, उसका पूर्ण रूप से प्रतिपादन न होगा, तो पाठक का मन संतुष्ट न होगा, उसे आनन्द न आयगा। यदि वस्तु का अनावश्यक विस्तार होगा तो पाठक की आकांक्षा अंत तक नहीं बनी रह सकेगी। उसे वस्तु का बढ़ाया हुआ अनावश्यक अंग भार-स्वरूप प्रतीत होगा और उसके मनोरंजन का स्थान अरुचि ले लेगी।

वस्तु की गति या प्रवाह की ओर लेखक को विशेष सजग रहना चाहिए। वह रुकती-चलती निर्झरी न हो बल्कि स्वच्छन्द विहारिणी पलपल पर प्रवाहित होने वाली तरंगिनी हो। उसकी घटनाएँ एक दूसरी से नथी रहें। इसके अतिरिक्त वस्तु रूपी माला में क्रमानुसार उनका स्थान हो। जहाँ तक हो सके घटनाएँ थोड़ी हों, क्योंकि अनेक घटनाओं के समावेश से वस्तु में बहुमुखता एवं जटिलता आ जाती है। वस्तु में कहीं भी शिथिलता न आने पाए। इसकी साधना के लिए उसको निरर्थक वाक्यों तथा प्रसंगों से बचाते जाना चाहिए। वस्तु-प्रतिपादन ऐसा न हो कि उसका अंतिम परिणाम पाठक अनुमान कर सके।

वस्तु की रचना में सांकेतिकता को पर्याप्त स्थान मिलना चाहिए। सांकेतिकता से उसमें कौतूहल और उत्सुकता आ जाती है। ये दोनों आख्यायिका के प्राण-रक्षक हैं। उदाहरण के लिए, कोई लेखक किसी युद्ध-घटना का वर्णन कर रहा है। वर्णन करते-करते वह

लिखता है—"इसी समय गोली चली।" यह वात पाठक के मस्तिष्क में कौतूहल का संचार करती है। वह जानना चाहता है कि गोली किसने चलाई, क्यों चलाई, उससे किसी की मृत्यु हुई या नहीं इत्यादि। यदि लेखक इन प्रश्नों का उत्तर अंत तक न दे तो पाठक की जिज्ञासा अंत तक बनी रहती है। पाठक आख्यायिका को अन्त तक पढ़ता हुआ चला जाता है। इस प्रकार के संकेत उसको कहानी की चरम सीमा (climax) पर पहुँचा देते हैं। यह वह स्थान है जहाँ पाठक की उत्सुकता की हद हो जाती है। इस स्थान पर पहुँचने के लिए कहानी की गति में तीव्रता बढ़ती ही जानी चाहिए और जब कहानी वहाँ पहुँच जाय तो पाठक के सामने कहानी का सारा रहस्य खुल जाय।

कहानी को कुछ लोग चरम सीमा पर पहुँचा कर उसका अन्त कर देते हैं। यह आवश्यक तो नहीं है कि सर्वदा चरम सीमा पर ही कहानी समाप्त की जाय, पर इस प्रकार की समाप्ति हृदय पर विशेष प्रभाव डालती है अतः यह अच्छी समझी जाती है। कभी कभी चरम सीमा पर पहुँचकर कहानी का अन्त हो जाने पर भी कुछ वातें उपसंहार रूप में लिखने की आवश्यकता होती है। कहानी कई प्रकार से समाप्त की जाती है। कोई लेखक कहानी के अन्तिम भाग की कुछ बातों को पाठक के विचारने के लिए छोड़ कर वस्तु का अधूरे ढग से अन्त कर देते हैं। बंगाल के सुप्रसिद्ध उपन्यास-लेखक शरतबाबू की रचनाओं में यही विशेषता पाई जाती है। कोई लेखक प्रत्येक प्रसंग का अंतिम परिणाम

दिखाकर ही समाप्ति करते हैं। प्रेमचंदजी की कहानियों में यह विशेषता देखने को मिलती है। कुछ लोग कहानी का अन्त आकस्मिक तौर पर करते हैं। पाठक कुछ परिणाम सोच रहा है, लेखक कुछ और ही दृश्य उपस्थित कर देता है। पाठक किसी कहानी के अन्त में नायिका के विरह में नायक की मृत्यु हो जाना अवश्यम्भावी समझ रहा है, परन्तु लेखक नायक-नायिका का संयोग करा के उसको आश्चर्यान्वित कर देता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार का अन्त सबसे सुन्दर होता है। पाठक के हृदय में एक प्रकार की गुदगुदी-सी मालूम होने लगती है। शरतबाबू की रचनाओं में यह विशेषता प्रचुर मात्रा में मिलती है। प्रेमचन्दजी की 'धोखा' शीर्षक कहानी का अन्त इसी प्रकार का है। इस प्रकार की समाप्ति में इस बात को नहीं भूल जाना चाहिए कि कहीं आकस्मिकता असम्भावना का स्थान ग्रहण न कर ले।

आख्यायिका का वस्तु-प्रतिपादन हृदय की चुटकी लेने वाला हो। एक अङ्गरेज लेखक का कथन है—"The stories that touch the heart are most popular" अर्थात् हृदय को स्पर्श करने वाली कहानियाँ बहुत अधिक पसंद की जाती हैं। जो कहानी मस्तिष्क की चुटकी लेती है उसका आदर नहीं होता, क्योंकि वह मनोरंजन नहीं कर पाती। हाँ, कभी कभी दिमागी कसरत से पैदा की गई चीजें विनोद, विदग्धता आदि रूप में चित्त प्रसन्न कर सकती हैं, परन्तु जिनका सम्बन्ध हृदय से होता है वे चीजें हृदय की कली-कली खिला देती हैं।

इन दोनों प्रकार के मनोरंजन में भेद है। पहला वाणी के वैचित्र्य से, उक्ति के अनूठेपन से, विनोद का रूप ग्रहण करता है, दूसरा भाव के सहारे रसोद्रेक करता हुआ लोकोत्तर आनन्द में निमग्न करता है। हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि भाव या रस की दृष्टि से आख्यायिका का गद्य-क्षेत्र में वही स्थान है जो गीत-काव्य (lyric) का काव्य-क्षेत्र में।

महत्व की दृष्टि से आख्यायिका में वस्तु के पश्चात् पात्रों का स्थान है जैसा कि एक अङ्गरेज समीक्षक का कथन है—"In good stories plot comes first and character second." प्रत्येक कहानी में कुछ-न-कुछ पात्र रहते ही हैं। घटनाओं और पात्रों का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। पात्रों के चरित्र के आधार पर घटनाओं की उत्पत्ति एवं विकास होता है। अतएव चरित्र-चित्रण सफल कहानी का एक आवश्यक अंग है। परन्तु यह जान लेना आवश्यक है कि कहानी के संकुचित क्षेत्र में चरित्र का समुचित विकास नहीं दिखलाया जा सकता। लेखक घटनाओं से सम्बन्धित पात्रों की विशेषताओं का आभास मात्र देता हुआ आगे बढ़ता है। उसका प्रधान विषय वस्तु-रचना होता है। उसी में वह अपना कौशल दिखाने का प्रयास करता है।

आख्यायिका में कथोपकथन भी सौन्दर्य की वृद्धि करता है। पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने और वस्तु के विकास में सहायता प्रदान करने के लिए आख्यायिका में इसका उपयोग होता है। इसकी रोचकता, सजीवता

और अकृत्रिमता से कहानी अधिक सुन्दर हो जाती है।

सफल आख्यायिका में कुछ प्राकृतिक दृश्यों की भी उद्भावना की जाती है। जैसे—प्रातःकालीन छटा, उपवन, नदी-तट, चाँदनी रात्रि, वसन्त आदि। ये दृश्य घटना अथवा चरित्र-चित्रण के लिए वातावरण (back-ground) का कार्य देते हैं। ऐसे वातावरण में किसी घटना का सूत्रपात करना अथवा पात्र का चित्र अंकित करना कहानी को अधिक आकर्षक बनाता है। उदाहरण के लिए, सूखी खेती को हरी-भरी करते हुए मेघ, ग्रीष्मातप को शांत करते हुए शीतल और सुगंधित पवन, शरद ऋतु में ठंड को दूर करते हुए सूर्य, इन दृश्यों के साथ यदि किसी पात्र द्वारा एक दीन-हीन असहाय दुखिया का उपकार दिखाया जाय तो वह पाठक के हृदय को अधिक प्रभावित करेगा।

यद्यपि आख्यायिका का लक्ष्य मनोरंजन है तथापि वह गौण रूप से छिपे हुए तौर पर कुछ शिक्षा भी देती है। साहित्य और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्य के प्रत्येक अङ्ग में, चाहे वह उपन्यास हो चाहे आख्यायिका, चाहे वह कविता हो चाहे नाटक, जीवन के किसी-न-किसी अङ्ग पर प्रकाश डाला जाता है। तब यह कब संभव है कि साहित्यकार जीवन के जिस अङ्ग का विवेचन करे उसके विषय में अपनी आलोचना न दे? कुछ लोगों को ऐसा करना भले ही अखरे, पर यह स्वाभाविक है, साहित्यकार इस विषय में विवश है।

आजकल प्रायः दो प्रकार की आख्यायिकाएँ देखने को मिलती हैं—(१) घटनात्मक और (२) भावात्मक। घटनात्मक आख्यायिका में घटनाओं की प्रधानता रहती है, मानव-हृदय के विश्लेषण का बहुत कम स्थान रहता है। इस प्रकार की कहानियों में स्वर्गीय गुलेरीजी की कहानी 'उसने कहा था' और स्वर्गीय प्रेमचन्दजी की कहानियाँ रक्खी जा सकती हैं। दूसरी तरह की आख्यायिकाओं में भावों की प्रधानता रहती है, घटनाएँ भावों में दबी रहती हैं। स्वर्गीय प्रसादजी की 'आकाश-दीप' शीर्षक कहानी इसी कोटि की है। घटनात्मक और भावात्मक दोनों ही प्रकार की कहानियाँ अच्छी होती हैं। यह अवश्य है कि पहली प्रकार की कहानी-रचना दूसरी प्रकार की कहानी-रचना से अपेक्षाकृत कुछ सरल होती है।

आख्यायिका-लेखन में लेखक कई प्रकार की प्रणालियों का प्रयोग करते हैं। कोई लेखक दर्शक की भाँति कहानी लिखता है, कोई स्वयं कहानी के नायक का स्थान ग्रहण कर लेता है, कोई पत्रों द्वारा वस्तु-रचना करता है, कोई कथोपकथन द्वारा कहानी का स्वरूप उपस्थित करता है और कोई अपने किसी पात्र की डायरी के उद्धरणों से वस्तु-सामग्री जुटाता है। पहली को ऐतिहासिक प्रणाली, दूसरी को आत्म-चरित्र प्रणाली, तीसरी को पात्र-प्रणाली, चौथी को कथोपकथन-प्रणाली और पाँचवी को डायरी-प्रणाली कहते हैं। सबसे अधिक पहले और दूसरे प्रकार की कहानियों का प्रचार है।

आख्यायिका का भविष्य बड़ा उज्ज्वल है। दिन प्रतिदिन इस क्षेत्र में उन्नति होती जा रही है। आजकल मनुष्य का कार्य-क्षेत्र जटिल होने के कारण उसे गद्य के विस्तृत अंगों, नाटक और उपन्यास, का अध्ययन करने का अवकाश नहीं रह गया है। ऐसी दशा में आख्यायिका ही उसका मनोरंजन करती है और समाज के विकृत रूप को उसके सम्मुख रखकर उसमें सुधार की रूप-रेखा का विधान करती है।

भारत को राष्ट्रभाषा की आवश्यकता और उसका रूप

(१) प्रस्तावना—भारत को राष्ट्रभाषा की आवश्यकता
(२) राष्ट्र-भाषा का लक्षण
(३) राष्ट्र-भाषा की विशेषताएँ—
 (क) बोलनेवालों की संख्या का आधिक्य
 (ख) सरलता
 (ग) प्राचीनता का गौरव
 (घ) देश की सभ्यता और संस्कृति से सम्बन्ध
 (ङ) लिपि की सरलता और वैज्ञानिकता
(४) हिन्दी भाषा में इन विशेषताओं का अस्तित्व
(५) साम्प्रदायिकता के कारण हिन्दी के राष्ट्र-भाषा होने में कठिनाइयाँ
(६) उपसंहार—राष्ट्र के कल्याण के लिए साम्प्रदायिकता के त्याग की आवश्यकता

भारतवर्ष सरीखे वृहत् देश में राष्ट्रभाषा का अभाव अत्यन्त शोचनीय और हानिकर है। कहने की

आवश्यकता नहीं कि देश के निवासी इस अभाव का दुरनुभव करते हुए भी उसकी पूर्ति करने के प्रयत्न नहीं करते। देश में एक राष्ट्रभाषा के न होने के कारण हमें न जाने कितनी हानियाँ हुई हैं। आजकल भिन्न-भिन्न भाषाएँ प्रचलित हैं। इससे प्रान्तों के पारस्परिक संसर्ग में बहुत अधिक बाधा होती है। एक प्रान्त का निवासी दूसरे प्रान्त के साथ विचार-विनिमय नहीं कर सकता। केवल विचार-विनिमय में ही बाधा नहीं पड़ती, वरन् एक प्रान्त दूसरे-प्रान्त की कार्यवाहियों से भी अनभिज्ञ रहता है। निस्सन्देह कतिपय अँगरेजी भाषा-भाषी दूसरे प्रान्तों के संसर्ग में रहते हैं और वहाँ के निवासियों से अनभिज्ञ रहते हैं, परन्तु अधिकांश निवासियों की अनभिज्ञता का दुष्परिणाम यह होता है कि एक प्रान्त के निवासियों के हृदय में दूसरे प्रान्त के निवासियों के प्रति कोई सहानुभूति नहीं रह जाती और उनका पारस्परिक व्यवहार विदेशियों का सा होता है। खेद का विषय है कि विभिन्न प्रान्तों को सम्बन्ध-सूत्र में पिरोनेवाली एक राष्ट्रभाषा के अभाव ने हमारे देश में पारस्परिक संसर्ग एवं सम्बन्ध पर कुठाराघात किया है। इससे हमारे लिए राष्ट्र-निर्माण कठिन ही नहीं वरन् असम्भव-सा हो गया है। अस्तु, अब हमको एक राष्ट्रभाषा बनाकर देश के भिन्न-भिन्न प्रान्तों को राष्ट्रीयता के दृढ़ बन्धन से जकड़ देना चाहिए जिससे भारतवर्ष भी अन्य देशों के समान अपनी उन्नति का मार्ग प्रशस्त करे। हमें भली-भाँति ज्ञात है कि भाषा ऐक्य, विचार-ऐक्य, उद्देश्य-ऐक्य और कर्तव्य-ऐक्य भारतवर्ष को नया जीवन प्रदान करने के लिए नितान्त आवश्यक है।

राष्ट्रभाषा किसे कहते हैं ? राष्ट्रभाषा से अभिप्राय किसी देश की उस भाषा से है जो उस सम्पूर्ण देश से सम्बन्धित कार्यवाहियों तथा अन्तर्प्रान्तीय विचार-विनिमय का माध्यम हो और जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों का साहित्य सुरक्षित रहे। राष्ट्रभाषा से अभिप्राय देश की प्रान्तीय भाषाओं का बहिष्कार करके उनके स्थान पर केवल एक सामान्य भाषा की स्थापना करना नहीं है। राष्ट्रभाषा प्रान्तीय भाषाओं का स्थान कभी नहीं ग्रहण कर सकती। दोनों के क्षेत्र पृथक् पृथक् हैं। राष्ट्रभाषा का सम्बन्ध सम्पूर्ण देश से है। प्रान्तीय भाषा का सम्बन्ध एक प्रान्त से ही है। प्रत्येक प्रान्त में वहीं के निवासियों की मातृ-भाषा (प्रान्तीय भाषा वहाँ की शिक्षा और सामाजिक तथा राजनैतिक कार्यों का माध्यम रहेगी।

अब प्रश्न उठता है कि कौन सी भाषा भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा हो ? सबसे पहली विशेषता राष्ट्रभाषा में यह होनी चाहिए कि उसके बोलनेवालों की संख्या अधिक हो, वह अधिक जन-समाज की भाषा हो। हम देखते हैं कि हिन्दी ही हमारे देश में एक ऐसी भाषा है जिसका विस्तार किसी एक प्रान्त अथवा स्थान की सीमा के भीतर बद्ध नहीं है। समस्त भारतवर्ष में एक कोने से दूसरे कोने तक इसका थोड़ा बहुत आधिपत्य जमा हुआ है और इसके द्वारा एक प्रान्त के निवासी दूसरे प्रान्त के निवासियों से अपने भावों और विचारों को किसी न किसी प्रकार प्रकट कर लेते हैं। कारण यह है कि बंगला, मराठी, गुजराती आदि प्रान्तीय आर्य-भाषाएं हिन्दी से बहुत समानता रखती हैं। ये सभी संस्कृत से

सम्बन्धित हैं और शब्द-भंडार के लिए संस्कृत की ओर झुकती हैं। हिन्दी भी संस्कृत से सम्बन्धित है और संस्कृत के शब्द-भंडार से अपने शब्द-भंडार को सुसज्जित करती है। अतः स्पष्ट है कि विस्तार की दृष्टि से हिन्दी राष्ट्रभाषा होनी चाहिए।

राष्ट्रभाषा के लिए सरलता भी एक आवश्यक गुण है जिससे जो लोग उसे नहीं जानते उन्हें उसके ज्ञान प्राप्त करने में कठिनाई का सामना न करना पड़े। हिन्दी में यह गुण अधिक मात्रा में विद्यमान है। जैसा कि अभी कहा जा चुका है भारतीय आर्य भाषाएँ सभी संस्कृत से सम्बन्धित हैं। यही कारण है कि मराठी, बँगला आदि के जाननेवाले हिन्दी सुगमता से सीख जाते हैं। किसी भी मनुष्य के लिए हिन्दी का साधारण ज्ञान प्राप्त करना कोई कठिन कार्य नहीं। थोड़े-से समय में ही मनुष्य हिन्दी में विचार-विनिमय करना सीख सकता है। यह देखा गया है कि जो विदेशी थोड़े समय के लिए भी हिन्दी-भाषा-भाषी लोगों के सम्पर्क में आते हैं वे विचार व्यक्त करने योग्य टूटी-फूटी हिन्दी सीख ही लेते हैं। इसी से हिन्दी की सरलता का अनुमान किया जा सकता है। हिन्दी की लिपि का वैज्ञानिक होना हिन्दी की सरलता का प्रधान कारण है।

राष्ट्रभाषा के लिए प्राचीनता का गौरव भी वांछनीय है। जिस प्रकार किसी जाति की उन्नति के लिए उसका प्राचीन इतिहास आवश्यक है उसी प्रकार भाषा का प्राचीन

साहित्य उसको शक्ति प्रदान करने के लिए आवश्यक है। जब कोई भाषा पर्याप्त समय तक साहित्य द्वारा मँज जाती है तभी वह राष्ट्रभाषा के योग्य होती है। हिन्दी को प्राचीनता का गौरव प्राप्त है, हिन्दी का जन्म विक्रम की ११ वीं शताब्दी में ही हो गया था। आज उसे समाज की सेवा करते हुए नौ शताब्दियों से भी अधिक समय व्यतीत हो गया है। इस लम्बे समय में वह खूब मँजी है और उसमें विभिन्न शैलियों का विकास हुआ है।

राष्ट्रभाषा के आसन पर वही भाषा आसीन की जानी चाहिए जिसका सम्बन्ध देश की संस्कृति और सभ्यता से रहा हो। इस दृष्टि से भी हिन्दी ही राष्ट्रभाषा के उपयुक्त ठहरती है। हिन्दी-साहित्य में भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता भरी पड़ी है। संस्कृत के प्रायः सभी प्रधान ग्रन्थों का अनुवाद हिन्दी में हो चुका है। वेद, महाभारत, वाल्मीकि-रामायण, श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थ जिनमें भारतीय सभ्यता सुरक्षित है हिन्दी में अनुवादित हो गए हैं। अनेक मौलिक ग्रन्थ भी हिन्दी में ऐसे रचे गए हैं, जो भारतीय संस्कृति के निर्देशक हैं, जो हमारे प्राचीन समाज का, धर्म का, राजनीति का, स्वरूप हमारे नेत्रों के सम्मुख उपस्थित करते हैं। 'पृथ्वीराजरासो' को ही ले लीजिए। उसके अध्ययन से ज्ञात होता है कि हमारे यहाँ शरणागत-रक्षा को विशेष महत्व दिया जाता था। पृथ्वीराज को उसकी शरण में आई हुए एक स्त्री की रक्षा करने के कारण ही मुहम्मद गोरी से लोहा लेना पड़ा था। 'रामचरितमानस' तो

हिन्दू-सभ्यता का अक्षय भंडार है। गार्हस्थ्य जीवन, समाज धर्म, राजनीति आदि अनेक विषयों को गोस्वामीजी ने भारतीयता के रंग में रँग कर सर्वसाधारण के सम्मुख उपस्थित किया है। भाई-भाई का, माता-पिता और संतान का, पति-पत्नी का, राजा-प्रजा का, स्वामी-सेवक का, सम्बन्ध 'रामचरितमानस' में अनूठे ढंग से प्रदर्शित हुआ है। समाज में चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) की योजना करके उसकी समुचित व्यवस्था की गई है। राजनीति-तंत्र में एकतंत्र और प्रजातंत्र शासन-प्रणालियों का सम्मिश्रण करके गंगा-यमुना का संगम कराया गया है। धर्म का अधिकार मनुष्य के सभी कार्यों पर रक्खा गया है। क्षण भर के लिए भी मनुष्य उसके घेरे से, नियंत्रण से, अलग नहीं हो सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी में हमारी सभ्यता का भंडार सुरक्षित है।

हिन्दी की देवनागरी लिपि एक वैज्ञानिक लिपि है। यह अनेक गुणों से परिपूर्ण है, यह बात किसी से छिपी नहीं। यह लिपि सरल, सुबोध और दोषमुक्त है। इस लिपि में एक भी अनावश्यक वर्ण नहीं मिलता। ध्वनि (Phonetics) की दृष्टि से भी यह भरी-पूरी है। भारतवर्ष के कुछ व्यक्तियों का विचार है कि रोमन लिपि को राष्ट्र-लिपि का स्थान दिया जाय। रोमन लिपि देवनागरी की समता भी नहीं कर सकती, उससे अच्छी तो क्या हो सकती है। ध्वनि की दृष्टि से वह अत्यन्त दोषपूर्ण है। अँगरेजी, फ्रेंच आदि भाषाओं में शब्दों के हिज्जों और उच्चारणों को रटना पड़ता है। एक सी ध्वनि का बोध कराने को भिन्न भिन्न मात्राएँ प्रयुक्त होती हैं।

उदाहरण स्वरूप 'Net' और 'Rat' शब्दों की ध्वनि तो एक ही है पर उसी को प्रकट करने लिए दो विभिन्न मात्राओं 'e' और 'a' का प्रयोग हुआ है। फारसी लिपि भी दोषपूर्ण है। कभी-कभी कुछ का कुछ पढ़ लेना हास्यास्पद है। जैसे سونا 'सोना) 'सूना' पढ़ लिया जाता है। कतिपय शब्दों के हिज्जे भी ऑगरेजी के समान रटने पड़ते हैं। जैसे 'तोता' लिखना है। नहीं मालूम 'ت' 'ते' का प्रयोग करें या 'ط' 'तोय' का। इस प्रकार के दोष हिन्दी-लिपि देवनागरी में नहीं। यहाँ तो प्रत्येक ध्वनि के लिए एक अक्षर नियत है। हाँ विदेशियों के संसर्ग के कारण कुछ नवीन ध्वनियों के प्रकट करने की आश्वकता हो रही है। पहले वे ध्वनियाँ हमारे देश में थीं ही नहीं, अतः देवनागरी में उनको व्यक्त करने के लिए अक्षर नहीं पाए जाते हैं। अब आवश्यकतानुसार इसमें परिवर्तन किये जा रहे हैं—जैसे अँगरेजी के 'College' (कॉलेज) शब्द की 'o' ध्वनि को प्रकट करने के लिए 'ॉ' चिन्ह की उद्भावना हुई है। वास्तव में देवनागरी के समान श्रेष्ठ लिपि दूसरी नहीं है। अतः राष्ट्र के कल्याण के लिये हम देवनागरी लिपि को ही भारत की राष्ट्रलिपि बना सकते हैं। भारतीय आर्य-भाषाओं की लिपियों का उद्गम एक ही लिपि से हुआ है। यही कारण है कि देवनागरी, बँगला, मराठी, गुजराती, उड़िया, मैथिली आदि लिपियों में बहुत समानता है। इसलिए विभिन्न प्रान्तीय लोगों को देवनागरी सीखना बहुत सरल है।

इतने गुणों के होते हुए भी हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद प्रदान करना कुछ लोगों को खलता है। इतने गुणों के होते हुए भी हिन्दी के साथ घोर अन्याय हो रहा है।

उसको अपने उचित अधिकार से वंचित किया जा रहा है। क्यों? कारण साम्प्रदायिकता है। कहना नहीं होगा कि साम्प्रदायिकता ने ही आज तक भारतवर्ष को एक राष्ट्र नहीं बनने दिया है, और वही अब हिन्दी को राष्ट्रभाषा नहीं बनने दे रही है। मुसलमानों ने विषम समस्या उपस्थित कर दी है। वे कहते हैं कि हिन्दी की अपेक्षा उर्दू राष्ट्रभाषा बनने की अधिक क्षमता रखती है। वस्तुतः यह कथन नितान्त भ्रम-पूर्ण है। न तो उर्दू का विस्तार ही अधिक है, न वह उतनी सरल ही है, न उसका सम्बन्ध भारत की प्राचीन संस्कृति और सभ्यता से रहा है, न उसे प्राचीनता का गौरव प्राप्त है और न उसकी लिपि ही देवनागरी के समान वैज्ञानिक है। ऐसी दशा में समझ में नहीं आता किस प्रकार उर्दू को राष्ट्रभाषा का पद प्रदान किया जाय।

कुछ लोगों की धारणा है कि मुसलमानों के विरोध को दूर करने के लिए हमें हिन्दी के स्थान पर हिन्दी-उर्दू-मिश्रित भाषा को राष्ट्र-भाषा का पद प्रदान करना चाहिए और उसे हिन्दुस्तानी नाम से सम्बोधित करना चाहिए। पर क्या इससे राष्ट्र-भाषा की समस्या हल हो जायगी? थोड़ी देर के लिए हम हिन्दुस्तानी को राष्ट्र-भाषा के लिए आवश्यक गुणों की कसौटी पर नहीं भी कसें, फिर भी उसे राष्ट्र-भाषा बनाने में दो प्रधान कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। पहली कठिनाई व्याकरण-सम्बन्धी है। हिन्दुस्तानी का अपना कोई व्याकरण नहीं है। जब उसका कोई रूप ही निर्धारित नहीं हुआ है तब व्याकरण कहाँ से आए? हिन्दी-उर्दू

के शब्दों से हिन्दुस्तानी का शब्द-भण्डार तो बन सकता है, पर इन भाषाओं से उसका व्याकरण नहीं गढ़ा जा सकता क्योंकि दोनों के व्याकरणों में पर्याप्त अन्तर है। उदाहरणतः 'खत' शब्द का बहुवचन हिन्दी व्याकरणानुसार खतों होगा और उर्दू व्याकरणानुसार 'खतूत'। दूसरी कठिनाई लिपि सम्बन्धी है। हिन्दुस्तानी की अपनी कोई लिपि नहीं है। देवनागरी और फारसी लिपियों के सम्मिश्रण से कोई सामान्य लिपि भी तो इसके लिए नहीं बनाई जा सकती। बड़े आश्चर्य की बात है कि जिस भाषा का न कोई रूप है, न कोई व्याकरण है, न कोई लिपि है उसे राष्ट्र-भाषा बनाने का आयोजन किया जा रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार का प्रयत्न बालू से तेल निकालने के समान ही निष्फल होगा।

अतः स्पष्ट है कि न तो उर्दू में राष्ट्र-भाषा होने की क्षमता है और न हिन्दुस्तानी में। भारतवर्ष की समस्त भाषाओं में हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है जो राष्ट्र-भाषा के उच्चपद की पूर्ण अधिकारिणी है। राष्ट्र-निर्माण के लिए हमें साम्प्रदायिकता का संकुचित एवं क्षुद्र विचार छोड़कर राष्ट्र के कल्याण का ध्यान रखना होगा और हिन्दी राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन करनी होगी।

'सूर-सूर तुलसी ससी उडुगन केशवदास'

(१) प्रस्तावना—उक्ति का अर्थ
(२) सूर और तुलसी की तुलना—
(क) सूर का कृष्ण-भक्त और तुलसी का राम-भक्त होना
(ख) दोनों की उपासना में भेद
(ग) सूर का मानव-जीवन के आत्मपक्ष को और तुलसी का आत्मपक्ष और लोक पक्ष दोनों को अपनाना
(घ) सूर की मुक्तक रचना और तुलसी की मुक्तक और प्रबन्धात्मक दोनों प्रकार की रचनाएँ
(ङ) सूर का गीत-पद्धति पर और तुलसी का प्रचलित समस्त काव्य-पद्धतियों पर रचना करना
(च) सूर का व्रज-भाषा में और तुलसी का व्रज और अवधी दोनों में कविता करना
(छ) सूर का वात्सल्य तथा शृङ्गार को और तुलसी का सभी रसों को अपनाना
(ज) सूर की अपेक्षा तुलसी को बाह्य दृश्य-चित्रण में अधिक सफलता मिलना
(झ) तुलसी की अपेक्षा सूर की उक्तियों का अधिक अनूठा होना

(३) केशव में सूर और तुलसी के समान मार्मिकता का अभाव
(४) केशव में प्रकृति-निरीक्षण का अभाव
(५) चरित्र-चित्रण में केशव की असफलता
(६) भाषा, कथोपकथन, कल्पनाशक्ति और छन्द-ज्ञान की दृष्टि से केशव का महत्व
(७) उपसंहार—सारांश

इस उक्ति के अनुसार हिन्दी-साहित्याकाश के सूरदासजी सूर्य, तुलसीदासजी चन्द्रमा और केशवदासजी तारे हैं। इसमें तीनों का आपेक्षिक महत्व बतलाया गया है। पर क्या यह उक्ति ठीक है?

पहले तुलसी और सूर को लीजिए। तुलसीदासजी राम-भक्त कवि थे और सूरदासजी कृष्ण-भक्त कवि। तुलसीदासजी ने राम-भक्ति काव्य की सृष्टि की और सूरदासजी ने कृष्ण-भक्ति काव्य की। तुलसीदासजी की उपासना दास्य भाव की थी और सूरदासजी की सख्य भाव की। तुलसीदासजी द्वारा निर्मित साहित्य मनुष्य-जीवन के आत्मपक्ष और लोकपक्ष दोनों अंगों को लेकर चला है। उन्होंने अपने उपास्य देव राम में जहाँ सौन्दर्य और सदाचार का चरम उत्कर्ष दिखलाया है वहाँ उनमें लोक की रक्षा करनेवाली असीम शक्ति भी बतलाई है। उनके राम दुष्ट-दलनकारी समाज-व्यवस्थापक राम हैं। सूरदासजी का साहित्य मानव-जीवन के आत्मपक्ष को ही लेकर आगे बढ़ा है। उन्होंने अपनी भक्ति के आलम्बन कृष्ण के व्यक्तिगत जीवन को ही लिया है, समाज से सम्बन्धित उनके रूप की प्रतिष्ठा नहीं की है। व्यक्तिगत जीवन में भी कृष्ण के सौन्दर्य ने उनको जितना अधिक आकर्षित किया है उतना शील ने नहीं। भगवान् की शक्ति, शील और सौन्दर्य इन तीन विभूतियों में से सौन्दर्य ने ही सूर की आत्मा को अपनी ओर खींचा है। सूर के कृष्ण हँसते-खेलते प्रेमोन्मत्त गोपिकाओं से घिरे हुए कृष्ण हैं, समाज की रक्षा करने वाले कृष्ण नहीं। यद्यपि कृष्ण के चरित्र में लोकपक्ष का अभाव

नहीं है, यद्यपि इन्होंने गोकुल में रहते हुए राक्षसों का वध करके और आगे चलकर मथुरा में अत्याचारी कंस को मारकर अपने लोक-रक्षक रूप को भी जनता के सम्मुख प्रतिष्ठित किया तथापि सूर की वृत्ति कृष्ण के इस रूप में लीन नहीं हुई। सूर तो अपने रंग में मस्त रहनेवाले भक्त-कवि थे। समाज की क्या दशा है, वह किधर जा रहा है उसकी चिन्ता उनको न थी। इसकी चिन्ता थी तुलसी को जिन्होंने राम के शील-शक्ति-सौन्दर्य-समन्वित चरित्र को जनता में प्रतिष्ठित किया और अपने राम को लोक की रक्षा करनेवाला बतलाया। 'रामचरितमानस' में शिवजी के मुख से वे एक स्थान पर कहलाते हैं—

जब जब होय धरम कै हानी,
बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी,
सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी।
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा,
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

वास्तव में यदि संसार में दुष्टों को, अत्याचारियों को, दूर करने वाला पैदा न हो तो संसार स्थित ही नहीं रह सकता।

उपासना-भेद के अतिरिक्त तुलसी और सूर में अन्य कई बातों में भी अन्तर पाया जाता है। सूर ने काव्य मुक्तक-क्षेत्र में ही अपनी दिव्य वाणी का संचार किया है। उनका 'सूरसागर' मुक्तक-काव्य माना जाता है, प्रबन्ध-

काव्य नहीं। तुलसी ने काव्य के प्रबन्ध और मुक्तक दोनों क्षेत्रों में अपनी कविता-सुरसरी को प्रवाहित किया है। उन्होंने 'रामचरितमानस' नामक प्रबन्ध काव्य की रचना की है जिसकी विदेशी विद्वानों ने भी मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की है। मुक्तक-क्षेत्र में उनकी गीतावली, विनयपत्रिका, दोहावली कृष्णगीतावली आदि रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। प्रबन्ध और मुक्तक-काव्य के दोनों क्षेत्रों पर समान अधिकार रखने वाला यदि कोई कवि हुआ तो तुलसी। यह विशेषता तुलसी की प्रतिभा के विस्तार की परिचायिका है।

सूरदासजी ने अपनी कविता गीत-पद्धति पर की है। जयदेव और विद्यापति ने जिस शैली को अपनाकर कृष्ण के गुण गाए उसी को लेकर सूरदासजी भी आगे बढ़े हैं। उनके समय में अन्य शैलियाँ भी प्रचलित थीं पर उन्होंने अपने को गीत-शैली तक ही सीमित रक्खा, अन्य शैलियों में कोई भी रचना नहीं की। तुलसीदासजी ने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा से काव्य की जितनी भी शैलियाँ प्रचलित थीं सभी में कुछ-न-कुछ रचनाएँ कीं। उनके समय में (१) वीरगाथा-काल की छप्पय-पद्धति, (२) कबीर की दोहा-पद्धति, (३) जायसी की दोहा चौपाई पद्धति, (४) विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति और (५) गंग आदि भाटों की कवित्त-सवैया-पद्धति प्रचलित थी। पहली पद्धति पर हमें उनकी 'कवितावली' के कुछ छप्पय, दूसरी पद्धति पर दोहावली', तीसरी पद्धति पर 'रामचरितमानस', चौथी पद्धति पर 'गीतावली', 'कृष्णगीतावली' और विनय-पत्रिका', और पाँचवीं पद्धति पर 'कवितावली'

उपलब्ध हैं। विविध शैलियों में उच्चकोटि की रचना करने में उन्होंने कमाल किया है। कुछ नमूने देखिए—

डिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पब्ब समुद्र सर।
ब्याल बधिर तेहि काल, बिकल दिगपाल चराचर॥
दिग्गयंद लरखरत, परत दसकंठ मुक्खभर।
सुर बिमान हिमभानु भानु संघटित परस्पर॥
चौंके बिरंचि संकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यौ।
ब्रह्मांड खंड कियो चंड धुनि जबहिं राम सिव धनु दल्यौ॥

(छप्पय-पद्धति)

बनिता बनी स्यामल गौर के बीच, बिलोकहु री सखी! मोहिं सी ह्वै।
मग जोग न कोमल क्यों चलि हैं? सकुचात मही पदपंकज छ्वै॥
तुलसी सुनि ग्राम बधू बिथकीं, पुलकीं तन औ चले लोचन च्वै।
सब भाँति मनोहर मोहन रूप अनूप हैं भूप के बालक द्वै॥

(कवित्त-सवैया-पद्धति)

अब लौं नसानी अब न नसैहौं।
रामकृपा भवनिसा सिरानी जागे फिर न डसैहौं॥
पायो नाम चारु चिंतामनि, उर-कर तें न खसैहौं।
स्याम रूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहि कसैहौं।
परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं।
मन-मधुकर पन करि तुलसी रघुपति-पद कमल बसैहौं॥

(गीत-पद्धति)

सूर ने अपनी कविता को ब्रज-भाषा में रचा है। यद्यपि उनके समय अवधी भी काव्य-भाषा थी तथापि उन्होंने उसको नहीं ग्रहण किया। भाषा पर जैसा विस्तृत अधिकार गोस्वामी तुलसीदास का देखा जाता है वैसा सूर का नहीं। ब्रज-भाषा और अवधी दोनों पर समान

एवं पूर्ण अधिकार उनका था, यह बात उनके काव्य-ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होती है। 'रामचरितमानस' साहित्यिक अवधी में है। 'गीतावली', 'कवितावली', 'कृष्ण, गीतावली', और 'विनयपत्रिका', की भाषा ब्रज-भाषा है। 'रामलला नहछू', 'बरवैरामायण', 'जानकी मंगल', और 'पार्वतीमंगल' सभी की भाषा बोलचाल की पूरबी अवधी है। इसके अतिरिक्त सूर की भाषा कई स्थानों पर शिथिल भी पड़ गई है। वाक्य-दोष तथा लिंग-सम्बन्धी त्रुटियाँ भी उसमें कहीं कहीं पाई जाती हैं। पर तुलसी की भाषा सर्वत्र परिष्कृत एवं व्यवस्थित है।

विषय की दृष्टि से भी गोस्वामीजी की अपेक्षा सूरदासजी का क्षेत्र संकुचित है। मनुष्य-जीवन की जितनी अधिक दशाओं का समावेश गोस्वामीजी ने अपनी कविता में किया है उतनी का सूरदासजी ने नहीं। सूरदासजी ने मानव-जीवन की केवल दो ही वृत्तियाँ ली हैं—बालवृत्ति और यौवनवृत्ति। केवल वात्सल्य और शृङ्गार दो ही क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूरदासजी ने अपने बंद नेत्रों से किया है उतना हिन्दी के किसी कवि ने नहीं। वे तो इनका कोना कोना झाँक आए हैं। दूसरों के लिए उन्होंने कुछ छोड़ा ही नहीं है। संयोग एवं वियोग—शृङ्गार के दोनों पक्षों को बहुत विस्तार के साथ उन्होंने अपने काव्य में स्थान दिया है। गोस्वामीजी ने मानव जीवन की छोटी बड़ी प्रायः सभी वृत्तियों की व्यंजना अपने काव्य में की है। इसके लिए उन्हें राम के चरित्र से अच्छा चरित्र और कौनसा मिल सकता था? राम का विस्तृत चरित्र भावों की समष्टि है। उसमें प्रेम, शोक,

भय, उत्साह, हास्य, क्रोध आदि सभी भावों का मसाला मिलता है। जनकपुर की वाटिका में सीता और राम के मिलन पर प्रेम का, रामचन्द्रजी के वन-गमन के अवसर पर शोक का, हनुमानजी के लंका जलाने पर भय का, राक्षसों के वध करने पर उत्साह का, नारद-मोह के अवसर पर हास्य का और परशुराम संवाद के अवसर पर क्रोध का चित्रण हुआ है। 'कवितावली' के लंका कांड में राक्षसों की लाशों के साथ पिशाचिनियों की क्रीड़ा वीभत्स रस की जुगुप्सा का सुन्दर नमूना है। द्रोणाचल को ले जाते हुए हनुमानजी का जो चित्र कवि ने 'कविता-वली' में खींचा है वह अद्भुत रस का उत्कृष्ट उदाहरण है। शान्त रस से तो सारा उत्तर कांड भरा पड़ा है। सूरदासजी के समान बाल-सुलभ भावों एवं चेष्टाओं का चित्रण तुलसीदासजी ने अपनी 'गीतावली' में किया है पर उनको सूरदासजी की सी सफलता नहीं मिली है। इसमें राम-रूप वर्णन की ही प्रधानता है। अतः इसमें सन्देह नहीं कि बाललीला का जैसा सूक्ष्म स्वाभाविक और हृदयग्राही वर्णन सूरदासजी का मिलता है वैसा तुलसी-दासजी का नहीं। सूरदासजी इस दृष्टि से तुलसीदासजी से ऊपर उठे हुए हैं। कहीं-कहीं यह भी देखा जाता है कि सूर की सी तन्मयता तुलसी में नहीं मिलती। देखिए सूर का यह पद कितना मार्मिक है—

अति मलीन वृषभानुकुमारी।
हरि श्रमजल अन्तर तनु भीजे ता लालच न धुआवति सारी॥
अधोमुख रहति उरध नहि चितवति ज्यों गथ हारे थकित जुआरी।
छूटे चिहुरे, बदन कुम्हिलाने, ज्यों नलिनी हिमकर की मारी॥

हरि-सँदेश सुनि सहज मृतक भई, इक विरहिन दूजे अलि जारी।
सूर श्याम बिनु यों जीवति हैं ब्रजवनिता सब श्यामदुलारी॥

मानव-अंतःकरण के अतिरिक्त बाह्य-दृश्यों के चित्रण में भी तुलसीदासजी ने सूरदासजी की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त की है। वैसे तो तुलसी का अधिकतर प्रकृति-चित्रण सूरदासजी के समान अलंकार-सामग्री अथवा उद्दीपन विभाव के रूप में हुआ है पर कहीं-कहीं उन्होंने संश्लिष्ट योजना द्वारा उसका जीता-जागता स्वरूप उपस्थित कर दिया है। यह उसी स्थान पर हुआ है जहाँ उनकी अन्तरात्मा प्रकृति में लीन हो गई। चित्रकूट ऐसा स्थान था। यही कारण है कि चित्रकूट का यह वर्णन कितना सुन्दर बन पड़ा है, देखिए—

सोहत श्याम जलद मृदु घोरत धातु-रँगमगे शृङ्गनि।
मनहुँ आदि अम्भोज बिराजत सेवित सुर-मुनि भृङ्गनि॥
सिखर-परस घन घटहिं मिलति बगपाँति सो छबि कबि बरनी।
आदि बराह विहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी॥

मुद्राओं का चित्र तुलसीदासजी ने बड़ा अच्छा अंकित किया है। देखिए शिकार खेलने के अवसर पर मृग को लक्ष्य करके बाण खींचते हुए राम कैसी मुद्रा में दिखलाए गए हैं—

जटा मुकुट सिर सारस-नयननि गौंहैं तकत सुभौंह सकोरे।

सूरदासजी के काव्य में संश्लिष्ट योजनात्मक चित्रणों का प्राय: अभाव पाया जाता है।

काव्य की रमणीयता बढ़ाने में उक्ति का अनूठापन भी विशेष स्थान रखता है। यदि किसी भाव की व्यंजना के लिये वक्र उक्ति का आश्रय लिया जाय तो काव्य का माधुर्य अधिक बढ़ जाता है। सूर और तुलसी दोनों ही ने इस युक्ति का व्यवहार किया है, पर सूर तुलसी की अपेक्षा इस कार्य में अधिक सफल हुए हैं। सूर ने गोपिकाओं के मुख से किस अनूठे ढंग से कृष्णजी के सगुण रूप का परित्याग असम्भव बतलाया है, देखिये—

उर में माखनचोर गड़े।
अब कैसहुँ निकसत नहिं ऊधो, तिरछे ह्वै जु अड़े।

एक दूसरे स्थान पर इसी प्रकार उद्धव के 'निराकार' शब्द पर गोपिकाओं की वचन-वक्रता का परिचय इस पद में मिलता है। वे राधा से कहती हैं—

मोहन माँग्यो अपनो रूप।
या ब्रज बसत अँचै तुम बैठीं, ता बिनु तहाँ निरूप॥

अब केशव को लीजिए। केशव में सूर अथवा तुलसी के समान मार्मिकता नहीं पाई जाती। उनकी 'रामचन्द्रिका' में राम-कथा के मार्मिक स्थल प्रायः छोड़ दिए गए हैं। जहाँ भावों की व्यंजना हुई भी है वहां कई स्थानों पर अस्वाभाविकता आ गई है। केशव नहीं जानते थे कि कैसी अवस्था में, कैसी परिस्थिति में, मानव-हृदय में, कैसे भाव उदित होते हैं। वे एक राजाश्रयी कवि थे। मानव-जीवन की विविध दशाओं का अनुभव उन्होंने कभी किया ही नहीं था। यही कारण है कि उनके राम वन जाते समय अपनी माता कौशल्या को पातिव्रतधर्म का उपदेश देते हैं।

प्रकृति के चित्रण में तो केशव ने हृदय-हीनता का पूर्ण परिचय दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति में उनकी आत्मा कभी नहीं रमी। यही कारण है कि उन्होंने एक स्थान पर कहा है—

देखे मुख भावें अन देखेही कमल-चन्द।
ताते मुख मुखें सखी कमलौं न चन्द री॥

क्या कोई सहृदय मनुष्य कमल और चन्द्रमा में कुछ भी सौन्दर्य नहीं पाता? उनके प्राकृतिक वर्णनों में देश-काल का भी ध्यान नहीं रक्खा गया है। विश्वामित्र के आश्रम के वृक्षों और पक्षियों की नामावली देते हुए उन्होंने देश-काल का कुछ भी ध्यान नहीं रक्खा है। देखिए—

तरु तालीस तमाल ताल हिताल मनोहर।
मंजुल वंजुल तिलक लकुच कुल नारिकेर वर॥
एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहैं।
सारी शुक कुल कलित चित्त कोकिल अलि मोहैं॥

क्या कोई मनुष्य कह सकता है कि बिहार की ओर जहां विश्वामित्रजी का आश्रम था इलायची, लौंग, सुपारी इत्यादि पैदा होती हैं? सूर अथवा तुलसी ने कहीं भी ऐसा निकृष्ट प्रकृति-वर्णन नहीं किया है।

चरित्र-चित्रण में भी केशव सफल नहीं हुए हैं। सूर को तो मुक्तक-रचना करने के कारण चरित्र-चित्रण के लिए स्थान ही नहीं मिल सका, पर तुलसी ने इस कार्य में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। उनके राम, भरत, लक्ष्मण,

दशरथ, मंथरा कैकेयी, कौशल्या आदि पात्र और पात्रियों के चरित्र-चित्रण जीते-जागते हुए हैं। केशव ने राम जैसे आदर्श पात्र को भी नीचे गिरा दिया है। राम बन जाते समय लक्ष्मण को जो शिक्षा देते हैं उससे ज्ञात होता है कि वे भारत के चरित्र पर सन्देह करते हैं। वे कहते हैं—

धाम रहौ तुम लक्ष्मण राज की सेव करौ।
मातनि के सुनि तात सो दीरघ दुःख हरौ॥
आइ भरत्थ कहा धौं करै जिय भाय गुनौ।
जौ दुख देइँ तो लै उरगौ, यह बात सुनौ॥

परन्तु उपर्युक्त विवरण से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि केशव में अवगुण ही अवगुण थे गुण कोई था ही नहीं। उनके समान भाषा पर अधिकार रखने वाले कवि हिन्दी में थोड़े ही हुए हैं। जिस प्रकार जिस ओर वे भाषा को मोड़ना चाहते थे मोड़ देते थे। उनकी भाषा में प्रवाह है। कथोपकथन तो उनके से उत्कृष्ट किसी भी अन्य हिन्दी कवि के नहीं मिलते। कल्पना शक्ति की प्रचुरता भी उनमें देखी जाती है। अनेक प्रकार के छन्दों का ज्ञान भी उनका अनूठा है।

अन्त में हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि 'सूर सूर तुलसी ससी उडुगन केशवदास' उक्ति ठीक नहीं। सूर को सूर्य न कह कर तुलसी को सूर्य कहना अधिक न्याय-संगत है। जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है तुलसी का पलड़ा सूर के पलड़े से अधिक भारी है।

अतः हम तो यही कहेंगे कि हिन्दी काव्याकाश में तुलसी सूर्य, सूर चन्द्रमा और केशव तारे हैं। 'सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केशवदास' उक्ति के कहने वाले ने यमक की छटा का ही ध्यान रक्खा है, ऐसा प्रतीत होता है। शायद कुछ लोग केशव को उडुगन का स्थान न देकर किसी अन्य कवि को वह स्थान दें। उनकी दृष्टि में केशव से अधिक श्रेष्ठ कोई और कवि हो सकता है। पर हमारी समझ में केशव ही उक्त स्थान के अधिकारी हैं।

कविता और आचार

(१) प्रस्तावना—कलावाद का कविता पर प्रभाव
(२) काव्य और जीवन का सम्बन्ध
(३) जीवन और आचार का सम्बन्ध
(४) काव्य और आचार के सम्बन्ध की आवश्यकता एवं उपयोगिता
(५) कविता का उद्देश्य और उसकी पूर्ति के लिए आचार की शिक्षा देने वाली कविता की आवश्यकता
(६) कविता में प्रतिपादित जीवन-आदर्शों का अस्वाभाविक न होना
(७) आचार का काव्य के आवश्यक अङ्गों को हानि पहुँचाने वाला न होना
(८) उपसंहार—लोकोपयोगी और आत्म-हित करने वाली कविता में आचार के स्वर्ण-संयोग की आवश्यकता

इधर कुछ दिनों से साहित्य-क्षेत्र में 'कलावाद' का बोलबाला है। नवयुवक साहित्यिक इसके अन्धभक्त हो

रहे हैं। जिसे देखिए वह यही कहता हुआ पाया जाता है कि "कला कला ही के लिए" है, "कला का उद्देश्य कला ही" है। इस प्रवाद की भद्दी नकल पाश्चात्य साहित्य, विशेषकर अँगरेजी साहित्य, से हुई है। यूरोप में कला के सिद्धान्त शीघ्र बदलते रहते हैं। डा० ब्रैडले ने इङ्गलैण्ड में कला-सम्बन्धी प्राचीन सिद्धान्तों का अन्त करके अपना नया सिद्धान्त 'Art for art's sake' (कला कला ही के लिए) प्रतिपादित किया। इसके फल-स्वरूप लोग कला और जीवन के क्षेत्रों को पृथक्-पृथक् समझने। वे समझने लगे कि कला और जीवन में कोई सम्बन्ध नहीं है। कला जीवन की समस्याओं का विवेचन नहीं करती। उसमें जीवन के सिद्धान्तों का समावेश नहीं होता। उसमें सदाचार का कोई स्थान नहीं है। यदि किसी कला में जीवन की दशाओं का उद्घाटन हो तो वह सच्ची कला नहीं है। कला किसी साध्य का साधन नहीं है। उसका साध्य वही है। इस प्रकार 'कलावाद' द्वारा काव्य और जीवन के सम्बन्ध-विच्छेद के प्रयत्न हुए हैं। इस प्रकार के विचारों का दुष्परिणाम अन्य कलाओं की भाँति काव्य पर भी पड़ा है। कविगण अनूठी उक्तियों को ही काव्य समझने लगे हैं। उनकी रचनाएँ जीवन और जगत से उदासीन होने लगी हैं। काव्य में जीवन का विश्लेषण न रह कर सूक्तियों की भरमार होने लगी हैं। उसमें जीवन के पहलुओं का विवेचन न होकर कल्पना के साथ खिलवाड़ होने लगी है। यहाँ तक कि प्रबन्ध-काव्य का स्थान मुक्तक ने ले लिया है। अब प्रबन्ध-काव्य के लिए क्षेत्र ही नहीं रह गया है। जीवन से भिन्न सामग्री द्वारा प्रबन्ध-काव्य की रचना

हो ही कैसे सकती है ? वर्त्तमान कालीन कविता में ये प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः दृष्टिगत हो रही हैं । समालोचकों की दृष्टि इस गन्दे काव्य-प्रवाह पर पड़ने लगी है, यह हर्ष का विषय है ।

क्या काव्य जीवन से अलग रह सकता है ? क्या काव्य-कल्पना को पेपर की उड़ान भरकर ही काव्य कहला सकता है ? क्या काव्य उक्ति का अनूठापन मात्र है ? कवि एक जीवधारी व्यक्ति है। उसका जो कुछ अनुभव होता है वह जीवन से ही होकर आता है । उसी अनुभव को वह अपने व्यक्तित्व की छाप के साथ काव्य-रूप में समाज को भेंट कर देता है । काव्य की जगत या जीवन से भिन्न कोई पृथक सत्ता नहीं है । उसके द्वारा जीवन की भिन्न-भिन्न समस्याओं का विवेचन और दशाओं का उद्घाटन किया जाता है। वास्तव में काव्य कवि के जीवन का चित्र है जिसमें जीवन-सम्बन्धी बातों पर विचार प्रकट किया जाता है । हाँ, इतना अवश्य है कि सामान्य जीवन में कवि के व्यक्तिगत जीवन का लय हो जाता है ।

जीवन का विवेचन करता हुआ, उसका विश्लेषण करता हुआ, कवि जीवन के भीतरी सिद्धान्तों की व्याख्या से अपने को पृथक् नहीं रख सकता । किसी-न-किसी प्रकार की जीवन से सम्बन्धित शिक्षा वह देता ही है । जहाँ जीवन का विवेचन रहेगा वहाँ किसी-न-किसी प्रकार के नैतिक सिद्धान्त रहेंगे ही । नीति को जीवन से अलग नहीं किया जा सकता । अतः नीति को काव्य से भी

अलग नहीं किया जा सकता। देखिये मैथ्यू आर्नल्ड नामक एक सुप्रसिद्ध अँगरेज समालोचक क्या कहता है:—

Poetry is at bottom a criticism of life; that the greatness of a poet lies in his powerful and beautiful application of ideas to life—to the question: How to live? × × × A poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt against life; a poetry of indifference towards moral ideas is a poetry of indifference towards life.

अर्थात कविता वस्तुतः जीवन की आलोचना है। कवि का महत्व अपने विचारों को सुन्दर और सशक्त ढंग से जीवन—जीवन व्यतीत करने के प्रश्न—पर लागू करने में है। वह कविता जो नीति का विरोध करती है। वह कविता जो नीति से उदासीन रहती है जीवन के प्रति भी उदासीन रहती है।

कविता मानव-हृदय की अनुभूति है और मानव-हृदय में ही पहुँचाई जाती है। अतः उसका और आचार का नित्य सम्बन्ध होना वांछनीय है। इन दोनों की घनिष्ठता के बिना लोकोपयोगी कविता का निर्माण नहीं किया जा सकता। जो कवि अपनी रचना में आचार-सम्बन्धी बातों का उल्लेख नहीं करता, जो कवि समाज को सन्मार्ग पर लाकर उसके उद्धार का प्रयत्न नहीं करता, जो कवि अपनी कविता में नीति और मर्यादा का प्रतिपादन नहीं करता, वह और करता क्या है? उसकी रचना का

अस्तित्व ही किस लिए है ? मर्यादा और आचार का बहिष्कार करके क्या कविता लोक का उपकार कर सकती है ? पवित्र भावों का संचार करना श्रेष्ठ कविता का कर्तव्य है । जो कविता आचार की शिक्षा नहीं देती वह अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकती । उसे कुछ समय पश्चात् संसार से मिट जाना होगा । जब वह समाज का कुछ हित-साधन ही नहीं करेगी तो समाज उसकी रक्षा क्यों करेगा ? समाज को आचार की नितान्त आवश्यकता होती है । नैतिक नियमों के पालन बिना समाज का कार्य नहीं चल सकता । प्रत्येक समाज में कुछ-न-कुछ नियम रहते हैं जिनका पालन करना उस समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक होता है । यहाँ तक कि चोरों और डाकुओं के समाज में भी आचार का स्थान है । वे लोग सर्व-साधारण के साथ भले ही नैतिक व्यवहार न करें; पर आपस में तो नैतिक नियमों को वर्तते ही हैं । चोरी या लूट के धन-विभाजन में वे न्याय से काम लेते हैं । एक दूसरे की वस्तु को कभी नहीं चुराते । कहना न होगा कि सामान्यतः जीवन में सर्वत्र आचार या नीति का नियंत्रण देखा जाता है । जहाँ उसका उल्लंघन हुआ जीवन जीवन नहीं रह जाता । नीति-रहित जीवन समाज को विष के समान घातक होता है । तब यह कैसे सहन किया जा सकता है कि कवि अपने काव्य में दुराचार का प्रतिपादन करे, हमें गंदी बातों का पाठ पढ़ावे, हमारा आचार भ्रष्ट करे।

कविता का उद्देश्य, जैसा कि हमारे पूर्वज आचार्यों ने बतलाया है, लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति कराना

है। काव्य-प्रवृत्त आनन्द को उन्होंने 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहा है। क्या 'ब्रह्मानन्द सहोदर' की अनुभूति ऐसे काव्य से हो सकती है जिसमें नीति-रहित जीवन का चित्र खींचा गया हो? इस प्रकार का आनन्द तो उसी काव्य में उपलब्ध हो सकता है जिसमें मानव-जीवन का आदर्शमय लोकोपयोगी भव्य रूप खड़ा किया गया हो, जिसमें आत्मा को उत्तरोत्तर उन्नता की ओर अग्रसर करने के साधन जुटाए गए हों, जिसमें अनुकरणीय सिद्धान्तों की उद्भावना की गई हो। वही सच्चा काव्य है। काव्य की कसौटी पर वही खरा उतरता है। ऐसे काव्य का रचयिता अपना उद्धार तो करता ही है परन्तु साथ ही साथ समाज का भी उद्धार कर लेता है। जिस कार्य के सम्पादन करने में सहस्रों उपदेशक कृतकार्य नहीं होते उसको वह अकेला ही पूरा कर लेता है। गोस्वामी तुलसीदास ऐसे ही काव्य-प्रणेता थे। उनके 'रामचरित-मानस' में मानव-जीवन का सर्वोत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है। नीति और आदर्श के साथ काव्य का भव्य रूप मन को मुग्ध करने वाला है। 'मानस' के द्वारा हिन्दू-जाति का कितना उपकार हुआ है यह बतलाना शब्द की शक्ति के बाहर है। यदि गोस्वामीजी अपने काव्य में आचार और मर्यादा का स्वर्ण-संयोग न करते तो क्या यह उपकार सम्भव था? काव्य को जीवन और शक्ति प्रदान करने वाला रसायन आचार है।

इस सम्बन्ध में कवि को एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है। आचार-सम्बन्धी सिद्धान्त मानव जीवन की स्वाभाविकता न छीन लें। ऐसा न हो कि जिन आदर्शों

का कवि अपने काव्य में प्रतिपादन करे उन तक पहुँचना मनुष्य असम्भव समझें। यदि ऐसा होगा तो काव्य मानव-समाज का कुछ भी हित न कर सकेगा।

इसके अतिरिक्त यह भी नहीं भूल जाना चाहिए कि आचार की शिक्षा काव्य के अन्यान्य उपयोगी एवं आवश्यक तत्वों को गौण न बना दे। जो कुछ कहा जाय वह जीवन की मार्मिक दशाओं का प्रत्यक्षीकरण करते हुए कहा जाय। उसमें शुष्कता अथवा नीरसता न हो। वह हृदय की चुटकी लेता हुआ उसमें प्रवेश कर जाय। इसी में काव्य की सफलता है, इसी में काव्य का महत्व है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि "काव्य का लक्ष्य जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना है जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकाल कर उसे विश्व-व्यापिनी अनुभूति में लीन करे।" इसके भीतर जीवन के आदर्श भी आ जाते हैं, क्योंकि नीति के आदर्शों के अवलम्बन बिना आत्मा विश्वात्मा में लीन होने की क्षमता नहीं प्राप्त कर सकती। अतः स्पष्ट है कि काव्य और आचार का नित्य और घनिष्ट सम्बन्ध है। काव्य को आचार या नीति से अलग नहीं किया जा सकता। हिन्दी के कतिपय वर्तमान कवियों को अंधे होकर पश्चिमवालों की नकल नहीं करनी चाहिए। उन्हें केवल पश्चिम की श्रेष्ठ बातों को ही ग्रहण करना चाहिए। इसी में उनका और हिन्दी-साहित्य का कल्याण है।

रहस्यवाद और हिन्दी-कविता

(१) प्रस्तावना—रहस्यवाद का लक्षण
(२) हिन्दी-कविता में दो प्रकार का रहस्यवाद—
 (क) ज्ञानात्मक रहस्यवाद
 (ख) प्रेमात्मक रहस्यवाद
(३) रहस्यवाद और कबीर
(४) रहस्यवाद और जायसी
(५) रहस्यवाद और मीरा
(६) वर्तमान कविता में रहस्यवाद (छायावाद) का प्राचुर्य
(७) प्रसादजी, निरालाजी, महादेवीजी, पन्तजी और डा० रामकुमार का रहस्यवाद
(८) उपसंहार—आधुनिक रहस्यवादी कवियों और प्राचीन रहस्यवादी कवियों में भेद; वर्तमान कवियों को कबीर और जायसी के अनुकरण की आवश्यकता

रहस्यवाद क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। रहस्यवाद हृदय का विषय है। शब्दों में ठीक-ठीक उसका लक्षण निर्धारित नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार प्राचीन काल से आधुनिक काल तक आचार्यों ने कविता के भिन्न-भिन्न लक्षण बताए हैं उसी प्रकार रहस्यवाद के भी रूप का नाना प्रकार से विवेचन हुआ है। कविता की तरह रहस्यवाद का भी अनुभव ही किया जा सकता है, निरूपण नहीं। स्थूल रूप से हम कह सकते हैं कि रहस्यवाद एक आध्यात्मिक वस्तु है जिसका सम्बन्ध हृदय से है। ज्ञान भी आध्यात्मिक वस्तु है पर उसका सम्बन्ध मस्तिष्क से है। "जो चिंतन के क्षेत्र में अद्वैतवाद है

वही भावना के क्षेत्र में रहस्यवाद है।" अद्वैतवादी मनुष्य जब भावना-रंजित प्रतीकात्मक उक्ति से अपने और अखंड परोक्ष सत्ता के सम्बन्ध को अथवा जगत के नाना रूपों और विश्वात्मा के सम्बन्ध को प्रकट करता है तब उस उक्ति को रहस्यवाद कहते हैं। वह जो कुछ देखता है या सुनता है उसमें उसी अज्ञात शक्ति का आभास पाता है। वह पुष्पों में उस शक्ति को हँसता हुआ देखता है, सायंकालीन रक्तिम वर्ण के मेघों में उसके अनुराग की लालिमा देखता है, बिजली की कड़क में उसके क्रोध का परिचय पाता है, नीलाकाश में उसके रूप का दर्शन करता है। इस प्रकार जगत की प्रत्येक वस्तु और व्यापार का सम्बन्ध वह उसी शक्ति से जोड़ता है।

हिन्दी कविता में हमें दो प्रकार का रहस्यवाद देखने को मिला है। एक है ज्ञानात्मक रहस्यवाद और दूसरा है प्रेमात्मक रहस्यवाद। ज्ञानात्मक रहस्यवाद में माया, जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध बतलाया गया है। प्रेमात्मक रहस्यवाद में ईश्वर और जीव की 'माधुर्य-भावना' का चित्र खींचा गया है। दार्शनिकों ने परमात्मा को पुरुष और जगत को स्त्री-रूप कहा है। 'माधुर्य भावना' इसी का भावुक रूप है, जिसमें परमात्मा की प्रियतम के रूप में भावना की जाती है और जगत के नाना रूप स्त्री-रूप में देखे जाते हैं। सूफी मुसलमानों के यहाँ इस माधुर्य भावना ने उलटा रूप धारण किया है। सूफी दार्शनिक परमात्मा को प्रियतमा के रूप में देखते हैं और अपने को या जीव को उसके प्रियतम-रूप में।

ज्ञानात्मक रहस्यवाद के क्षेत्र में कबीर का बहुत ऊँचा स्थान है। अन्योक्ति का आधार लेकर उन्होंने बड़े सुन्दर ढंग से माया, जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध दिखलाया है।

एक स्थान पर वे कहते हैं—

जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है,
बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना,
यह तत कथौ गियानी॥

कबीर की यह उक्ति ऊपर से कितनी सीधी-सादी मालूम पड़ती है, परन्तु इसमें गूढ़ दार्शनिक तत्व अन्तर्निहित है। यहाँ घड़े के पानी का अभिप्राय जीवात्मा और घड़े के बाहर के पानी का अभिप्राय परमात्मा है। घड़े का पानी घड़े के बाहर के पानी से किसी प्रकार भिन्न नहीं। पर घड़े की पतली चद्दर रूपी माया दोनों को मिलकर एक नहीं होने देती। जब वह चद्दर टूट कर अलग हो जाती है तब वे दोनों जल-भाग मिलकर एक हो जाते हैं। इसी प्रकार माया के हट जाने से जीवात्मा और परमात्मा का एकीकरण हो जाता है। कितने अच्छे ढंग के जीवात्मा, माया और परमात्मा का नाता समझाया गया है! इस प्रकार की अनेक अन्योक्तियों से कबीर का काव्य भरा पड़ा है। देखिए—

जल में उतपति जल में बास।
जल में नलिनी तोर निवास॥

प्रेमात्मक रहस्यवाद के अन्दर रक्खा जा सकता है। वे कहती फिरती थीं—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।
जाके सिर मोर-मुकुट मेरो पति सोई॥

उनकी वियोग-पीर श्रीकृष्ण रूपी वैद्य ही दूर कर सकते थे। उन्होंने कहा है—

दरद की मारी बन-बन डोलूँ,
वैद मिलया नहिं कोय।
मीराँ की प्रभु पीर मिटैगी,
जब वैद सँवलिया होय॥

वर्त्तमान काल में आकर रहस्यवाद की धारा ने पृथुल रूप धारण किया है। इसके कारण रवीन्द्रनाथजी की रहस्यात्मक कविताओं की धूम, द्विवेदी युग के नीरस एवं शुष्क काव्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया और अँगरेजी कविता का प्रभाव हैं। प्राचीन काल में रहस्यवाद धारा क्षीण थी और वह कभी कभी रुक जाती थी। पर आज कल तो अधिकांश नवयुवक कवि रहस्यवादी या छायावादी होने के ढोंग रच रहे हैं। वे क्षितिज के पार कुछ धुँधले चित्र देखते हैं और अनन्त में लीन होने के स्वाँग करते हैं। आजकल उसी कविता को लोग छाया-वादी कहने लगते हैं जिसका भाव स्पष्ट न हो। यही छायावाद की कसौटी समझी जाती है। पर वास्तव में छायावाद का प्रयोग दो अर्थों में होता है। एक तो रहस्यवाद के अर्थ में, दूसरे प्रतीकवाद (Symbolism) के अर्थ में। प्रतीकवाद में प्रस्तुत के स्थान पर किसी

अप्रस्तुत का वर्णन छाया-रूप में होता है। अन्योक्ति-पद्धति को इसी के अन्तर्गत समझना चाहिए। इसके अनुसार महाराज जयसिंह को अपनी नव-विवाहिता रानी के प्रेम-पाश से मुक्त करनेवाला बिहारी का निम्नांकित दोहा छायावाद के क्षेत्र में स्थान पाने का अधिकारी है :—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल ?

आध्यात्मिक प्रतीकवाद ही रहस्यवाद है। उसी को बंगाल में 'छायावाद' नाम दिया गया।

कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि हिन्दी में आज-कल सच्चा रहस्यवादी कवि कोई है ही नहीं। पर इसमें सन्देह नहीं कि वर्तमान हिन्दी-कविता में कोरी कल्पना की उड़ान भरने वाले। झूठे रहस्यवादियों की बाढ़ सी आ गई है। वर्तमान युग के रहस्यवाद में पाश्चात्य और बंगाली प्रभाव भी बहुत देखा जाता है। हम कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि आधुनिक हिन्दी छायावाद या रहस्यवाद बँगला द्वारा अँगरेजी के रहस्य-वाद की नकल है। आजकल के प्रमुख रहस्यवादी कवि श्री जयशंकर 'प्रसाद', पं० सूर्यकान्त 'निराला', पं० सुमित्रा-नन्दन पंत, श्रीमती महादेवी वर्मा और डा० रामकुमार हैं।

'प्रसादजी' की कविता का मुख्य विषय प्रेम है। इन्होंने भी मीरा के समान माधुर्य भावना' का आश्रय लिया है। देखिए, प्रियतम के विरह में जीवात्मा कैसी विकल है—

भरा नैनों में मन में रूप ।
किसी छलिया का अमल अनूप ॥
जल-थल, मारुत व्योम में जो छाया है सब ओर ।
खोज खोज कर खो गई मैं, पागल प्रेम विभोर ॥

निरालाजी ने भी परोक्ष सत्ता को प्रेम का आलंबन बनाया है । वे कहते हैं—

एक दिन थम जायगा रोदन,
तुम्हारे प्रेम-अंचल में ।

पंतजी का रहस्यवाद सूफियों के रहस्यवाद के 'प्रेम की पीर' से प्रभावित है । उसमें वियोग-वेदना और निराशा की प्रधानता है । वे सारे विश्व में विरह-वेदना के ही दर्शन करते हैं—

गगन के उर में घाव,
देखतीं ताराएँ भी राह ।
बँधा विद्युत छवि में जल वाह,
चन्द्र की चितवन में भी चाह ॥

'मौन-नियन्त्रण' शीर्षक रचना में कवि के रहस्यात्मक उद्‌गार देखिए—

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु-सा नादान;
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान;
न जाने, नक्षत्रों से कौन,
निमन्त्रण देता मुझको मौन ?

महादेवीजी की रचनाओं में भी नैराश्य और दुःख-वाद का साम्राज्य रहता है। इन्हें भी विरह संतप्त करता रहता है। इनका रहस्यवाद भी सूफियों के रहस्यवाद की प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत देखा जाता है। देखिए, एक स्थान पर ये अज्ञात शक्ति को एक नर्तकी के रूप में देखती हुई क्या कहती हैं—

आलोक तिमिर सित असित चीर।
सागर-गर्जन रुनझुन मँजीर॥
उड़ता झंझा में अलकजाल।
मेघों में मुखरित किंकिणि-स्वर॥

दूसरे स्थान पर वे उस प्रियतम की प्राप्ति के लिए युग-युगान्तर से पथिक बनी हुई यह कहती हैं—

युग युगान्तर की पथिक मैं हूँ कभी लूँ छाँह तेरी।
ले फिरूँ सुधि-दीप सी, फिर राह में अपनी अँधेरी॥

डा० रामकुमार वर्मा ने कबीर के रहस्यवाद का सूक्ष्म अध्ययन किया है और फारसी तथा अँगरेजी साहित्य से भी रहस्यवाद का सिद्धान्त हृदयंगम किया है। अतः वे इनसे प्रभावित हैं। किन्तु सूफी रहस्यवाद की ओर अधिक झुके हुए हैं। वे अपने को अनन्त सत्ता में लय नहीं करना चाहते; वरन् अपना प्रतिबिम्ब अनन्त सत्ता में और अनन्त सत्ता का प्रतिबिम्ब अपने में देखना चाहते हैं। वे कहते हैं—

मेरे जीवन में एक बार
तुम देखो तो अनुपम स्वरूप;

मैं तुममें प्रतिविम्बित होऊँ
तुम मुझमें होना हो अनूप !"

पर वर्तमान काल में सच्चे रहस्यवादी कवि थोड़े हैं। प्राचीन काल में मीरा, जायसी और कबीर ने जैसी रहस्यमयी मधुर उक्तियाँ कही थीं वैसी उक्तियाँ वर्तमान कवियों की नहीं हैं। कबीर, जायसी और मीरा की भक्ति-भावनाओं के साथ उनके जीवन का पूरा सामंजस्य था। आजकल के कवियों में यह विशेषता नहीं पाई जाती। उनके जीवन का आध्यात्मिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है। यही कारण है कि उनकी छायावादी उक्तियों में वैसी भावुकता, वैसी तन्मयता, वैसी अनुभूति, नहीं मिलती। कभी कभी तो वे कल्पना-प्रसूत सी प्रतीत होती हैं। यदि आजकल के होनहार कवि रहस्यवाद के लिए कबीर या जायसी को अपना आदर्श मानें तो उन्हें इस कार्य में पर्याप्त सफलता मिल सकती है। जब श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर सरीखे विश्व-कवि कबीर के रहस्यवाद से प्रभावित हुए हैं और उसका अनुकरण करते हैं तब हिन्दी के कवियों को विदेशी दरवाजा खटखटाने की क्या आवश्यकता ? इसके अतिरिक्त यह भी अच्छा नहीं कि हमारे कविगण छायावाद के संकुचित घेरे में ही उड़ान लगाया करें, केवल उसी को कविता का एकमात्र विषय समझते रहें। उन्हें बाहर निकल कर जीवन और जगत के क्षेत्रों की ओर भी बढ़ना चाहिए। यह हर्ष की बात है कि इधर कुछ दिनों से प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई है और हमारे कवियों का ध्यान जीवन की वास्तविकताओं की ओर आकृष्ट हुआ है। अब वे छायावाद के दिशाहीन शून्य सूक्ष्म

आकाश में उड़ान भरनेवाली कल्पना को हरी-भरी जनपूर्ण भूमि पर टिकाने लगे हैं क्योंकि—

"कितनो चिड़िया उड़े अकास,
दाना है धरती के पास ।"

हिन्दी-गद्य का विकास

(१) प्रस्तावना—साहित्य में गद्य से पूर्व पद्य का विकास
(२) गोरखनाथजी से हिन्दी-गद्य का आरम्भ
(३) गोकुलनाथजी और हिन्दी-गद्य
(४) विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी की गद्य-रचनाएँ
(५) विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी और हिन्दी-गद्य-लेखक
  (क) मुंशी सदासुखलाल
  (ख) इंशा अल्ला खाँ
  (ग) लल्लूलालजी
  (घ) सदल मिश्र
(६) ईसाइयों की हिन्दी-गद्य-सेवा
(७) राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा गद्य का उत्थान
(८) भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा गद्य के विविध अंगों की पूर्ति
(९) महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा गद्य-संस्कार और द्विवेदी-युग में गद्य की उन्नति
(१०) वर्तमान काल में हिन्दी-गद्य के विकास का विशद रूप
  (क) नाटक
  (ख) उपन्यास
  (ग) निबन्ध
  (घ) आख्यायिका
(११) उपसंहार—सारांश

वैसे तो मनुष्य नित्य के व्यवहार में गद्य का प्रयोग करता हुआ देखा जाता है पर प्रत्येक जाति के साहित्य में गद्य के पूर्व पद्य का ही विकास पाया गया है। हिन्दी-साहित्य का आरम्भ ईसा की ११ वीं शताब्दी से हुआ है। उसकी सभी प्रारम्भिक रचनाएं पद्य में हैं जो रासो के नाम से विख्यात हैं। जैसे खुमानरासो, बीसलदेवरासो, पृथ्वीराजरासो इत्यादि। हिन्दी में गद्य का जन्म और विकास तो बहुत पीछे हुआ है।

सबसे प्राचीन गद्य का नमूना गोरखनाथजी के ग्रन्थों में मिलता है। हठयोग ब्रह्मज्ञान आदि विषयों पर गोरखनाथजी के नाम के कई गद्य-पद्य ग्रन्थ मिले हैं जिनका निर्माण-काल सं० १४०७ के आसपास है। वास्तव में उसमें से कितने ग्रन्थ सचमुच गोरखनाथजी की लेखनी से प्रसुत हुए हैं यह बतलाना टेढ़ी खीर है, क्योंकि उनके शिष्यों में से बहुतों ने अपनी रचनाओं पर गोरखनाथजी का नाम दे दिया है पर कुछ विद्वान 'गोरख की बानी', 'गोरखनाथ के पद' आदि को स्वयं गोरखनाथ की रचना मानते हैं। गोरखनाथजी का गद्य ब्रजभाषा में लिखा गया है जिसका नमूना यह है—

"श्री गुरु परमानन्द तिनको दण्डवत है। हैं कैसे परमानन्द, आनन्द-स्वरूप है शरीर जिन्हि को, जिन्हि के नित्य गाए तें शरीर चेतन्नि अरु आनन्दमय होतु है।

इसके उपरान्त फिर हमें भक्तिकाल में कृष्ण-भक्ति-शाखा के भीतर गद्य-ग्रन्थ मिलते हैं। वल्लभाचार्य जी के

पुत्र विट्ठलनाथ जी ने 'शृङ्गार-रस-मंडन' नामक एक ग्रन्थ ब्रजभाषा में लिखा। विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में 'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता' नामक ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें लेखकों ने वैष्णव भक्तों की कथाएँ लिखी हैं। नाभादासजी ने भी संवत् १६६० के आस-पास 'अष्टयाम' नामक एक पुस्तक लिखी जिसमें भगवान राम की दिनचर्या का वर्णन है। ब्रजभाषा गद्य में से लिखा एक 'नासिकेतोपाख्यान' मिला है। इसका समय सं० १७६० के उपरान्त है। सूरति मिश्र ने संस्कृत से कथा लेकर 'बेताल-पचीसी' लिखी। इसका समय सं० १७६७ है। सं० १८५२ में लाला हीरालाल ने 'आईन अकबरी की भाषा बचनिका' नामक एक बड़ी पुस्तक की रचना की। इस प्रकार ब्रजभाषा-गद्य का रूप इधर-उधर पाया जाता था। पर गद्य लिखने की परिपाटी का सम्यक् प्रचार न होने के कारण वह जहाँ का तहाँ रह गया। केवल काव्यों की टीकाओं के रूप में वह यत्र-तत्र दिखलाई देने लगा।

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में ही खड़ी बोली में गद्य का रूप दिखलाई देने लगा था अकबर के समय में गंग कवि ने 'चन्द-छन्द बरनन की महिमा' नामक एक पुस्तक खड़ी बोली के गद्य में लिखी। इसके पश्चात् सं० १७९८ में रामप्रसाद निरंजनी ने 'भाषा योग वाशिष्ठ' नामक ग्रन्थ बहुत साफ़ सुथरी खड़ी बोली में लिखा। इसके बाद पं० दौलतराम ने 'पद्म पुराण' का अनुवाद खड़ी बोली में किया। भाषा इसकी उतनी परिमार्जित नहीं। अतः हम 'योग वाशिष्ठ' को परिमार्जित गद्य की

प्रथम पुस्तक और निरंजनी जी को प्रथम प्रौढ़ गद्य-लेखक मान सकते हैं। इसके बाद करीब दो सौ वर्ष तक खड़ी बोली का गद्य-क्षेत्र सूना सा पड़ा रहा। विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी में जाकर पुनः उसकी प्रतिष्ठा हुई और उस समय से आज तक नियमित रूप से खड़ी बोली का गद्य विकसित होता चला आ रहा है। प्रतिष्ठा करने वाले थे चार सज्जन (१) मुँशी सदासुखलाल, (२) इंशाअल्लाखाँ, (३) लल्लूलाल और (४) सदलमिश्र।

मुँशी सदासुखलाल ने श्रीमद्भागवत का अनुवाद 'सुखसागर' नाम से खड़ी बोली में किया। उन्होंने भाषा का रूप संस्कृत-मिश्रित रक्खा जिसमें पंडिताऊपन भी था। इंशाअल्लाखाँ 'रानी केतकी की कहानी' नामक खड़ी बोली की मौलिक रचना लेकर उपस्थित हुए। उन्होंने चटकीली, मटकीली और मुहावरेदार भाषा में बड़े अच्छे ढंग से कहानी कही है। उन्होंने अपनी भाषा को अरबी-फारसी तथा ब्रजभाषा और अवधी से सुरक्षित रखने की प्रतिज्ञा की जिसका बहुत कुछ निर्वाह वे कर सके। हाँ, कहीं-कहीं उनका वाक्य-विन्यास अवश्य फारसी का सा हो गया है। गद्य के प्रारम्भिक लेखक होने के कारण उनकी भाषा में पद्य के समान सानुप्रास विरामों की भरमार है। लल्लूलाल और सदलमिश्र ने कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज में अँगरेजों की प्रेरणा से खड़ी बोली-गद्य में रचनाएँ कीं। लल्लूलाल ने भागवत के दशम स्कंध की कथा का वर्णन 'प्रेमसागर' नामक ग्रन्थ में किया और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। 'प्रेमसागर' की भाषा में ब्रजभाषा का पुट और पंडिताऊ-

पन बहुत पाया जाता है। उसमें अरबी-फारसी के शब्दों को बहुत बचाया गया है। इंशा की तरह उसमें सानुप्रास विरामों की प्रचुरता है।'नासिकेतोपाख्यान' की भाषा में ब्रजभाषा की झलक के साथ पूरबी भाषा का पुट अधिक है। उसमें 'बौरी' को 'बौड़ी लिखना बिहार वालों की प्रवृत्ति का निदर्शन है।

खड़ी बोली-गद्य के इन चार प्रारम्भिक लेखकों में से किसी की भाषा को हम साफ़-सुथरी नहीं पाते। किसी में पंडिताऊपन है तो किसी में फारसीपन। किसी में ब्रजभाषापन है तो किसी में पूर्वीपन। तो भी मुन्शी सदासुखलाल की भाषा अपेक्षाकृत व्यवहारोपयोगी है। इन लेखकों के पश्चात संवत् १६१५ तक गद्य-क्षेत्र पुनः सूना सा होगया। पर ईसाई धर्म-प्रचारकों द्वारा गद्य का प्रसार और विकास कुछ-न-कुछ होता रहा। उन्होंने बाइबिल के अनुवाद और खंडन मंडन की पुस्तकें शुद्ध खड़ी बोली गद्य में लिखीं। कहीं भी उन्होंने फारसी-अरबी के शब्दों को नहीं अपनाया। शिक्षा-सम्बन्धिनी पुस्तकें पहले पहल तैयार करने का गौरव भी उन्हीं को है। हिन्दी भाषा-भाषी उनके इस कार्य को कभी नहीं भूल सकते।

संवत् १६११ में चार्ल्स वुड (Charles Wood) ने एक आयोजन-पत्र तैयार किया जिसमें शिक्षा के प्रचार के लिए गाँवों और कस्बों में देशी स्कूल खोलने की योजना की गई। जब उस आयोजन पत्र के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था हुई तो भाषा का प्रश्न सबसे पहले उपस्थित हुआ। शिक्षा की भाषा हिन्दी रक्खी जाय या

उर्दू ? उसी समय राजा शिवप्रसाद सं० १६१३ में शिक्षा-विभाग में इंस्पेक्टर नियुक्त हुए। उनके सतत प्रयत्न से हिन्दी को शिक्षा-विधान में स्थान मिला क्योंकि देश की असली भाषा तो वही थी। राजा साहब ने हिन्दी की रक्षा के लिए यह आवश्यक समझा कि उसका 'आम-फ़हम' और 'खास-पसंद' रूप रक्खा जाय जिसमें अरबी-फारसी के चलते शब्द भी स्थान पावें। मुसलमान और उर्दू पढ़े हुए लोग हिन्दी को 'मुश्किल ज़बान' कहकर उसका विरोध करते थे। अतः राजा साहब को यह युक्ति चलनी पड़ी। उन्होंने स्वयं कोर्स के लिए 'राजा भोज का सपना', 'वीरसिंह का वृत्तान्त', 'आलसियों का कोड़ा' आदि कई पुस्तकें चलती हिन्दी में लिखीं। पीछे चल कर वे अँगरेज अधिकारियों की रुचि को देखकर उर्दू की ओर अधिक झुक गए। उनका 'इतिहास तिमिर-नाशक' इसका उदाहरण है।

खड़ी बोली के गद्य के विकास में राजा लक्ष्मणसिंह का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने गद्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होकर राजा शिवप्रसाद के विरुद्ध आवाज उठाई। वे विशुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे। उन्होंने कालिदास के सुप्रसिद्ध नाटक 'अभिज्ञान-शकुंतल' का अनुवाद विशुद्ध हिन्दी में किया।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी गद्य के विकास में बहुत हाथ बटाया। उन्होंने अपनी धार्मिक पुस्तक सत्यार्थ प्रकाश' की रचना खड़ी बोली-गद्य में की। वे अपने उपदेश खड़ी बोली के गद्य में ही दिया करते थे।

इनके पश्चात् खड़ी बोली-गद्य के क्षेत्र में प्रधान व्यक्ति भारतेन्दु हरिश्चन्द्र दिखलाई पड़ते हैं। जिन्होंने खड़ी बोली के गद्य को बहुत उन्नत किया साहित्यिक रचना की दृष्टि से अभी तक गद्य बहुत पीछे पिछड़ा हुआ था। अभी तक वह अपना रूप ही स्थिर कर रहा था। भारतेन्दुजी ने उसके भिन्न-भिन्न अंगों की पुष्टि करके एक समुन्नति के युग का सूत्रपात किया। भारतेन्दु-युग सं० १६२४ से १६६० तक माना गया है।

भारतेन्दुजी ने स्वयं तो गद्य रचना आरम्भ की ही, अपने मित्रों को भी इस कार्य में संलग्न किया। इनके प्रभाव से प्रभावित होकर बद्रीनारायण चौधरी, बालकृष्ण भट्ट, अम्बिकादत्त व्यास, प्रतापनारायण मिश्र, श्रीनिवासदास आदि सज्जन गद्य की सेवा करने को उठ खड़े हुए जिन्होंने उसके विविध अङ्गों (नाटक, उपन्यास और निबन्ध) को जगमगा दिया।

भारतेन्दुजी से पहले गोपालचन्द्र का 'नहुष नाटक' और विश्वनाथ का 'आनन्द-रघुनन्दन' रचा जा चुका था। पर इन दोनों की भाषा ब्रज भाषा थी, खड़ी बोली नहीं। भारतेन्दुजी ने भारत-दुर्दशा, नीलदेवी, अन्धेर नगरी, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति आदि मौलिक और सत्य हरिश्चन्द्र, मुद्राराक्षस, कर्पूरमंजरी आदि अनुवादित नाटकों की रचना की। श्रीनिवासदास ने रणधीर-प्रेम मोहिनी, संयोगिता-स्वयंवर और तप्तासंवरण नामक नाटक लिखे। अम्बिकादत्त व्यास ने ललिता, प्रतापनारायण मिश्र ने गोसंकट और बद्रीनारायण चौधरी ने भारत-

सौभाग्य नामक नाटक लिखे। राधाकृष्णदास ने महाराणा प्रतापसिंह, दुखिनी बाला और महारानी पद्मावती नामक नाटकों की रचना की। इन नाटककारों में से भारतेन्दुजी ने नाटक रचना की संस्कृत एवं विलायती शैलियों का मध्यम मार्ग ग्रहण किया। वे स्वयं उच्च कोटि के अभिनेता थे और रंग-मंच की आवश्यकताओं को समझते थे। यही कारण है कि उनके नाटक अभिनयोपयुक्त हैं। उस समय के अन्य सभी नाटककार उन्हीं की शैली से प्रभावित हुए। राधाकृष्णदास को नाटक-रचना में बहुत सफलता हुई।

उपन्यास तो भारतेन्दुजी ने कोई नहीं लिखा, पर उनके सहयोगी विद्वानों ने इस अभाव की पूर्ति की। बालकृष्ण भट्ट ने 'सौ अजान एक सुजान' और 'नूतन ब्रह्मचारी' नामक उपन्यास लिखे। श्रीनिवासदास ने 'परीक्षा गुरु' लिखा। राधाकृष्णदास ने 'निस्सहाय हिन्दू उपन्यास' रचा। भारतेन्दु युग के उपन्यासों में वस्तु की प्रधानता देखी जाती है। चरित्र के विकास की ओर वैसा ध्यान नहीं दिया गया है।

निबन्धों का आरम्भ भी भारतेन्दुजी के समय से ही होता है। उन्होंने स्वयं कई लेख लिखे थे। उनके काल के अन्य लेखकों ने निबन्ध-परम्परा को आगे बढ़ाया। भारतेन्दुजी ने 'कवि वचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और 'बाला बोधिनी' नामक तीन पत्र निकाले। प्रतापनरायण मिश्र ने 'ब्राह्मण' पत्र निकाला। बद्रीनारायण ने 'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिका प्रकाशित की। बालकृष्ण

भट्ट ने भी 'हिन्दी-प्रदीप' नामक एक पत्र को जन्म दिया। इन पत्रों के द्वारा लोगों में निबन्ध लिखने का शौक पैदा हुआ।

भारतेन्दुजी के समय से साहित्य-निर्माण का कार्य तो धूमधाम से चल पड़ा पर भाषा की शुद्धता की ओर लेखकों का उतना ध्यान नहीं था। इस बात की ओर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का ध्यान आकर्षित हुआ। उन्होंने 'सरस्वती' नामक पत्रिका के संपादक के रूप में पुस्तकों की व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियाँ दिखलाईं और उनके लेखकों को बहुत-कुछ सतर्क कर दिया। भाषा की सफाई के अतिरिक्त द्विवेदीजी ने निबन्ध भी अच्छे लिखे हैं। द्विवेदीजी के नाम पर सं० १९६० से १९७५ तक का समय 'द्विवेदी-युग' कहलाता है।

द्विवेदी युग में मौलिक नाटकों की रचना नहीं-सी हुई। संस्कृत, बँगला और अँगरेजी से नाटकों का अनुवाद ही हिन्दी में हुआ। संस्कृत से नाटकों के अनुवाद पं० सत्यनारायण तथा ला० सीताराम ने किए। लालाजी ने अँगरेजी के नाटकों का भी अनुवाद हिन्दी में किया। रूपनारायण पाँडे ने द्विजेन्द्रलाल राय एवं गिरीशचन्द्र घोष के बंगाली नाटकों का अनुवाद किया।

नाटकों के समान उपन्यास भी प्रधानतः अनुवादित ही रचे गए। मौलिक उपन्यास लेखकों में सबसे अधिक प्रचार पाने का सौभाग्य देवकीनन्दन खत्री को प्राप्त हुआ। चन्द्रकान्ता और चन्द्रकान्तासन्तति ने न जाने

कितने लोगों में हिन्दी सीखने का शौक पैदा किया। किशोरीलाल गोस्वामी ने अँगूठी का नगीना, लखनऊ की कब्र आदि अच्छे मौलिक उपन्यास लिखे। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने ठेठ हिन्दी का ठाठ और अधखिला फूल दो उपन्यास लिखे। गोपालराम गहमरी के जासूसी उपन्यास भी इसी काल में निकले।

निबन्ध-क्षेत्र में अपेक्षाकृत अच्छा कार्य हुआ। द्विवेदी जी के अतिरिक्त चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, अध्यापक पूर्णसिंह, पद्मसिंह शर्मा, बा० श्यामसुन्दरदास, पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि ने अच्छे निबन्ध लिखे हैं। पूर्णसिंह और पं० रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध तो बड़े उच्चकोटि के देखे गए हैं। पूर्णसिंह के निबन्ध भावात्मक श्रेणी में और शुक्लजी के निबन्ध विचारात्मक श्रेणी में स्थान पाते हैं। समालोचना भी निबन्ध के अन्तर्गत आती है। हिन्दी में सबसे पूर्व समालोचना बद्रीनारायण चौधरी ने श्रीनिवासदास के 'संयोगिता स्वयम्वर' नाटक की अपनी पत्रिका 'आनंद-कादंबिनी' में की। यह लेख-रूप में थी। पं० महावीर-प्रसाद ने पुस्तक रूप में समालोचनाएँ लिखीं। मिश्रबन्धुओं ने 'हिन्दी नवरत्न' और 'मिश्रबन्धु विनोद' नामक समालोचनात्मक ग्रन्थ लिखे। पद्मसिंह शर्मा ने तुलनात्मक प्रणाली पर बिहारी की आलोचना लिखी। पर इनमें से किसी समालोचना में भी कवि या लेखक की अन्तःप्रकृति की छानबीन नहीं देखी गई। इसके दर्शन जाकर वर्तमान युग में हुए जिसका आरम्भ सं० १९७५ से हुआ है।

खड़ी बोली गद्य के विकास का विशद रूप इस वर्तमान काल में ही दिखलाई दिया है। आजकल नाटक, उपन्यास, निबन्ध और आख्यायिका—गद्य के सभी अंग खूब पुष्ट हो रहे हैं।

पहले नाटक को ही लीजिए। इस क्षेत्र में बा० जयशंकर 'प्रसाद' के अवतीर्ण होने से नाटक की काया पलट गई। उनसे पहले के नाटकों में चरित्र-चित्रण पर ध्यान नहीं दिया जाता था। पर 'प्रसाद' जी ने अपने नाटकों में चरित्र-चित्रण को बड़ा महत्व दिया है और रस की धारा भी प्रवाहित की है। उनके नाटक प्राचीन भारत की संस्कृति का भव्य चित्र नेत्रों के सामने खींच देते हैं। पर उनमें एक दोष पाया जाता है। वे अभिनय के योग्य नहीं हैं। बद्रीनाथ भट्ट की दुर्गावती में अभिनय की विनोदपूर्ण सामग्री है। गोविन्दवल्लभ पंत भी अच्छे नाटककार हैं। उनकी वरमाला अभिनयोपयुक्त सफल रचना है। उग्र का महात्मा ईसा, माखनलाल चतुर्वेदी का कृष्णार्जुन युद्ध, जगन्नाथप्रसाद 'मिलिंद' की प्रताप-प्रतिज्ञा और राधेश्याम का वीर अभिमन्यु भी श्रेष्ठ नाटक हैं। इधर सुमित्रानन्दन पंत ने ज्योत्स्ना नामक नाटक लिखा है, पर वह नाटक न होकर काव्य ही हो गया है। हरीकृष्ण 'प्रेमी' भी उत्कृष्ट नाटककार हैं। उनका 'रक्षाबन्धन' नाटक बहुत प्रसिद्ध है। वर्तमान नाटककारों में उनका ऊँचा स्थान है।

उपन्यास के क्षेत्र में बा० प्रेमचन्द ने अपनी अनुपम प्रतिभा का प्रकाश फैलाया। उनके उपन्यासों में वस्तु का

विन्यास और मानव हृदय का विश्लेषण उच्चकोटि का होता है। समाज की कमजोरियों का दिग्दर्शन उनमें खूब कराया जाता है। 'प्रसाद' जी ने 'कंकाल' और 'तितली' दो उपन्यास लिखे हैं पर वे इस कार्य में उतने सफल नहीं हुए हैं। वृन्दावनलाल वर्मा ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। उनका 'गढ़कुण्डार' उपन्यास-साहित्य का देदीप्यमान रत्न है। इनके अतिरिक्त 'कौशिक', जैनेन्द्रकुमार, चंडीप्रसाद, 'उग्र', चतुरसेन शास्त्री, ऋषभचरण आदि अनेक लेखक उपन्यास-क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं।

निबन्ध-क्षेत्र में इधर कुछ दिनों से लोग भावात्मक निबन्धों की ओर आकृष्ट हुए हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' के अनुकरण पर रामकृष्णदास ने 'साधना' चतुरसेन शास्त्री ने 'अंतस्तल' और वियोगीहरि ने 'अंतर्नाद' और 'भावना' नामक निबन्ध-ग्रन्थ लिखे हैं। दिनेशकुमारी चोरड्या का 'शबनम' नामक भावात्मक निबन्धों का संग्रह अभी प्रकाशित हुआ है। मासिक-पत्रों में इनकी भरमार रहती है। यह अच्छा नहीं। इस प्रकार के निबन्ध भाषा के प्रकृत विकास में बाधक होंगे। समालोचनात्मक निबन्धों के पथ-प्रदर्शक पं० रामचन्द्र शुक्ल के दिखलाए हुए मार्ग पर चलते हुए आज कई समालोचक देखे जाते हैं। जैसे—पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, कृष्णशंकर शुक्ल, रामकृष्ण शुक्ल, श्यामसुन्दरदास आदि। शुक्लजी एक प्रौढ़ समालोचक हैं जो कवि या लेखक की अन्तरात्मा में प्रवेश करके उसकी विशेषताओं का उद्घाटन करते हैं। उनकी तुलसी, सूर और जायसी की समालोचनाएँ हिन्दी-साहित्य की दिव्य विभूतियाँ हैं।

यों तो आख्यायिकाओं का आरम्भ द्विवेदी-युग में गिरिजाकुमार घोष (पार्वतीनंदन) नामक सज्जन से ही हो गया था पर उस समय उनमें प्रौढ़ता नहीं आई थी। आजकल उनमें अच्छी छटा देखी जाती है। वे या तो घटनात्मक हैं या भावात्मक। पहली में लेखक का उद्देश्य किसी घटना का वर्णन मात्र रहता है और दूसरी में लेखक मानव-हृदय के भावों का विश्लेषण करता है। प्रेमचन्दजी की कहानियाँ घटनात्मक और 'प्रसाद' जी की भावात्मक होती हैं। प्रेमचन्दजी की कहानियों का साहित्य में उच्च स्थान है। आज कल कहानियों की तो बाढ़-सी आ गई है। 'कौशिक', 'हृदयेश', उग्र, सुदर्शन, जैनेन्द्र, चतुरसेन, रायकृष्णदास, विनोदशंकर, ऋषभचरण, सियारामशरण, निराला, सुभद्रा-कुमारी, शिवरानी आदि अनेक लेखक-लेखिकाएँ कहानियाँ लिखती हैं। हास्यरस की रचना करने वालों में जी० पी० श्रीवास्तव और अन्नपूर्णानन्द प्रसिद्ध हैं।

सारांश यह है कि हिन्दी-गद्य की आजकल बहुत उन्नति हो रही है। गद्य में अनेक विषयों पर पुस्तकें रची जा रही हैं। इतिहास, विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि हिन्दी में लिखे जाने लगे हैं। पर वह कुछ अंशों में अँगरेजी गद्य की नकल कर रहा है, यही बुरा है। इँगलैंड में साहित्य की प्रवृत्ति 'वास्तविकता की ओर हो रही है। इस प्रवृत्ति का प्रभाव हमारे साहित्य पर भी पड़ रहा है और नाटक, उपन्यास और आख्यायिका से काव्यत्व हटाया जा रहा है। यह अच्छा नहीं। हमें तो अपने गद्य का स्वतन्त्र

विकास करना चाहिए, इसी में हमारा गौरव है, इसी में हमारी शोभा है।

समाज की देश-काल के अनुरूप व्यवस्था

(१) प्रस्तावना—समाज का अर्थ
(२) स्थान का समाज पर प्रभाव और उसकी व्यवस्था
(३) भारतवर्ष का उदाहरण—
 (क) देश की प्राकृतिक स्थिति से धर्म का विकास
 (ख) जीविकोपार्जन की सरलता से सम्मिलित परिवार की योजना
 (ग) जल-वायु के कारण देश की पराधीनता
(४) समय का समाज के रूप-निर्माण में हाथ
(५) भारतवर्ष का उदाहरण
 (क) मुसलमान-काल में बाल-विवाह और पर्दे की रिवाजों का जन्म, पर आजकल उनकी अनावश्यकता
 (ख) प्राचीन काल में वर्ण व्यवस्था की आवश्यकता, पर आजकल उसकी अनावश्यकता
 (ग) समय के प्रभाव से भारतवर्ष में देश-प्रेम और स्वतन्त्रता की लहर
 (घ) समय के प्रभाव से भारतवर्ष में विज्ञान की करामातें
(६) उपसंहार—सारांश

समाज व्यक्तियों का समूह है। सारे संसार के व्यक्तियों को मिला कर मनुष्य-समाज कहा जा सकता है। समाज शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ में भी होता है। किसी जाति या किसी पेशे के मनुष्यों की गणना भी समष्टि रूप में समाज के नाम से होती है। जैसे—

हिन्दू-समाज, मुस्लिम-समाज, अँगरेज-समाज, ब्राह्मण-समाज, व्यापारी-समाज आदि। प्रत्येक समाज के नियम, उसकी रहन-सहन, उसकी व्यवस्था, अन्य समाजों से भिन्न होती है। अनेक बातें उसके रूप को गढ़ने में सहायता देती हैं। अनेक प्रवृत्तियाँ उसको प्रभावित करती रहती हैं। स्थान और समय के अनुसार उसमें रूपान्तर देखा जाता है।

स्थान का समाज पर विशेष प्रभाव पड़ता है। किसी देश की परिस्थिति उस देश के समाज के रूप को गढ़ने में सहायक होती है। यह सर्वदा देखा गया है कि जैसा देश होता है वैसा ही समाज का वेश होता है। समाज की व्यवस्था में देश या स्थान बहुत हाथ बटाता है। भारतवर्ष को ही लीजिए। भारतीय समाज धर्म-प्राण है। उसमें सभी बातें धर्म की कसौटी पर कसी जाती हैं। कोई भी कार्य किया जाता है उसकी उपयुक्तता धर्म के अनुसार देखी जाती है। धर्म के इतने अधिक महत्व का कारण देश की स्थिति है। इस देश में प्रकृति ने निवासियों के लिए सब प्रकार सुभीता कर दिया है। यहाँ की भूमि बड़ी उपजाऊ है। प्राचीन समय में और देशवासियों की तरह यहाँ के रहने वालों को जीविकोपार्जन में वैसी कठिनाई नहीं पड़ती थी। धरती माता उनके खाने के लिए पर्याप्त अनाज दे देती थी। अतः यहाँ के निवासियों का ध्यान जीवन की समस्याओं की ओर प्रायः नहीं रहता था। शस्य-श्यामला भूमि ने भारतवासियों को जीवन के प्रति उदासीन बना दिया

था । वे ईश्वर के विषय में चिंतन किया करते थे । आध्यात्मिक बातों में, आध्यात्मिक विषयों में, उनका मन लगता था । धीरे-धीरे भारतवासियों ने यह अनुभव किया कि जीवन का लक्ष्य ईश्वर की प्राप्ति है । अतएव धर्म को वे अत्यधिक महत्त्व देने लगे । जीवन-सम्बन्धी सभी प्रश्नों को वे धर्म की कसौटी पर कसते थे । यही मनोवृत्ति आज तक चली आ रही है । इसके विपरीत दशा है इङ्गलैण्ड आदि अन्य देशों की जहाँ प्रकृति ने कुछ भी सुभीता नहीं किया है । इंगलैण्ड का समाज जीवन को धर्म से अधिक महत्त्व देता है । वहाँ वालों के लिए सांसारिक जीवन आध्यात्मिक जीवन से अधिक महत्त्व रखता है । कारण यह है जीविका कमाने के लिए इंगलैण्ड वालों को बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करते रहना पड़ा है, वे सभी जीविका के सम्बन्ध में निश्चिन्त नहीं रहे । जैसा कि कहा है—भूखे भजन न होइ गोपाला' । इंगलैण्ड वालों का ध्यान आध्यात्मिकता की ओर कभी आकर्षित नहीं हुआ ।

सम्मिलित परिवार की प्रथा भारतीय समाज की दूसरी विशेषता है । इंगलैण्ड में यह प्रथा नहीं पाई जाती । इसका कारण भी देश की प्राकृतिक दशा की श्रेष्ठता है । यहाँ प्राचीन काल में परिवार का एक ही मनुष्य सुगमता से इतनी अधिक जीविका उपार्जन कर लेता था कि उसे पूरे परिवार के पालन-पोषण में कोई कठिनाई नहीं पड़ती थी, पर इङ्गलैण्ड में मनुष्य को अपना ही पेट भरना कठिन हो जाता था । यही दशा अब भी है । अतः वहाँ सम्मिलित परिवार की प्रथा नहीं

है। आजकल भारतवर्ष में भी सम्मिलित परिवार की प्रथा टूटती जा रही है। इसका कारण देश की आर्थिक दशा का बुरा होना है। आज भारतवासी इस योग्य नहीं रहे कि सम्मिलित परिवार का भार उठा सकें।

भारतीय समाज की तीसरी विशेषता है उसकी पराधीनता। इसका उत्तरदायित्व देश की जलवायु पर है। भारतवर्ष की जलवायु यहाँ के निवासियों को सुस्त बनाती है। गर्म देश के निवासी प्रायः सुस्त देखे जाते हैं। ठंडे देशों के रहने वाले स्फूर्तिवान्, शक्तिशाली और कर्तव्य परायण होते हैं। इंगलैंड वाले फुर्तीले तथा शक्तिशाली हैं। उन्होंने अन्य देशों पर अधिकार प्राप्त किया है। वे किसी की अधीनता में रहना नहीं चाहते। भारतवासी सुस्त होने के कारण बलवान् तथा कर्तव्यपरायण नहीं पाए जाते। वे सदैव पराजित होते रहे हैं और दूसरों के आधीन रहे हैं।

समय के अनुसार भी समाज की व्यवस्था परिवर्तित होती रहती है। जो बातें, जो नियम, प्राचीन समय में किसी समाज की रक्षा के लिए, किसी समाज की उन्नति के लिए, आवश्यक थे उनकी आवश्यकता अब नहीं पाई जाती और कई ऐसी बातें हैं जिनकी अब आवश्यकता है पहले नहीं थी जैसे भारतवर्ष में मुसलमान-काल में पर्दे एवं बाल विवाह की प्रथाएँ प्रचलित हुईं। उस समय हिन्दू महिलाओं पर मुसलमानों के अत्याचार होते थे। मुसलमान शासक किसी सुन्दरी पर मोहित होकर बलात् उसको अपनी स्त्री बनाते थे। मुगल बादशाहों में तो कुप्रवृत्ति सीमा तक पहुँच गई

थी। किसी सुन्दरी को देखा और उसे अपने हरम में रख लिया। यही उनका नियम था। ऐसी दशा में हिन्दू अपनी मान-रक्षा के लिए अपनी स्त्रियों को, अपनी कन्याओं को, अपनी बहिनों को, पर्दे के अन्दर रखने लगे जिससे मुसलमान-शासक उनके सौन्दर्य को न देख सकें। इसके अतिरिक्त उन्होंने बाल-विवाह को भी अपनाया। बाल्यावस्था में ही जब तक कि लड़की के अंगों का विकास नहीं होता था उसका विवाह कर दिया करते थे। इस प्रकार उसकी रक्षा का भार उनके ऊपर से हट कर उसके पति पर पहुँच जाता था। अतः स्पष्ट है कि मुसलमान-काल में *परिस्थिति वश हिन्दुओं को पर्दे और बाल-विवाह की शरण* लेनी पड़ी। पर आजकल इनमें से किसी की भी आवश्यकता नहीं है। पर्दे और बाल-विवाह से समाज की जितनी हानि हुई है वह किसी भी मनुष्य से छिपी नहीं है। पर्दे ने स्त्रियों के स्वास्थ्य पर तो कुठाराघात किया ही है, साथ ही उन्हें अशिक्षित एवं बाह्य जगत् के अनुभव से भी वंचित कर रक्खा है। बाल-विवाह ने रुग्ण संतान और विधवाओं की संख्या में वृद्धि की है। आज समाज इन दोनों बातों से परेशान है। अब इन कुरीतियों का समय नहीं रहा है। समाज के हित में यह वांछनीय है कि स्त्रियाँ पर्दे के बाहर आकर पुरुषों के साथ कंधे से कंधा भिड़ाकर कार्य-क्षेत्र में अग्रसर हों और बालक-बालिकाओं का विवाह न होकर परिपक्वावस्था में पुरुष और स्त्री का विवाह करें।

हिन्दू समाज में प्राचीन काल में वर्णों की आवश्यकता थी। प्रत्येक हिन्दू मनुष्य उस अशान्ति के समय

अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता था। वही ईश्वर-भजन, अपनी रक्षा, अपना भरण-पोषण और अपने कार्यों की देख भाल नहीं कर सकता था। इसीलिए कार्य-विभाग के सिद्धान्तानुसार ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों की स्थापना की गई। पर आज-कल वर्ण-व्यवस्था की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। कोई ऐसी अशान्ति नहीं दिखाई देती जिसके कारण एक मनुष्य अपना पेट-पालन, अपनी रक्षा, ईश्वर-भजन, आदि कार्यों को न कर सके। आजकल तो लोग वर्ण-व्यवस्था को समाज के लिए हितकर नहीं समझते। उनका कहना है कि वर्ण-व्यवस्था ने हिन्दू-समाज के ऐक्य को नष्ट कर दिया है। उच्च वर्ण वाले शूद्रों से घृणा करते हैं। उनको अपने से नीचा समझते हैं, पृथक् समझते हैं।

यह समय का ही प्रभाव है कि आजकल भारतवर्ष में देश-प्रेम और स्वतन्त्रता की लहर फैल रही है। जो देश सदैव परतन्त्र रहा वह आज स्वतन्त्र होने की चेष्टा कर रहा है। संसार भर में जब स्वतन्त्रता की दुन्दुभी बज रही है तब भारतवर्ष में क्यों न बजे? देश-प्रेम भी भारतीयों में भूतकाल में कभी नहीं देखा गया। प्राचीन भारतीय साहित्य में भी उसका रूप नहीं मिलता। यदि भारतनिवासी देश-प्रेमी ही होते तो इस प्रकार सरलता से विदेशी आक्रमणकारी इस देश पर अधिकार जमा लेते? सच तो यह है कि भूतकाल में कभी यहाँ वालों ने मिल कर देश की रक्षा नहीं की।

यह विज्ञान का युग है। विज्ञान जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश करता जा रहा है। भारतवर्ष में भी अन्य

देशों की भाँति इसका बोल बाला है। यहाँ पर चारों ओर वैज्ञानिक यन्त्रों की धूम है। मोटर, वायुयान, टैलीफोन, टैलीविजन, रेडियो, ऐक्स-रे आदि यन्त्रों ने भारतवर्ष का रूप बदल दिया है। यदि हमारे प्राचीन पूर्वजों में से कोई आज हमसे मिलने आ जाय तो सम्भव है वह भारतवर्ष का रूप देखकर भ्रम में पड़ जाय।

इसी प्रकार और भी कई बातें हैं जो बतलाती हैं कि समाज की व्यवस्था देश और काल के अनुरूप होती रहती है। भिन्न-भिन्न स्थानवालों के समाज विभिन्न प्रकार के पाए जाते हैं और समय-समय पर एक ही स्थानवालों के समाज में अन्तर और परिवर्तन होता रहता है। परिवर्तन सृष्टि का नियम है। उसे कौन रोक सकता है? टैनीसन नामक एक अँगरेज कवि ने कहा भी है—

The old order changeth, yielding place to new, and God fulfills himself in many ways, Lest one good custom corrupt the world. अर्थात् प्राचीन नियम परिवर्तित होता है और उसके स्थान पर नवीन नियम अधिकार कर लेता है। परमेश्वर अनेक प्रकार से संसार की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, जिससे कहीं एक अच्छा रिवाज भी कभी संसार को नष्ट न कर दे।

कवि अपने समय का प्रतिनिधि होता है

(१) प्रस्तावना—मैथ्यू आर्नल्ड की उक्ति
(२) हिन्दी-साहित्य का निर्माण—
(क) वीरगाथा-काल के कवियों द्वारा अपने समय की विशेषताओं का दिग्दर्शन (ख) भक्तिकाल के कवियों द्वारा जनता की चित-वृत्तियों का चित्रण (ग) रीतिकाल के कवियों द्वारा जनता के जीवन का चित्रण (घ) आधुनिक काल के कवि और समय की विशेषताएँ—(अ) शोक का साम्राज्य (आ) राष्ट्रीयता की लहर (इ) अछूतोद्धार की गूंज (ई) स्त्रियों के साथ सहानुभूति (उ) हिन्दू-मुस्लिम-एकता (ऊ) किसान-मजदूर आन्दोलन।
(३) उपसंहार—कवि के लिए अपने समय का प्रतिनिधित्व अनिवार्य होना।

मैथ्यू आर्नल्ड नामक एक विद्वान का कथन है—The poet and the age react upon each other अर्थात् कवि और समय एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। कवि अपनी रचनाओं में समय की प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन कराता है। वह अपने समय का प्रतिनिधित्व करता है। किसी भी जाति के साहित्य का अवलोकन करने पर हम उसमें यह स्पष्ट रूप से देखते हैं कि उसके कवियों ने अपने समय के भावों, विचारों, आकांक्षाओं आदि को ही अपनी रचना में प्रकट किया है। कहना चाहें तो यों कह सकते हैं कि कवि की कृति में उसके समय की विशेषताएँ झाँकती हुई दिखलाई देती है। हम हिन्दी साहित्य को लेकर इस तथ्य पर प्रकाश डालेंगे।

हिन्दी-साहित्य का इतिहास चार कालों में विभाजित हुआ है—
(१) आदि काल अथवा वीरगाथा-काल (२) पूर्व मध्यकाल अथवा भक्तिकाल (३) उत्तर मध्यकाल अथवा रीतिकाल और (४) आधुनिक-काल अथवा गद्य-काल ।

वीरगाथा-काल लड़ाई-भिड़ाई का समय था । यह वह समय था जब भारतवर्ष पर मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे और भारतवर्ष का शासन क्षत्रियों के हाथ में था । हर्षवर्द्धन के पश्चात् देश छोटे-छोटे राजों में बट गया था । क्षत्री राजा छोटे-छोटे भूभागों के शासक थे और शौर्य प्रदर्शनार्थ आपस में लड़ा करते थे। उस समय के युद्धों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) विदेशी आक्रमणकारियों को रोकने के लिए छेड़े गए अवरोधात्मक युद्ध और (२) शौर्य-प्रदर्शनार्थ छेड़े गए पारस्परिक युद्ध । कभी-कभी कन्यादान भी पारस्परिक युद्ध का कारण हो जाता था । राजपूत लड़कियों के विवाह करने में अपनी बड़ी हेटी समझते थे। अतः कभी-कभी विवाह-मण्डप में ही तलवारें चल जाती थीं । किसी राजा की कन्या की सुन्दरता का समाचार पाकर दलबल के साथ चढ़ाई करदी जाती थी और उस कन्या को बलपूर्वक हर लाया जाता था। ऐसा करना वीरता की निशानी समझी जाती थी । इन्हीं सब प्रवृत्तियों की छाप उस समय के कवियों की रचनाओं में पाई जाती है । वीरगाथा-काल की रचनाएँ 'रासो' के नाम के प्रसिद्ध हैं । जैसे—पृथ्वीराजरासो, खुमानरासो, विसलदेवरासो इत्यादि । पृथ्वीराजरासो के रचियता चन्द बरदाई ने मुहम्मद गोरी के भारतवर्ष पर किए गए आक्रमणों और पृथ्वीराज के उसके

साथ लड़े गए युद्धों का विस्तृत वर्णन किया है। चन्द ने यह भी लिखा है कि पृथ्वीराज ने किस प्रकार जयचन्द आदि राजाओं से उनकी कन्याओं को प्राप्त करने के लिए अनेक युद्ध किए। मुहम्मदगोरी और पृथ्वीराज के द्वेष का कारण भी चन्द ने एक स्त्री को रक्खा है। गोरी अपने यहाँ की एक सुन्दरी पर मोहित था जो उसे नहीं चाहती थी। वह अपनी रक्षा के लिए पृथ्वीराज के पास भाग आई। गोरी ने पृथ्वीराज को उसके निकाल देने के लिए लिखा। पृथ्वीराज ऐसा करने को तैयार नहीं हुआ। इसी पर गोरी पृथ्वीराज से अप्रसन्न होगया। खुमानरासो के रचियता दलपति विजय ने खुमान के बगदाद के खलीफा अलमामूँ के साथ युद्ध का उल्लेख किया है। बीसलदेवरासो के कर्त्ता नरपति नाल्ह ने बीसलदेव द्वारा राजा भोज की पुत्री राजमती का प्राप्त करना लिखा है।

अब भक्ति-काल की ओर आइये। जब मुसलमानों ने धीरे-धीरे एक राजा को हराकर अपना साम्राज्य भारतवर्ष में स्थापित कर लिया तब हिन्दू जनता में उत्साह और आत्माभिमान नहीं रह गया। उनके सामने ही उनकी पूज्य मूर्तियां तोड़ी जाती थीं और वे चुपचाप देखते रहते थे। उनके साथ दुर्व्यवहार होते थे, उन पर अत्याचार होते थे और वे निस्सहाय सब कुछ सह लेते थे। जीवन उनके लिए नीरस हो गया था। उन्हें चारों ओर अंधकार ही अंधकार दिखलाई देता था। वे निराशा के गर्त में डूब रहे थे। ऐसी दशा में स्वभावतः उनका ध्यान ईश्वर की ओर जाने लगा। वे ईश्वर से प्रार्थना करते लगे कि वह अत्याचारियों का दमन करे। उनके हृदय में भक्ति की धारा हिलोरें

लेने लगीं। यही कारण है कि उस समय के साहित्य में भक्ति की भावनाओं की प्रचुरता पाई जाती है। ज्ञानश्रयी, प्रेममार्गी, कृष्णभक्त और रामभक्त कवि अपने अपने ढंग से जनता की चित्तवृत्तियों का चित्रण करने लगे।

ज्ञानश्रयी कवियों ने हिन्दू-मुसलमानों के वैमनस्य को दूर करने के लिए "सामान्य भक्तिमार्ग" चलाया जिसमें हिंदुओं के अद्वैतवाद और मुसलमानों के खुदावाद दोनों के समान्य सिद्धान्तों का समावेश किया गया। यह बताया गया कि हिन्दुओं का ईश्वर और मुसलमानों का खुदा पृथक-पृथक नहीं एक ही है। प्रेममार्गी कवियों ने भी हिन्दू-मुसलमानों के भेदभाव को दूर करके उनको प्रेम-सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया। उन्होंने बतलाया कि ईश्वर या खुदा प्रेम-स्वरूप है। भक्ति आपस में प्रेम का व्यवहार करने से ही की जा सकती है, अन्यथा नहीं। पर कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों प्रकार के कवियों में से किसी के द्वारा भी हिन्दू-जनता की निराशा और खिन्नता दूर न हुई।

आगे चलकर सगुणोपासक कवियों ने ही हिन्दू-जनता का हृदय सँभाला। पहले सूरदास आदि कृष्ण-भक्त कवियों ने ईश्वर के अवतार कृष्ण का हँसता-खेलता हुआ रूप दिखलाकर हिन्दुओं की खिन्नता दूर की। उन्होंने कृष्ण की बाल-लीला और यौवन-लीला को लेकर बड़ी सरलता के साथ उनका वर्णन किया। उसका यह प्रभाव पड़ा कि जनता का जीवन सरस हो गया। पर अभी निराशा बनी हुई थी। जब तक वे ईश्वर का दुष्ट-दलनकारी रूप नहीं

देखते थे तब तक कैसे उनकी निराशा का उन्मूलन हो सकता था ? रामभक्त कवि तुलसीदासजी ने हिन्दू-जनता की चितवृत्ति को समझा और भगवान के अवतार राम का शक्ति-समन्वित रूप जनता में प्रतिष्ठित करके उसकी निराशा को सर्वदा के लिए विदा कर दिया। जनता ने राम में संहारक शक्ति का साक्षात्कार करके अपने अत्याचारियों के विनाश की भी आशा की। गोस्वामीजी ने राम के अवतार का कारण राक्षसों द्वारा पृथ्वी का व्यथित होना बतलाया और कह दिया—

जब जब होय धरम कै हानी।
बाढहिं असुर अधम अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी।
सीदहिं विप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब प्रभु धरि विविध शरीरा।
हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

इसी मूल मन्त्र के कारण हिन्दू जाति अब निराश नहीं है!

भक्तिकाल के बाद हिन्दू जाति के दिन फिरे अब उसके साथ मुसलमानों का वैसा व्यवहार नहीं होता था। हिन्दू और मुसलमान मिल जुलकर रहने लगे थे। मुसलमान शासकों ने हिन्दुओं को प्रसन्न करने के लिए कुछ हिन्दुओं को भी छोटे-छोटे भूभागों के शासक बना दिया था। कर्मण्यता और वीरतामय जीवन के अभाव और सब प्रकार के आरामों के बाहुल्य से शासकों में विलासिता बढ़ रही थी। मुग़ल बादशाह जहाँगीर और शाहजहाँ ने विलासिता हद कर दी थी। छोटे-मोटे राजा-महाराजा भी इसी धारा में प्रवाहित हो रहे थे। शासकों का प्रभाव शासितों पर पड़ना अवश्यम्भावी

था। 'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुसार जनता में भी विलासिता ने घर कर लिया था। परिणाम यह हुआ कि जनता की चित्तवृत्ति का चित्र खींचनेवाले कवियों ने हिन्दी काव्य को शृङ्गारमयी रचनाओं से भर दिया। कृष्ण और राधा की ओट लेकर इन शृङ्गारी कवियों ने कलुषित प्रेम की सतसहस्र उद्‌भावनाएँ कीं। अपने आश्रयदाता राजाओं की वासना की तृप्ति के लिए कुछ कवियों ने शृङ्गार रस को अश्लीलता की हद पर पहुँचा दिया। इस रस के एक एक अंग को लेकर स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना हुई। नायिका-भेद, नखशिख-वर्णन, षट-ऋतु-वर्णन और बारहमासा न जाने कितने कवियों की कविता के विषय रहे।

आधुनिक काल के काव्य में भी आजकल की प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः दृष्टिगत होती हैं। कवि इस समय की विशेषताओं का चित्रण अपनी रचनाओं में करते हैं। हम यहाँ पर आधुनिक काल की कतिपय विशेषताओं को लेकर बतलावेंगे कि आजकल के कवि किस प्रकार उनकी उद्‌भावनाएँ कर रहे हैं। पहले शोक की भावना लीजिए। आजकल शिक्षा के प्रभाव से हमारी महत्त्वकांक्षाएँ जाग्रत हो गई हैं, पर परिस्थितियाँ उनके अनुकूल नहीं। राजनीति-क्षेत्र में समाज दासत्व की बेड़ियों से जकड़ा हुआ पड़ा है। उधर सामाजिक कुरीतियां उसकी जड़ें खोखली कर रही हैं। बेकारी की समस्या ने मनुष्यों का जीवन नीरस बना दिया है। इन्हीं सब कारणों से समाज उदासीनता के सागर में निमग्न हो रहा है। कवि भी वेदना, करुणा, निराशा आदि की व्यंजना करते हुए देखे जाते हैं। देखिए सुमित्रानन्द पन्त क्या कहते हैं—

बिना दुख के सब सुख निस्सार ।
बिना आँसू के जीवन भार ॥

सुभद्राकुमारी चौहान का जलियांवाले बाग का वर्णन भी कैसा करुनाजनक है, देखिए—

परिमल हीन पराग दाग़ सा बना पड़ा है ।
हा यह प्यारा बाग खून से सना पड़ा है ॥

'प्रसाद' जी की 'आँसू' शीर्षक कविता में वेदना का जीता-जागता रूप है ।

राष्ट्रीयता की लहर भी अर्वाचीन समाज में उठ रही है । मैथलीशरन गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान, माखनलाल चतुर्वेदी आदि कवियों की कृतियों में उसके छींटे उड़ रहे हैं । गुप्तजी की 'भारत-भारती' राष्ट्रीयता का ज्वलंत उदाहरण है । सुभद्राजी की कविता 'राखी की चुनौती' भी राष्ट्रीय भावों से ओत प्रोत है, देखिए—

मेरा बन्धु माँ की पुकारों को सुनकर—
के तैयार हो जेलखाने गया है ।
छीनी हुई माँ की स्वाधीनता को
वह जालिम के घर में से लाने गया है ।

चतुर्वेदीजी का पुष्प क्या अभिलाषा करता है, देखिए—

चाह नहीं मैं सुर—बाला के गहनों में गूँथा जाऊँ ।
चाह नहीं, प्रेमी—माला बिंध, प्यारी को ललचाऊँ ॥
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि ! डाला जाऊँ ।
चाह नहीं, देवों के शिर पर चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ ॥

मुझे तोड़ लेना वनमाली ! उस पथ में देना तुम फेंक ।
मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक ॥

यह अछूतोद्धार का जमाना है । वियोगी हरि, मैथलीशरण गुप्त आदि की कविताओं में उसकी छाप देखी जाती है । वियोगी-हरि कहते हैं—

सुर-सरि औ अंत्यज दुहूँ; अच्युत–पद–संभूत,
भयौ एक क्यों छूत औ, दूजौ रह्यौ अछूत ॥

गुप्तजी कहते हैं—

इन्हें समाज नीच कहता है पर हैं ये भी तो प्राणी ।
इनमें भी मन और भाव हैं किन्तु नहीं वैसी वाणी ॥

स्त्रियों की दीनावस्था का अनुभव भी समाज कर रहा है । उनकी दशा के विषय में गुप्तजी कहते हैं—

नरकृत शास्त्रों के सब बन्धन हैं नारी ही को लेकर ।
अपने लिए सभी सुविधाएँ पहले ही कर बैठे नर ॥

इसी प्रकार वर्तमान काल की विशेषता, हिन्दू-मुस्लिम एकता, की भी छाप कवियों की रचनाओं में देखी जाती है । उन्होंने राम-रहीम का एकत्व प्रतिपादित करके हिन्दुओं और मुसलमानों के धार्मिक द्वेषों का अन्त करने का प्रयत्न किया है । देखिए एक कवि कहता है—

"हिन्दू-मुसलमान दोनों अब, छोड़े वह विग्रह की नीति ।"

यह समाजवाद का युग है । समाजवाद की सर्वत्र आराधना हो रही है । पूंजीवाद के विरुद्ध आवाज उठाई

जा रही है और किसान-मजदूरों के आन्दोलनों का बोल-बाला है। समय की इस विशेषता की झलक वर्तमान कविता में देखी जाती है। वर्तमान कवि कृषकों और श्रमिकों की दयनीय दशा का चित्र अँकित करते हुए आर्थिक असमानता का अन्त चाहते हैं। देखिए श्री भगवतीचरण वर्मा द्वारा चित्रित एक किसान की दशा—

"उसके वे बच्चे तीन, जिन्हें।
माँ-बाप का मिला प्यार न था॥
जो थे जीवन के व्यंग।
जिन्हें मारने का भी अधिकार न था॥
वे क्षुधाग्रस्त बिलबिला रहे।
मानो वे मोरी के कीड़े॥
वे निपट घिनौनी महापतित।
बौने कुरूप, टेढ़े-मेढ़े।
उसका कुटुम्ब था भरा-पुरा।
आहों से हाहाकारों से॥
फ़ाक़ों से लड़ लड़कर प्रति दिन।
घुट-घुटकर अत्याचारों से॥"

अतः स्पष्ट है कि कवि अपने समय का प्रतिनिधि होता है। ऐसा होना उसके लिए अनिवार्य है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है उसका वातावरण सामाजिक वातावरण है। समाज की परिस्थितियाँ, आकाँक्षाएँ और विचार मनुष्य को प्रभावित किए बिना नहीं छोड़ सकते। जो वह समाज से ग्रहण करता है वही अपने व्यक्तित्व की छाप के साथ अपनी रचनाओं के रूप में उसे सौंप देता है।

सभ्यता के विकास में काव्य का विकास

(१) प्रस्तावना—सभ्यता का अभिप्राय
(२) हृदय के परिष्कार के लिए काव्य की आवश्यकता
(क) भावों का उद्‌बोधन (ख) आचार का सुधार
(३) मैकौले का कथन और उसका त्रुटि-पूर्ण होना
(४) सभ्यता के साथ विज्ञान की उन्नति और विज्ञान तथा कविता में विरोध
(५) काव्य का जीवन की व्याख्या होने के कारण सभ्यता के विकास में सहायक होना
(६) काव्य का समाज का दोषान्वेषी होना और सदैव समाज में परिष्कार करते रहना
(७) काव्य-रचना न करनेवाली जातियों का असभ्य होना
(८) उपसंहार—काव्य के बिना किसी जाति का सभ्य न होना

सभ्यता से तात्पर्य किसी जाति या समाज के लोगों का संस्कृत हृदय, संस्कृत बुद्धि, संस्कृत वाणी, संस्कृति आचार-व्यवहार वाले होना है। जिस जाति में मनुष्यों के हृदय परिष्कृत होंगे उनकी बुद्धि विकसित होगी, उनके व्यवहार में शिष्टता पाई जायगी, वह जाति सभ्य कही जायगी। पर आजकल उसी जाति की सभ्यता विकसित कही जाती है जो बुद्धि का विकास कर लेती है, जो वैज्ञानिक आविष्कार द्वारा जीवन में परिवर्तन करती जाती है। आजकल परिवर्तन ही सभ्यता की कसौटी समझा जा रहा है। इसे कौन देखता है कि परिवर्तन बुरा है या अच्छा? इसी बात से खिन्न होकर एक कवि ने कहा है—

परिवर्तन ही यदि उन्नति है
तो हम बढ़ते जाते हैं,

किन्तु मुझे तो सीधे-सच्चे
पूर्व भाव ही भाते हैं।

वस्तुतः उन्नता की ओर अग्रसर करने वाला परिवर्तन सभ्यता का विकास कहा जा सकता है, अधोगति की ओर ले जाने वाला परिवर्तन नहीं। इसके अतिरिक्त सभ्यता के विकास के लिए बुद्धि के विकास मात्र से काम नहीं चलेगा। बुद्धि के साथ-साथ हृदय का भी परिष्कार परमावश्यक है। क्या ऐसा मनुष्य जिसका मस्तिष्क पर्याप्त विकसित है, जो खूब बुद्धिमान है, सभ्य कहा जा सकेगा यदि वह एक दीन-हीन भूख से तड़पती हुई बुढ़िया की आर्त पुकार से नहीं पिघलता ? क्या ऐसा मनुष्य सभ्य कहा जा सकेगा जो किसी-अबला पर अत्याचार होते देखकर अपने हाथ उसकी रक्षा के लिए नहीं बढ़ाता ? क्या ऐसा मनुष्य सभ्य कहा जा सकेगा जो नीति-रहित जीवन व्यतीत करता है ? कभी नहीं।

हृदय के परिष्कार के लिए काव्य का अस्तित्व नितांत आवश्यक है। कवि अपनी रचना में मानव-जीवन का चित्र उपस्थित करता हुआ हमें नीति की शिक्षा देता है, हमें सदाचार का पाठ पढ़ाता है, हमारे भावों का उद्बोधन करता है। मानव-जीवन की मार्मिक परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराती हुई कविता मनुष्य के भावों को जीवित रखती है उन पर सान चढ़ाती है। मनुष्य के कार्य उत्तरोत्तर जटिल एवं अधिक होते गए हैं। वह दिन भर पेट की समस्या हल करने के लिए कुछ-न-कुछ करता ही देखा जाता है। एक

मजदूर को देखिए जो प्रातःकाल से सायंकाल तक पसीने में तर हुआ इधर से उधर बोझा ढोता फिरता है। एक किसान को देखिए जो सवेरे सूर्योदय के पूर्व ही खेत जोतने को घर से बाहर निकल जाता है और संध्या के समय सूर्यास्त के पश्चात् घर लौटता है। एक दूकानदार को लीजिए जो अपनी दूकान पर बैठा हुआ दिन भर सौदा बेचता रहता है और पैसे गिनता रहता है। एक ही कार्य में सदैव संलग्न रहने के कारण मनुष्य का हृदय संकुचित हो जाता है। उसके हृदय में कई भाव; जिनकी आवश्यकता उसे अपने दैनिक जीवन में कभी नहीं पड़ती, मर जाते हैं और फिर कभी किसी अवसर पर यदि उन भावों की आवश्यकता भी आ पड़ती है तो वे पुनः जीवित नहीं होते। यही कारण है कि रुपये-पैसे गिनते हुए लालाजी एक अपाहिज भूखे की विनय को सुन कर टस से मस नहीं होते। उनके हृदय में दया का भाव नहीं उदित होता है। हो भी कैसे ? अपने दैनिक जीवन में उनको कभी उस भाव की आवश्यकता ही नहीं हुई। अतः वह भाव उनके हृदय में मर गया। हृदय के भिन्न-भिन्न भावों की संरक्षा कविता ही द्वारा हो सकती है। मनुष्य के जीवन में होने वाली घटनाओं का, जिनमें विविध प्रकार के भावों के उद्‌बोधन की सामग्री रहती है, आश्रय लेकर कविता मानव-हृदय को सजीव रखती है। उसके द्वारा भावों का व्यायाम होता रहता है। कोई कितना ही कार्य-भार से दबा रहता हो यदि वह कविता से सम्बन्ध रक्खेगा तो वह सदैव सहृदय बना रहेगा। उसके हृदय के सभी भाव जीवित रहेंगे और उपयुक्त अवसर पर जाग्रत भी हो जायेंगे। इस प्रकार कविता मानव-जीवन की सहायता

लेकर मनुष्य के हृदय के भावों को सुरक्षित रखती है, उनका परिष्कार करती रहती है और मनुष्य की मनुष्यता बनाए रखती है। कविता आचार को भी सुधारती है। उदाहरण के लिए 'रामचरित-मानस' नामक काव्य लीजिए। उसने कितने ही मनुष्यों के हृदय में पवित्रता का संचार किया है, कितने ही कुमार्ग पर चलने वालों को सन्मार्ग पर लाया है, कितने ही डूबते हुए लोगों को बचाया है, कितने ही मनुष्यों को शिष्ट एवं सभ्य बनाया है।

अतः स्पष्ट है कि सभ्यता के विकास में काव्य का महत्वपूर्ण स्थान है। पर मैकौले नामक एक अँगरेज विद्वान का कथन है कि सभ्यता के विकास के साथ काव्य का ह्रास होता है। यह कथन ठीक नहीं है। संभव है मैकौले महोदय बुद्धि के विकास में, वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण नए-नए परिवर्तनों में, सभ्यता का विकास देखते हों। निस्संदेह वैज्ञानिक संसार में काव्य का ह्रास देखा जाता है, किन्तु वैज्ञानिक उन्नति के ही कारण कोई जाति सभ्य नहीं कही जा सकती। सभ्यता के लिए जैसा कि अभी कहा जा चुका है मनुष्यता की अत्यन्त आवश्यकता है, और मनुष्यता काव्य बिना नहीं प्राप्त की जा सकती। अतएव सचमुच सभ्य जाति में काव्य की उन्नति ही देखने को मिलेगी, अवनति नहीं।

यह सच है कि जैसे-जैसे सभ्यता आगे बढ़ती जाती है वैसे-वैसे विज्ञान की भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। बुद्धि विकसित होकर नई-नई वस्तुओं के आविष्कार और प्राचीन वस्तुओं के अन्वेषण में संलग्न होती है। वैज्ञानिक प्रत्येक सांसारिक पदार्थ के मूल तक पहुँचना चाहते हैं।

विज्ञान के आचार्य जगत के बाह्यरूप का विवेचन करते हैं। वे तर्क-पद्धति से वस्तुओं की वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करते हैं। जब तक वे तर्क की कसौटी पर किसी बात को नहीं कस लेते तब तक वे उसमें विश्वास नहीं करते। कविता और तर्क में नहीं पटती। तर्क का सम्बन्ध मस्तिष्क से है और कविता का हृदय से। अतः कवि जो कुछ कहता है उसमें हृदय का व्यक्तीकरण रहता है, उसको सदैव तर्क की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। जो मनुष्य तर्क-प्रधान होगा वह कभी अच्छा कवि नहीं हो सकता। अच्छे कवि में तो हृदय की प्रधानता होनी चाहिए, भावों की तत्परता होनी चाहिए, प्रायः देखा जाता है कि विज्ञान और काव्य साथ-साथ उन्नति नहीं कर सकते। एक ही मनुष्य वैज्ञानिक और कवि नहीं हो सकता। पर समाज या जाति के कल्याण के लिए जितनी विज्ञान की आवश्यकता है उससे कहीं अधिक काव्य की है। मनुष्यता जिसके अभाव में मनुष्य पशु से भी नीचे गिर जाता है काव्य बिना नहीं प्राप्त की जा सकती।

काव्य जीवन की व्याख्या होने के कारण सभ्यता के विकास में सहायक होता है। इसमें सैकड़ों-हजारों वर्ष पहले के महानुभावों के जीवन-सम्बन्धी अनुभव सुरक्षित रहते हैं। इन अनुभवों की सहायता से हम अपना सुधार करके सभ्य बन सकते हैं। काव्य द्वारा हम अपने संकुचित क्षेत्र को छोड़कर समस्त जगत को अपना सम्बन्धी समझने लगते हैं। पशु, पक्षी मनुष्य आदि जीवधारी ही नहीं फूल-पत्ती, पत्थर, नदी-नाले आदि निर्जीव वस्तुएँ भी हमारे घेरे के अन्दर आ जाती हैं। सब के साथ हमारा तादात्म्य भाव स्थापित हो जाता है।

काव्य समाज के दोषों का उद्घाटन करता है, मनुष्यों को उन दोषों, के निराकरण के लिए उत्तेजित करता है। यदि किसी समाज में बाल-विवाह की कुरीति प्रचलित है तो काव्य इसके दुष्परिणाम दिखलाकर व्यक्तियों के हृदय में इस कुप्रथा के प्रति द्वेष भाव उत्पन्न करेगा। इस प्रकार समाज में परिष्कार करता हुआ वह जन-समुदाय का सदैव हित-साधना करता रहता है। निस्संदेह काव्य सभ्यता रूपी क्षेत्र को आलोकित करने वाला दीपक है।

प्रायः देखा जाता है जिन जातियों में काव्य-रचना नहीं हुई वे आज भी असभ्य हैं। असभ्य जातियों में ही काव्य का अभाव पाया जाता है। जो जाति जितनी ही अधिक सभ्य होगी उसका काव्य उतना ही उच्च कोटि का देखा जायगा। हमारे पूर्वज पूर्णतः सभ्य थे। यही कारण है कि हमारा प्राचीन काव्य संसार भर के काव्यों में सर्व-श्रेष्ट कहा जाता है। कालिदास, बाल्मीकि, गोस्वामी तुलसीदास आदि की रचनाएँ संसार के देदीप्यमान रत्न हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि मानव सभ्यता के विकास में काव्य का महत्वपूर्ण स्थान है। काव्य से विमुख होकर कोई भी जाति सभ्यता की दौड़ में आगे नहीं निकल सकती। चाहे कोई जाति कितनी ही अधिक विद्वान क्यों न हो, कितनी ही अधिक बुद्धिमान क्यों न हो उसने कितने ही अधिक वैज्ञानिक क्यों न उत्पन्न किए हों, पर यदि उसमें कवि नहीं हुए तो वह सभ्य नहीं कही जा सकती। भर्तृहरिजी उस मनुष्य को जो साहित्य (काव्य

आदि) की कला से अनभिज्ञ है पशु कोटि में रखते हैं, उसे पूर्ण असभ्य समझते हैं । वे कहते हैं—

साहित्य संगीत कला विहीनः
साक्षात् पशुः पुच्छविषाण हीनः ।
तृणं न खादन्नपि जीवमान
स्तद्भागधेयं परमं पशूनाम ।

कविता और मानव-जीवन

(१) प्रस्तावना—कविता और मानव-जीवन की घनिष्ठता
(२) कुछ लोगों के अनुसार कविता और जीवन में असम्बन्ध—इस कथन की समीक्षा
(३) कविता का मानव-जीवन के विविध पहलुओं के प्रत्यक्षीकरण द्वारा मनुष्य-समाज के लिए सहानुभूति का द्वार खोलना
(४) भावों के परिष्कार और उद्बोधन के लिए कविता की आवश्यकता
(५) कविता का मनुष्य को कार्य में प्रवृत्त कराने वाली होना
(६) मनुष्य को सदाचारी बनाने में कविता का हाथ
(७) कविता द्वारा मनोरंजन का विधान और मनोरंजन का जीवन में महत्व पूर्ण स्थान
(८) उपसंहार—सारांश

"कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और उसका निर्वाह होता है । " यह वह साधन है जिसके द्वारा मानव-हृदय का सम्बन्ध मनुष्यों, जीवधारियों और प्रकृति की भिन्न-भिन्न वस्तुओं के साथ स्थापित किया जाता है । यों तो

जड़-चेतन सभी कविता के क्षेत्र में अपना अस्तित्व रखते हैं, सभी का प्रतिपादन कविता करती है, पर मानव-जीवन से उसका घनिष्ट सम्बन्ध है।

मनुष्य स्वयं कविता का उत्पादक होता है और कविता में वह अपने जीवन-सम्बन्धी विचारों एवं अनुभवों का समाज को साक्षात्कार कराता है। जीवन की भिन्न भिन्न समस्याओं का उद्घाटन और अनेक प्रकार की दशाओं का प्रत्यक्षीकरण ही वह अपनी कविता में किया करता है। अंग्रेजी के समालोचक मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा है—Poetry is at bottom a criticism of life अर्थात् कविता वास्तव में जीवन की आलोचना है।

पर कुछ लोग कहा करते हैं कि कविता का जीवन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। कविता की दुनियां पंच-भूतात्मक नहीं। उसका इस संसार से कुछ भी सरोकार नहीं। इस प्रकार वे कविता को जीवन से भिन्न करना चाहते हैं। इसका दुष्परिणाम यह हो रहा है कि कविगण अपनी कविता में जीवन को स्थान नहीं दे रहे हैं। उनकी रचनाएँ जीवन से उदासीन होने लगी हैं। अनूठी उक्तियाँ कह देना ही आजकल कविता समझा जा रहा है! आजकल काव्य में जीवन की गम्भीर समस्याओं का विवेचन न रहकर सूक्तियों का बोलबाला है। यह सब 'कला कला ही के लिए', 'अभिव्यंजनावाद' आदि वादों का प्रसाद है। पर ऐसे लोगों को, जो कविता का जीवन से सम्बन्ध-विच्छेद करने के पक्षपाती हैं यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि कविता जीवन से मुँह मोड़कर कविता नहीं बनी रह

सकती, और चाहे जो कुछ बन जाय। इससे कविता का जो कुछ महत्व एवं सौन्दर्य है वह सब नष्ट हो जायगा। वह केवल वैचित्र्य-विधान का उपकरण मात्र रह जायगी। समाज को इससे बहुत हानि होगी।

कविता मानव-जीवन के विविध पहलुओं का प्रतिपादन करती हुई मनुष्य-समाज के लिए सहानुभूति का द्वार खोलती है। जब मनुष्य को शोक होता है तब वह 'रामचरित मानस' के विलाप करते हुए दशरथ की दशा देखकर अपने हृदय को हलका करता है। जब मनुष्य पर आपत्ति आती है तब वह वन में वल्कल वस्त्र धारण किए पैदल जाते हुए राम को देखकर अपने दुःख को वैसा नहीं समझता। ग्लानियुक्त हृदय भरत की आत्मग्लानि के दर्शन करके कुछ सान्त्वना पाता है। सैकड़ों बन्धु-बान्धव सहानुभूत दिखलाकर जो सान्त्वना नहीं प्रदान कर सकते उस सान्त्वना को कविता जीवन की ऊँची-नीची दशाएँ दिखलाकर सहज में दे सकती है। इसके अतिरिक्त मानव-जीवन से संबंधित होने के कारण कविता मनुष्य-समाज के हृदय को भी अधिक विस्तृत करती है, संकुचित नहीं रखती। मनुष्य अपने पारिवारिक संकीर्ण घेरे से बाहर निकलकर संसार के अन्य मनुष्यों को भी अपने कुटुम्ब के ही अन्तर्गत समझने लगता है और उनके साथ सहानुभूति दिखलाने लगता है। इस प्रकार जो जीवन सहानुभूति के अभाव में भार-स्वरूप एवं कटु हो सकता है उसे कविता अपने माधुर्य द्वारा हरा-भरा कर देती है।

मानव-जीवन की मार्मिक परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराती हुई कविता मनुष्य के भावों को जीवित रखती है, उसके

भूखे हृदय के लिए भोजन जुटाती है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य के कार्य भी जटिल एवं अधिक हो गए हैं। मनुष्य दिन भर पेट की समस्या हल करने के लिए कुछ न कुछ कार्य करता ही देखा जाता है। एक मज़दूर को देखिए जो प्रातःकाल से सायंकाल तक पीसने में तर हुआ इधर से उधर बोझा ढोता फिरता है, या एक किसान को देखिए जो सवेरे सूर्योदय के पूर्व ही खेत जोतने घर से बाहर निकल जाता है और सन्ध्या के समय सूर्यास्त के पश्चात् घर लौटता है या एक दूकानदार को देखिए जो अपनी दूकान पर बैठा हुआ दिन भर सौदा बेचता रहता है। एक ही कार्य में सदैव संलग्न रहने के कारण मनुष्य का हृदय संकुचित हो जाता है। उसके हृदय के कई भाव जिनकी आवश्यकता उसे अपने दैनिक जीवन में कभी नहीं पड़ती मर जाते हैं और फिर कभी यदि किसी अवसर पर उन भावों की आवश्यकता भी पड़ती है तो पुनः जीवित नहीं होते। यही कारण है कि रुपये पैसे गिनते हुए लालाजी एक आपद्ग्रस्त भूखी बुढ़िया की याचना को सुनकर टस से मस नहीं होते। उनके हृदय में दया का भाव नहीं उदित होता। हो भी कैसे? अपने दैनिक जीवन में उनको कभी उस भाव की आवश्यकता ही नहीं हुई। अतः वह भाव उनके हृदय में मर गया हृदय के भिन्न-भिन्न भावों की संरक्षा कविता ही द्वारा हो सकती है। मनुष्य के जीवन में होने वाली घटनाओं का, जिनमें विविध प्रकार के भाव मूल-रूप में रहते हैं, आश्रय लेकर कविता मानव-हृदय को सजीव रखती है। उसके द्वारा भावों का व्यायाम होता रहता है। कोई कितना ही कार्य-भार से दबा क्यों न रहता हो यदि वह कविता से सम्बन्ध रक्खेगा तो वह

सर्वदा सहृदय बना रहेगा। उसके हृदय के सभी भाव जीवित रहेंगे और उपयुक्त अवसर पाकर जाग्रत हो जायँगे। इस प्रकार कविता मानव-जीवन की सहायता लेकर मनुष्य को पशु होने से बचा लेती है, क्योंकि जिस मनुष्य का हृदय भाव-रहित है वह पशु के ही समान है। ऐसे मनुष्य के अस्तित्व से समाज को कोई लाभ नहीं पहुँचता।

मनुष्य को कार्य में प्रवृत्त करानेवाली वृत्ति हृदय में रहती है। मस्तिष्क द्वारा किसी कार्य के गुण-दोष विचार कर हम उसमें संलग्न या उससे विरत नहीं होते। प्रायः देखा गया है कि मनुष्य एक कार्य को लाभदायक जानता हुआ भी उसे करने के लिए तैयार नहीं होता, क्योंकि वह उसे अच्छा नहीं लगता, उसमें उसका हृदय योग नहीं देता। कर्म का सम्बन्ध मस्तिष्क से नहीं वरन् हृदय से है। यदि हृदय परिष्कृत होगा तो मनुष्य स्वभावतः अच्छे कार्य में प्रवृत होगा। कविता जहाँ हृदय के भावों को जीवित रखती है वहाँ उन्हें परिष्कृत भी करती रहती है। अतः स्पष्ट है कि मनुष्य के व्यवहार-क्षेत्र में भी कविता अपना स्थान रखती है।

मानव-जीवन को सदाचारी बनाने में कविता का विशेष हाथ रहता है। जिस मनुष्य को सैकड़ों उपदेशक या सुधारक शुद्ध मार्ग पर नहीं ला सकते उस मनुष्य को कविता चरित्र-सौन्दर्य का साक्षात्कार कराके शुद्ध मार्ग पर ला सकती है। आज तक न जाने कितने दुष्ट तथा दुराचारी गोस्वामी तुलसीदासजी का 'रामचरितमानस' पढ़कर या सुनकर सुधर गए हैं। गोस्वामीजी ने कविता द्वारा राम

के आदर्श चरित्र का प्रतिपादन करके हिन्दू-जनता को सदा-चार का पाठ पढ़ाया है। यदि वे राम के चरित्र-सौन्दर्य को गद्य में जनता के सम्मुख उपस्थिति करते तो उस पर वैसा प्रभाव न पड़ता। कारण स्पष्ट है। कविता में हृदय पर प्रभाव डालनेवाली जैसी शक्ति अन्तर्निहित रहती है वैसी गद्य में कहाँ? कविता तो सीधी हृदय में प्रवेश कर जाती है और उसे अपने वश में कर लेती है। कुछ लोगों का कथन है कि कविता का आचार से सम्बन्ध होने से उसके सौन्दर्य में कमी आ जाती है। अतः हमें कविता को आचार से पृथक् रखना चाहिए। पर यह विवाद ठीक नहीं प्रतीत होता। वास्तव में कविता का सदाचार से मेल होने पर ही वह सोने में सुगन्ध का गुण प्राप्त करती है। इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण गोस्वामी तुलसी-दासजी की कविता है।

मानव-जीवन में मनोरञ्जन का महत्वपूर्ण स्थान है। मनोरञ्जन के लिए मनुष्य अनेक प्रकार के खेलों की रचना करता है। बाल्यावस्था से लेकर वृद्धावस्था तक मनुष्य सदैव मनोरञ्जन चाहता रहता है। जीवन के कटु अनुभव भी मनोरञ्जन-सुधा का पान करते ही मधुर लगने लगते हैं। कविता मनोरञ्जन का एक साधन है। उदासीनता के गर्त में डूबे हुए हृदय को नारद-मोह का प्रसङ्ग सुना दीजिए और फिर देखिए उसकी उदासीनता कहाँ उड़ जाती है। वस्तुतः कविता के पढ़ने या सुनने से अलौकिक आनन्द को 'ब्रह्मानन्द सहोदर' कहा है। चाहे किसी रस की कविता क्यों न हो उससे आनन्द ही मिलेगा, मनोरञ्जन ही होगा।

सारांश यह है कि मानव-जीवन में कविता का अत्यन्त महत्व है और दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। वास्तव में कविता का जन्म जीवन से ही हुआ है और वह भी जीवन के लिए ही। हडसन नामक एक अँगरेज समालोचक ने ठीक ही कहा है—

"Poetry is made out of life, belongs to life and exists for life." अर्थात् कविता का आविर्भाव जीवन से होता है, वह जीवन की वस्तु है और उसका अस्तित्व भी जीवन के लिए है।

भारतवर्ष में सह-शिक्षा

(१) प्रस्तावना—भारतवर्ष पर पश्चात्य सभ्यता का प्रभाव
(२) शिक्षा का उद्देश्य—
(क) शारीरिक विकास (ख) मानसिक विकास (ग) आत्मिक विकास
(३) इन दृष्टियों से सह-शिक्षा की परीक्षा
(४) सह-शिक्षा में लड़कियों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का विकास न होना
(५) स्त्री और पुरुष के कार्य-क्षेत्रों की भिन्नता
(६) आर्थिक दृष्टि से सह-शिक्षा का समर्थन
(७) सह-शिक्षा द्वारा लड़के-लड़कियों का एक दूसरे को समझने लगना—इसकी समीक्षा
(८) उपसंहार—सह-शिक्षा का भारत के लिए अत्यन्त हानिकर होना

पाश्चात्य सभ्यता के झोंकों से आज भी हमारा देश भली-भाँति प्रभावित हो रहा है। शिक्षित-समुदाय इसी

सभ्यता-देवी की आराधना में संलग्न है। न जाने इसने क्या जादू डाल दिया है कि शिक्षित भारतीय इसी को सर्वश्रेष्ठ एवं आदर्श मानते हैं और इसी का अनुकरण करने में अपना गौरव समझते हैं। हाँ, इधर कुछ समय से विशेष शक्ति-सम्पन्न आत्माओं के आविर्भाव से देश में राजनैतिक तथा सामाजिक जाग्रति हुई है और उसके साथ-साथ हमारी गौरवपूर्ण प्राचीन संस्कृति का भी पुनरुत्थान हुआ है, परन्तु देश के अधिकांश व्यक्ति पाश्चात्य सभ्यता के ही पृष्ठिपोषक और अन्धभक्त हैं। वे भारतीय शिक्षा-पद्धति में भी पाश्चात्य देशों की शिक्षा के आधार पर परिवर्तन करते रहते हैं। कुछ दिनों से शिक्षा के क्षेत्र में सह-शिक्षा की दुन्दुभी बज रही है। परन्तु क्या इस प्रकार की शिक्षा हमारी मान-मर्यादा की रक्षा करेगी ? क्या यह देश की भावी उन्नति का मार्ग प्रशस्त करेगी ?

विषय में प्रविष्ट होने के पूर्व हमें शिक्षा का उद्देश्य समझ लेना नितान्त आवश्यक है। शिक्षा का लक्ष्य विद्यार्थी का शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विकास है। जीवन का साफल्य शरीर, मन और आत्मा के विकास में ही है। इन तीनों में से हम किसी अङ्ग की भी अवहेलना नहीं कर सकते। अतः कोई भी शिक्षा-पद्धति जो इन तीनों अङ्गों की समुचित उन्नति नहीं करती त्याज्य है। कुछ लोगों की धारणा है कि शिक्षा का ध्येय मानसिक विकास है, शारीरिक अथवा आत्मिक नहीं। परन्तु उस शिक्षा से लाभ ही क्या जो मस्तिष्क और मन को तो विकसित करती है परन्तु शरीर और आत्मा की उपेक्षा करती है ? वस्तुतः बिना शारीरिक स्वास्थ्य के मानसिक शक्ति की प्राप्ति नहीं

हो सकती । शरीर और मस्तिष्क में घनिष्ट सम्बन्ध है जैसा कि 'Sound mind in a sound body' (स्वस्थ शरीर में ही उत्तम मस्तिष्क पाया जाता है) उक्ति से स्पष्ट है । इसके अतिरिक्त हम आत्मा को भी नहीं छोड़ सकते । इस सम्बन्ध में टॉड (Todd) नामक एक अँगरेज कहता है—

The object of education is to enable the soul to fulfil her duties well here, and to stand on high vantage-ground when she leaves this cradle of her being for her eternal existence beyond the grave, अर्थात् शिक्षा का ध्येय आत्मा को संसार में अपने कर्त्तव्य सुचारु रूप से पालन करने के योग्य बना देना और उसे जब वह मृत्यु के अनन्तर अपने अस्तित्व के पालने को छोड़कर सनातन जीवन के लिए प्रस्थान करती है उत्कृष्ट पद पर आसीन कर देना है।

विद्यार्थी-जीवन में मनुष्य जो अच्छी अथवा बुरी बात सीख लेता है वे आजन्म उसकी संगिनी रहती हैं । उस अवस्था में वह उस कच्चे घड़े के तुल्य होता है जिस पर कैसा ही चिह्न बनाया जा सकता है। पक जाने पर घड़े पर से चिह्न मिटाए नहीं मिट सकता और न कोई चिह्न आसानी से बनाया ही जा सकता है । उसी प्रकार उसका स्वभाव अथवा आचरण परिवर्तित नहीं किया जा सकता । अतः आत्मोन्नति रूपी स्वर्ग के लिए विद्यार्थी-जीवन का सुदृढ़ सोपान है । आत्मा की उत्तरोत्तर उन्नति में ही मानव-जीवन का साफल्य है । अतएव वह शिक्षा जो आत्मा की उन्नति में सहायक नहीं वस्तुतः शिक्षा नहीं है । वह शिक्षा जिससे

विद्यार्थियों का चरित्र न बने, प्रत्युत उनका नैतिक पतन हो गर्हित और परित्याज्य है। अतः स्पष्ट है कि वही शिक्षा वास्तविक शिक्षा है जिससे विद्यार्थियों का शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक उत्थान हो। वही शिक्षा कल्याणकारी है जो शरीर, मस्तिष्क और आत्मा तीनों का सामूहिक विकास करे।

क्या सह-शिक्षा पुरुष तथा स्त्री के शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विकास में सहायक हो सकती है? पहले शरीर को लीजिए। स्वास्थ्य की दृष्टि से सह-शिक्षा की कोई उपयोगिता नहीं, प्रत्युत वह कुछ अंशों में हानिकर है। प्रकृति ने पुरुष को कठोर और स्त्री को कोमलांगी बनाया है। अतः स्त्री-पुरुष समान खेलों में भाग नहीं ले सकते। पुरुष ऐसे खेलों में भाग लेने के सर्वथा समर्थ है जिनमें अधिक परिश्रम, कठोरता एवं शारीरिक शक्ति वांछनीय है, परन्तु स्त्री इस प्रकार के खेल खेलने में असमर्थ है। लड़कियों के लिए फुटबॉल खेलना, हॉकी खेलना, उछलना, कूदना आदि हानिकर हैं। दौड़-धूप एवं उछल-कूद से उन्हें कई रोग हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के खेलों से स्त्री-सुलभ कोमल वृत्ति का भी हनन होता है। कठोर वृत्ति वाले लड़कों के साथ कठोर खेल खेलने के कारण उनका कठोर हो जाना संभव है जो गार्हस्थ्य जीवन की दृष्टि से अवांछनीय है। भविष्य में जब वे कठोर हृदया लड़कियाँ माताएँ बनेंगी तब वे अपनी संतान का किस प्रकार पालन-पोषण कर सकेंगी? कहना नहीं होगा कि माता के लिए कोमलता सहन-शक्ति आदि गुणों की नितान्त आवश्यकता है। कुछ लोग कह सकते हैं कि

लड़के और लड़कियाँ एक साथ ऐसे खेल क्यों न खेलें जिनमें अधिक शारीरिक शक्ति की आवश्यकता न हो और न जिनमें उछलना-कूदना पड़े। जैसे टैनिस, वैडमिंटन आदि। उत्तर में यही कहना होगा कि प्रकृति ने पुरुष और स्त्री की भिन्न-भिन्न प्रकार की रचना की है। उनके कार्य-क्षेत्र भी विभिन्न हैं। पुरुष को स्त्री की अपेक्षा अधिक शारीरिक शक्ति की आवश्यकता है। टैनिस और बैडमिंटन सरीखे खेलों से स्त्री के शरीर का भले ही व्यायाम हो जाय पर पुरुष के शरीर का समुचित व्यायाम नहीं हो सकता। अतः पुरुष और स्त्री के खेल समान नहीं हो सकते। स्त्री के लिए घूमना, तैरना, चक्की चलाना, वैडमिंटन खेलना, टैनिस खेलना, नृत्य, साधारण आसन आदि व्यायाम के लिए अच्छे साधन हैं। इस प्रकार सह-शिक्षा शारीरिक विकास में सहायक न होकर उसमें व्याघात उपस्थित करेगी।

हाँ, मस्तिष्क की उन्नति की दृष्टि से सह-शिक्षा किसी प्रकार बुरी नहीं।

आत्मिक विकास में अवश्य यह शिक्षा विघ्न डालती है। नैतिक दृष्टि से बालकों को १० या १२ वर्ष की आयु तक सह-शिक्षा प्रदान करने में कोई हानि नहीं है। परन्तु दाम्पत्य भाव के उदय होने पर इस प्रकार की शिक्षा वर्जनीय है, क्योंकि इससे व्यभिचार की उत्तेजना मिलेगी। युवावस्था में उद्दीपन होना सरल है। वह यह समय है जब बुद्धि रागों से प्रायः आक्रान्त रहती है। अतः युवकों और युवतियों का एक साथ रहकर अपनी रक्षा करना दुर्लभ है। प्रायः उनका पतन हो ही जाता है। वस्तुतः

प्रलोभनों के आ उपस्थित होने पर उनसे बचना टेढ़ी खीर है। कहा भी है—

काजर की कोठरी में कैसो हू सयानो जाय,
एक लीक काजर की लागि है पै लागि है ।

इसलिए सह-शिक्षा द्वारा इस प्रकार का दूषित वातावरण ही क्यों पैदा किया जाय कि हमारे नवयुवक तथा नवयुवतियाँ अपना नैतिक पतन कर बैठें ? यद्यपि हमारे देश में अभी कहीं-कहीं सह-शिक्षा का प्रारम्भ हुआ है तथापि बहुत-सी घृणित घटनाएँ सुनी जा रही है । पाश्चात्य देशों का तो कहना ही क्या, वहाँ की सह-शिक्षा के दुष्परिणामों से कोई भारतीय अनभिज्ञ नहीं। वहाँ के शिक्षा केन्द्रों में व्यभिचार का बाजार गरम है। पर वहाँ वाले उसे व्यभिचार नहीं समझते । अविवाहित स्त्री का अविवाहित पुरुष के साथ सम्बन्ध वहाँ नैतिक दृष्टि से बुरा नहीं माना जाता। वहाँ की स्त्रियाँ विवाह से पूर्व न जाने कितने पुरुषों से कोर्टशिप नहीं करतीं । क्या यह लज्जा की बात नहीं है ? क्या पाश्चात्य स्त्री-समाज की यही पवित्रता है ? क्या सभ्यता का राग अलापनेवाली पाश्चात्य जातियों में स्त्रियाँ इसी प्रकार अपने अधिकारों का सदुपयोग कर रही हैं ? हमारे यहाँ अविवाहित स्त्री और पुरुष का पारस्परिक सम्बन्ध अक्षम्य है । विवाहित पुरुष को पत्नीव्रत तथा विवाहित स्त्री को पतिव्रता होना हिन्दू संस्कृति के आदर्शानुसार है । हमारे यहाँ तो स्वप्न में भी परपुरुष या परनारी का चिन्तन हेय समझा जाता है । देखिये गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने 'रामचरितमानस' में इस आदर्श को राम के मुख से किस प्रकार कहलाया है—

मोहि अतिशय प्रतीति मन केरी ।
जेहि सपनेहु परनारि न हेरी ॥

कुछ लोग कह दिया करते हैं कि यदि सह-शिक्षा द्वारा इस प्रकार का व्यभिचार-पूर्ण वातावरण पैदा हो जाता है तो इसमें बुराई क्या है ? हमें अपने नव-युवक और नवयुवतियों को स्वतन्त्रता देनी चाहिए। वे जैसा ठीक समझें वैसा करें, जिसको चाहें अपना जीवन-साथी चुनें । नीति का ऐसा नियन्त्रण जब अन्य देशों में नहीं पाया जाता तब उसका इतना ध्यान भारतवर्ष में ही क्यों रक्खा जाता है ? इस विवाद का हमारे पास तो यही उत्तर है कि इस प्रकार की स्वतन्त्रता समाज को हितकर नहीं हो सकती । भारतवर्ष सदैव से सदाचारी एवं मर्यादा भक्त रहा है और हमारी समझ में उसका ऐसा बना रहना ही श्रेष्ठ है । जिस देश में, जिस समाज में, नीति का, आचारों का, आदर नहीं वह अवश्य किसी न किसी दिन संसार से मिट जायगा । इसके अतिरिक्त सह-शिक्षा से लड़कियों के सदैव संकोच में गड़े रहने के कारण उनका मानसिक तथा शारीरिक विकास स्वाभाविक नहीं हो पाता ।

समान शिक्षा से स्त्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का विकास नहीं हो सकता । मोघा (पंजाब) में बालकों की शिक्षा के जो प्रयोग हो रहे हैं उनसे देखा गया है कि एक ही आयु के लड़के घर, दुकान, हाथी, घोड़ा आदि बनाकर और लड़कियाँ चूल्हे, चक्की, गुड़ियाँ, बर्तन आदि बनाकर खेलते हैं । इससे प्रकट है कि लड़के और लड़कियों की स्वभाविक प्रवृत्तियाँ विभिन्न होती हैं । फिर समान शिक्षा किस प्रकार दोनों के अनुकूल हो सकती है ?

स्त्री और पुरुष की प्रकृति ही नहीं कार्य-क्षेत्र भी पृथक् पृथक् हैं। स्त्री का क्षेत्र गृह है और पुरुष का संसार। गृह की स्वामिनी स्त्री होती है और सांसारिक क्षेत्र का स्वामी पुरुष होता है। गृह के सभी कार्य—गृहस्थी का संचालन, बालकों का पालन-पोषण, भोजनादि की व्यवस्था सिलाई, बुनाई, कशीदाकारी, तीमारदारी संगीत, चित्र, नृत्यादि द्वारा मनोरञ्जन इत्यादि——स्त्रियों के करने के हैं। पुरुष के कार्य जीविकोपार्जन, संतान-शिक्षा, देश-सेवा, समाज-सेवा आदि हैं। इस प्रकार पूर्वजों ने स्त्री-पुरुष के कार्यों का विभाजन किया है। अतः लड़कियों को इस प्रकार की शिक्षा मिलनी चाहिए जो उनके कार्यों में सहायक हो सके और लड़कों को भी उनके कार्यों में योग देनेवाली शिक्षा मिलनी चाहिए। जब दोनों के क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं, तब यह कब संभव है कि सह-शिक्षा द्वारा लड़के-लड़कियों को समान रूप से शिक्षित करके भावी नागरिक बनाया जा सके ? कांग्रेस नेता श्रीयुत् भूलाभाई देसाई ने एक बार ठीक ही कहा था—"लड़कियों के लिए अलग शिक्षणालयों की इसलिए आवश्यकता नहीं कि वे लड़कों का मुक़ाबिला नहीं कर सकतीं, वरन् इसलिए कि लड़की लड़के से भिन्न है। प्रकृति उसे लड़के से भिन्न रखना चाहती है, और इस कारण उसके शारीरिक, मानसिक और सामाजिक गुणों की सर्वोत्तम संस्कृति और पूर्णतम विकास के लिए उसे विभिन्न परिस्थिति में रखना आवश्यक है। × × × × लड़कियों के लिए संगीत, बुनाई, गृह-प्रबन्ध, शिशुमनोविज्ञान, समाज-शास्त्र प्रभृति जिन विशेष विषयों के पढ़ाने की आवश्यकता है उनका समुचित प्रबन्ध लड़कों के शिक्षणालयों में नहीं हो सकता।" शायद पश्चात्य सभ्यता के पुजारी इस

विचार से सहमत न होंगे। वे कहेंगे कि स्त्री का कार्य-क्षेत्र गृह ही क्यों माना जाय ? क्या गृह के कार्यों को एक दासी नहीं कर सकती ? उनके अनुसार स्त्रियों का कर्तव्य पुरुषों के प्रत्येक कार्य में हाथ बँटाना है। इस सम्बन्ध में हमें यही कहना है कि मनुष्य-समाज का कल्याण स्त्री को गृह-स्वामिनी बनाने में ही है। गृह के आन्तरिक कार्य सांसारिक कार्यों से कुछ कम महत्व के नहीं हैं। कुछ अंशों में वे सांसारिक कार्यों से भी अधिक महत्व के हैं। अशिक्षिता तथा असंस्कृत दासी उनको सुचारु रूप से करने में असमर्थ है। इसके अतिरिक्त अपना कार्य अपने हाथों से ही अच्छा हो सकता है। क्या दासी द्वारा पाले गए बालकों पर मातृ शिक्षा और संस्कृति का कुछ भी प्रभाव पड़ सकता है ? कहने का तात्पर्य यह नहीं कि अवकाश मिलने पर भी स्त्रियाँ गृह-कार्यों के अतिरिक्त कोई कार्य न करें। वे अवकाशानुसार पुरुषों के कार्यों में भी हाथ बटा सकती हैं। घर के काम-काजों से छुट्टी पाते ही वे देश तथा समाज के कार्यों में भाग ले सकती हैं, पति को जीविकोपार्जन में सहायता दे सकती हैं। पर उनका प्रधान क्षेत्र गृह ही है। अन्य कार्य उनके लिए गौण हैं। अतः गृह को ही केन्द्र मानकर स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा का विधान होना चाहिए और गृह-व्यवस्था, पाक-शास्त्र, सिलाई-बुनाई, कशीदाकारी, स्वास्थ्य-विज्ञान, शिशुपालन, संगीत, नृत्य-कला चित्रकला आदि विषयों को प्रधानता मिलनी चाहिए। इस समय दिल्ली का लेडी इरविन कालेज और पूना का कर्वे-महिला विश्वविद्यालय इस दिशा में स्तुत्य कार्य कर रहे हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि भारतवर्ष की वर्तमान आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं है कि हम लड़कों एवं लड़कियों के पृथक पृथक विद्यालय खोल सकें। यह कथन ठीक हो सकता है। पर यदि प्रयत्न किया जाय तो यह कार्य ऐसा नहीं है जो न हो सके। आर्थिक स्थिति उतने महत्व की वस्तु नहीं है जितना हमारे बालकों और बालिकाओं का भावी जीवन। यदि हमें इस बात का अनुभव है कि सह-शिक्षा द्वारा अच्छे नागरिक नहीं पैदा किए जा सकते तो हमें चाहिए कि हम स्त्री और पुरुषों के लिए पृथक् पृथक् विद्यालय स्थापित करें और व्यय के लिए प्रबन्ध करें।

सह-शिक्षा के पक्ष में प्रायः यह कहा जाता है कि लड़के लड़कियाँ विद्यालय में साथ-साथ रहकर एक दूसरे के हृदय का, मन का, अध्ययन करने का अच्छा अवसर पाते हैं जो आगे चलकर उनके जीवन में बड़ा महत्वपूर्ण प्रमाणित होता है। लड़की लड़के को समझने लगती है और लड़का लड़की को। विवाह के समय स्त्री पुरुष की प्रकृति को जानती है और पुरुष स्त्री की प्रकृति को। अतः दोनों का जीवन सुख से व्यतीत होता है। ठीक है। पर क्या सह-शिक्षा द्वारा ही इस कार्य का सम्पादन किया जा सकता है? घर में लड़कियाँ अपने भाई, पिता, चाचा आदि के संसर्ग में रहकर पुरुष-जाति की प्रकृति का अच्छा अध्ययन कर सकती हैं। उसी प्रकार लड़का भी बहिन, भाभी, चाची, मातादि के साथ रहकर स्त्री-जाति की प्रकृति का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। तब समझ में नहीं आता कि सह-शिक्षा से ही इस कार्य का होना क्यों बतलाया जाता है?

वास्तव में सह-शिक्षा भारतवर्ष के लिए कभी कल्याण कर नहीं हो सकती। अन्य देशों में जहाँ इसका प्रचलन है वहाँ यह प्रायः असफल रही है। जर्मनी और इटली में इस पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए हैं। जिस भारतवर्ष में अनेक कुरीतियाँ प्रचलित हैं उस भारतवर्ष में सह-शिक्षा का प्रचार उसकी दशा ठीक उस मनुष्य की सी कर देगा जिसका गोस्वामीजी ने इस प्रकार वर्णन किया है—

ग्रह ग्रहीत पुनि वात वश, तेहि पर बीछी मार।
ताहि पिआइय वारुनी, कहहु कवन उपचार॥

हिन्दी-काव्य में करुण-रस

(१) प्रस्तावना—जगत की घटनाओं का चित्त पर प्रभाव; करुणा का जीवन में महत्व

(२) काव्य का प्रारम्भ करुण-रस से होना

(३) हिन्दी-काव्य के भक्ति-काल में करुण रस की रचनाएँ—

(क) तुलसी का करुण-रस (ख) सूर का करुण-रस (ग) जायसी का करुण-रस (घ) केशव का करुण-रस

(४) आधुनिक काल में करुण-रस की कविताएँ

(क) भारतेन्दुजी का करुण-रस (ख) मैथिली शरण का करुण-रस (ग) जयशंकर "प्रसाद" का करुण-रस (घ) सुमित्रानंदन पंत का करुण-रस (ङ) महादेवी वर्मा का करुण-रस (च) माखन लाल चतुर्वेदी का करुण-रस (छ) सत्यनारायण का करुण-रस (ज) सुभद्राकुमारी चौहान का करुण-रस (झ) कौशलेन्द्र का करुण-रस

(५) उपसंहार—करुण-रस द्वारा शीघ्र उन्नति की संभावना

सिनेमा के चित्रपट की भाँति वाह्य जगत की घटनाएँ चित्त पर अंकित हुआ करती हैं और उनके विविध प्रभाव उस पर निरंतर पड़ा करते हैं। उन्हीं के कारण मानव-प्रकृति में सदैव परिवर्तन हुआ करता है। कभी मनुष्य आनंदित होता है, कभी दुःखी। कभी वह प्रेम से अभिभूत होता है, कभी वह क्रुद्ध होकर दुष्टों को तलवार के घाट उतारता है। इस प्रकार मानव-हृदय-सागर में अनेकों भाव तरंगें उठा करती हैं। मानव-जीवन में दुःख और सुख की अनुभूति प्रभावशालिनी एवं महत्वपूर्ण होती है। सुख में हम इतराने लगते हैं और दुःख में डूबने। सुख में हम मदान्ध हो जाते हैं और दुःख में दीन। सुख में हम जीवन का वाह्य रूप देख पाते हैं, परन्तु दुःख में हमें उसके आन्तरिक रूप के दर्शन होते हैं। हृदय-तन्त्री से वेदना का गम्भीर एवं प्रभावशाली राग निकलता है और उल्लास का हलका एवं क्षणिक। कतिपय आचार्यों ने शृङ्गार रस को भले ही रसराज कहा हो, पर करुण रस के समान उसमें गंभीरता नहीं होती। करुणा जीवन का ठोस संगीत है। करुण रस के महत्व को स्वीकार करते हुए भवभूति कहते हैं—

> एकोरसः करुण एव निमित्त भेदादि्भन्नः
> पृथक पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
> आवर्त्त बुद्‌बुदतरङ्गमयान् विकारा—
> नम्भो यथा सलिलमेव तुतस्समग्रम्॥

काव्य का आदि ही करुण रस से हुआ है। वाल्मीकिजी ने व्याध द्वारा क्रौंच पक्षी के वध किए जाने पर उसकी माता की कारुण्य-पूर्ण चीत्कार से व्यथित होकर यह श्लोक कहा—

मा निषाद प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काम-मोहितम् ॥

हिन्दी-काव्य में करुण रस की पर्याप्त रचनाएँ मिलती हैं। हाँ, प्राचीन काव्य में उतनी नहीं मिलतीं जितनी आधुनिक काव्य में। पहले प्राचीन काव्य को लीजिए। वीरगाथा-काल में तो करुण रस पर कोई रचना नहीं हुई। भक्ति काल में अवश्य कुछ कविताएँ मिलती हैं जो करुण रस से भरी हुई हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा से सभी रसों का सन्निवेश अपनी रचनाओं में किया है। सभी रसों के क्षेत्रों में उनकी कीर्ति-पताका भगवती वीणा-पाणि के उच्चतम कर-कमलों में विद्यमान है। देखिए आपका करुण-रस-समुद्र किस सरसता से तरंगित है—

करि विलाप सब रोवहिं रानी।
महा विपति किमि जाइ बखानी॥
सुनि विलाप दुख हू दुख लागा।
धीरज हू कर धीरज भागा॥ (रामचरितमानस)

अयोध्या के इस कारुण्यपूर्ण दृश्य को देखकर किसका हृदय करुणार्द्र नहीं होगा ?

लक्ष्मणजी शक्ति लगने के कारण मूर्च्छित हो गए हैं। देखिए रामचन्द्रजी का दुःसह विलाप कैसा हृदय विदारक है—

मेरो सब पुरुषारथ थाको।
विपति बँटावन बंधु-बाहु बिनु करौं भरोसो काको ?
सुन सुग्रीव साँचेहु मोपर फेरयौ वदन विधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यों लषन सो भ्राता॥

गिरि कानन जैहैं शाखामृग हौं पुनि अनुज संघाती।
ह्वै है कहा बिभीषन की गति, रही सोच भरि छाती ॥ (गीता ली)

सूरदासजी ने यद्यपि अपने काव्य में वात्सल्य रस और शृङ्गार रस का ही समावेश किया है तथापि यत्र-तत्र उसमें करुण रस का पुट भी मिलता है। प्रिय के कुछ समय के लिए वियोग मात्र से जो दुःख या शोक हो वह विप्रलम्भ शृङ्गार के अन्तर्गत आता है। पर प्रिय के अनिष्ट या अनिष्ट की आशंका के कारण जो शोक हो वह करुण रस के अन्दर स्थान पाता है। देखिए यहाँ पर यशोदाजी कंस द्वारा कृष्ण के बुलाए जाने पर अनिष्ट की आशंका करती हुईं अत्यन्त दुःखी हैं—

यशोदा बार बार यों भाखैं।
है कोऊ ब्रज हितू हमारो चलत गोपालहिं राखै ॥
कहा काज मेरे छगन मगन को नृप मधुपुरी बुलायौ।
सुफलक सुत मेरे प्राण हनन को कालरूप इत आयौ ॥

जायसी के 'पद्मावत' में भी दो चार ऐसे स्थल हैं जहाँ पर करुण रस के स्रोते बहते हुए मिलते हैं। रत्नसेन के जोगी होने पर रानियाँ कैसे फूट-फूट कर रोती हैं। देखिए—

रोवहिं रानी तजहिं पराना।
नोचहिं बार करहिं खरिहाना ॥
चूरहिं गिउ-अभरन उर हारा।
अब का पर हम करहिं सिंगारा ॥

करुणा का जीता जागता चित्र है। बालों का नोंचना, आभूषणों का चूर्ण करना, हार्दिक वेदना की पराकाष्ठा दिखलाता है।

केशव की 'रामचन्द्रिका' में भी रामचन्द्रजी की कथा होने के कारण करुण रस की सामग्री का अभाव नहीं। दशरथ-मरण और लक्ष्मणजी के शक्ति लगना ये दो स्थल तो प्रधान हैं ही, पर केशव का करुण रस उतना मार्मिक एवं हृदयग्राही नहीं जितना गोस्वामीजी का है। लक्ष्मणजी के शक्ति लगने पर रामचन्द्रजी का विलाप देखिए—

लोचन बाहु तुहीं धनु मेरो।
तू बल विक्रम, वारक हेरो।
तो बिन हौं पल प्रान न राखौं।
सत्य कहौं कछु झूठ न भाखौं॥

रीति-काल में आकर करुण रस की सरिता सूख गई। कविगण विलासप्रिय राजा-महाराजाओं की वासना की परितृप्ति के लिए कलुषित प्रेम की उद्‌भावनाएँ करने लगे। शृङ्गार रस ने करुण रस को काव्य-क्षेत्र से निकाल बाहर किया।

आधुनिक काल में तो शोक का समुद्र बेतरह उमड़ा हुआ है। भारतेन्दुजी ने अपनी अलौकिक प्रतिभा से रीति-काल की कविता के गन्दे प्रवाह को रोककर देश में देश-भक्ति और समाज-सुधार की सुरसरी प्रवाहित की। इस प्रकार उन्होंने हिन्दी-कविता में क्रान्ति उपस्थित कर दी। तभी से करुण-रस-प्रधान रचनाओं के ढेर लगने लगे। आज हम पराधीन हैं। हमें पद-पद पर विदेशियों द्वारा अपमानित होना पड़ता है। फिर समाजिक कुरीतियाँ तथा देश की आर्थिक दशा प्रत्येक हृदय को क्षुभित करती हैं। यही कारण है कि आधुनिक काव्य वनस्थली में चारों ओर करुण-रस-पुष्प ही दिखलाई देते हैं। भारतेन्दुजी के 'भारत-

दुर्दशा' और 'सत्यहरिश्चन्द्र' नाटकों को ही पढ़िए, करुण रस की तरंगिनी बेतरह उमड़ती हुई पाइएगा । 'भारत-दुर्दशा' से एक नमूना देखिए—

रोवहु सब मिलि के आवहु भारत भाई ।
हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥

'सत्यहरिश्चन्द्र' में आदि से अंत तक करुण रस का ही साम्राज्य है । रोहिताश्व की मृत्यु पर शैव्या का क्रन्दन हृदय को चीरने वाला है। वहाँ शोक की पराकाष्ठा हो जाती है । देखिये हरिश्चन्द्र इस स्थान पर अपने प्राणप्रिय वत्स रोहिताश्व के दुःखों का स्मरण करके कैसा विलाप करते हैं—

जेहि सहसन परिचारिका राखति हाथहिं हाथ ।
सो तुम लोटत धूर में, दास बालकन साथ ॥
जाकी आयसु जग नृपति, सुनतहि धारत शीस ।
तेहि द्विज बहु आज्ञा करत, अहह कठिन अति ईश ॥
बिनु तन बेचे बिनु दिये, बिनु जग ज्ञान विवेक ।
देव सर्प दंशित भये, भोगत कष्ट अनेक ॥

मैथिलीशरणजी गुप्त की कृतियों में—प्रधानतः 'जयद्रथ-वध' और 'भारत-भारती' में—करुण रस का पूर्ण परिपाक हुआ है । गुप्तजी करुण रस के चित्रण में सिद्धहस्त हैं । सुभद्रा का लाल अभिमन्यु युद्ध में वीर—गति प्राप्त करता है । उसका क्षत-विक्षत शरीर उसकी पत्नी उत्तरा के अंक में रक्खा है और वह फूट-फूट कर रो रही है—

हा ! आज तुम मुझ किङ्करी को कौन से अपराध में—
हे नाथ ! तजते हो यहाँ तुम शोक-सिंधु अगाध में ?

तज दो भले ही तुम मुझे, मैं नहीं तज सकती तुम्हें,
वह थल कहाँ पर है जहाँ प्रिय मैं न भज सकती तुम्हें ?

+ + + +

फिर पीट कर सिर और छाती अश्रु बरसाती हुई,
कुररी-सदृश सकरुण गिरा से दैन्य दरसाती हुई ।

यह है मूर्तिमान करुण रस । अभिमन्यु के देहान्त पर उत्तरा छटपटा रही है । पाठक का हृदय इन करुणोद्गारों को पढ़कर उमड़ आता है और अश्रु बरबस निकल ही पड़ते हैं । मरते समय अभिमन्यु का यह कथन—

हे तात ! हे मातुल ! जहाँ हो है प्रणाम तुम्हें वहीं,
अभिमन्यु का इस भाँति मरना भूल मत जाना कहीं ।

कितना मर्मस्पर्शी, कितना हृदय हिला देने वाला है । कौन भूल सकता है ऐसी मृत्यु को ? 'भारत-भारती' में देश की दीन-हीन दशा का वर्णन है जो करुणा से परिपूर्ण है । गुप्तजी की 'यशोधरा' से करुणा रस का यह चित्र लीजिए—

अबला जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी ।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी ॥

श्री जयशंकर 'प्रसाद' के काव्य में भी करुणा की, वेदना की, प्रचुरता है । उनकी कविता को पढ़कर पाठक मूक वेदना में मग्न हो जाता है । 'आँसू' शीर्षक कविता में वेदना का साम्राज्य है, देखिए—

इस करुणा-कलित हृदय में,
क्यों विकल रागिनी बजती ?
क्यों हाहाकार स्वरों में,
वेदना असीम गरजती ?

उनकी वेदना में रागिनी बजती है। एक स्थान पर वे लिखते हैं—

जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तिस्क में स्मृति सी छाई।
दुर्दिन में आँसू बन कर वह आज बरसने आई॥

पं० सुमित्रानन्दन पंत की कविता में नैराश्यजनित विषाद की व्यंजना पाई जाती है। पंतजी कविता की रचना के लिए दुःखवाद की आवश्यकता मानते हैं। वे कहते हैं—

कल्पना में है कसकती वेदना,
अश्रु में जीता सिसकता गान है।
शून्य आहों में सुरीले छन्द है,
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है।
वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान।

एक स्थान पर तो पन्तजी यहाँ तक कह जाते हैं कि बिना दुःख के जीवन सरस नहीं हो सकता। देखिए—

बिना दुःख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार।

श्रीमती महादेवी वर्मा की कविता भी करुण-रस से ओत-प्रोत पाई जाती है। आपका दुःख विश्वव्यापी है, वही आपका सर्वस्व है—

मेरी आहें सोती हैं,
इन ओठों की ओटों में।

मेरा सर्वस्व छिपा है,
इन दीवानी चोटों में ॥
चिंता क्या है, हे निर्मम,
बुझ जाए दीपक मेरा ।
हो जाएगा तेरा ही,
पीड़ा क्या राज्य अंधेरा ।

पं० माखनलाल चतुर्वेदी की भी कुछ कविताएँ करुणा-रस से भरी हुई होती हैं । देखिए—

जम्बुकेश ! चलो,—जहाँ संहार है ।
वन्य पशुओं का लगा बजार है ॥
आज सारी रात कूकेंगे वहीं ।
मोम-दीपों का मरण त्यौहार है ॥

इसमें कितनी करुणा, कितनी वेदना भरी है ! सत्यनारायण जी का तो जीवन ही करुणामय था । वेचारे 'भैया क्यों अन-चाहत को संग' कहते हुए आह भरा करते थे यह कटीली झाड़ी में उत्पन्न हुआ पुष्प अध-खिला ही मुरझा गया । साँस की वीमारी से क्षुभित हो कर उन्होंने एक स्थल पर कहा है—

बस अब नहिं जाति सही ।
विपुल वेदना विविध भाँति ॥
जो तन-मन व्यापि रही ।
कबलों सहैं, अवधि सहिबे की कछु तो निश्चित कीजे ।
दीन बन्धु, यह दीन दशा लखि, क्यों नहीं हृदय पसीजै ॥

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान की जालियाँ वाले बाग में वसंत' शीर्षक कविता पढ़कर हृदय में हूक उठती है। देखिए—

परिमल-हीन पराग दाग सा बना पड़ा है ।
हा ! यह प्यारा बाग खून से सना पड़ा है ।।
आओ प्रिय ऋतुराज किन्तु धीरे से आना ।
यह है शोक-स्थान यहाँ मत शोर मचाना ।।

'कौशलेन्द्रजी' तो साक्षात करुण रस के अवतार थे । अभाग्यवश वे अधिक दिन जीवित न रह सके, अन्यथा वे निर्विवाद करुण रस के सर्वश्रेष्ठ कवि होते । उनका करुण-चित्रण हृदय में कसक पैदा कर देता है । उसमें एक मरोड़-विशेष रहती है । उनकी 'मरणोन्मुखी' शीर्षक रचना करुण-सागर का बहुमूल्य रत्न है । उसकी कुछ पंक्तियाँ देखिए—

'कौशलेन्द्र' सुख से मैं मरती हूँ प्रेमधन !
मेरी याद करके कभी न खिन्न होना तुम ।
लीजिए प्रणाम, गुरुजन सामने हैं, हाय—
लाज धुल जायगी, न मेरे लिए रोना तुम ।

'बधिक से' शीर्षक रचना की भी कुछ पंक्तियाँ देखिए—

मरते सभी हैं हमें डर मरने का नहीं,
मार कर हमको न आप कुछ पाएँगे ।
होगा अपकार रम जायगा कुरङ्ग-कुल,
जग में कभी न तुम्हें भोले पतिआएँगे ।
'कौशलेन्द्र' हमें बस शोक इतना है, जब,
प्यारे मृग खोज में हमारी यहाँ आएँगे,
सूनी विपनस्थली विलोकि दूनी होगी व्यथा,
उर भर आएँगे, नयन भर लाएँगे ।

सारांश यह है कि हिन्दी काव्य में करुण रस की अनुपम विभूतियाँ विद्यमान हैं। वस्तुतः करुण रस का प्रभाव गम्भीर और स्थायी होता है। उससे हमारी कोमल वृत्तियाँ एकदम जाग्रत हो जाती हैं। वर्तमान काल में करुण रस-प्रधान काव्य द्वारा हमारी उन्नति बहुत शीघ्र हो सकती है। देश की पराधीनता, सामाजिक पतन, शोचनीय आर्थिक दशा आदि विषयों पर उपदेश या व्याख्यान देकर जो जाग्रति देश में कई वर्षों में संभव होगी वह करुण रस की कविताओं द्वारा शीघ्र हो सकेगी, इसमें सन्देह नहीं।

साहित्य का समाज पर प्रभाव

(१) प्रस्तावना—साहित्य का लक्षण
(२) बाल्यावस्था से ही मनुष्य का साहित्य से प्रभावित होना
(३) साहित्य के बिना मस्तिष्क का विकास न होना
(४) संसार के इतिहास का इस बात का साक्षी होना कि साहित्य ने समाज में बड़े-बड़े परिवर्तन किए हैं
(५) भारतवर्ष का उदाहरण—
(क) साहित्य की धार्मिकता का समाज को धार्मिक बनाना (ख) साहित्य के आदर्शवाद का महान आत्माओं को जन्म देना (ग) साहित्य में वीर रस और देशभक्ति की रचनाओं के अभाव से हमारा पराधीन होना (घ) शृङ्गारी रचनाओं से विलासिता और अकर्मण्यता फैलना
(६) उपसंहार—सारांश

साहित्य किसी जाति के महानुभावों के विचारों, भावनाओं और अनुभवों का लिखित भंडार है। जिस प्रकार

मस्तिष्क में मनुष्य के अनुभव संचित रहते हैं, उसी प्रकार साहित्य में मनुष्य-समाज के अनुभव एकत्रित रहते हैं। वर्सफोल्ड नामक एक अँगरेज समालोचक ने कहा भी है— Literature is the brain of humanity. अर्थात् साहित्य मानव-समाज का मस्तिष्क है। अतः किसी जाति के साहित्य को हम उस जाति की सभ्यता और संस्कृत का निर्देशक कह सकते हैं। जैसी उन्नत या अवनत जाति की दशा होगी वैसा ही उसका साहित्य होगा। साहित्य को समाज का दर्पण कहा जा सकता है।

पर क्या साहित्य का भी समाज पर कुछ प्रभाव पड़ता है ? क्या साहित्य समाज के बनाने-बिगाड़ने में कुछ योग देता है ? बाल्यावस्था से ही जब मनुष्य लिखना-पढ़ना सीखता है वह अपने साहित्य से प्रभावित होने लगता है। बालकों के लिए जो पाठ्य पुस्तकें बनाई जाती हैं उनमें साहित्य का रूप भी कुछ-न-कुछ रहता ही है। फिर जैसे-जैसे बालक बड़ा होता जाता है वह साहित्य के अधिक सम्पर्क में आता जाता है। यह वह अवस्था होती है जब मनुष्य पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। अतः जब वह साहित्य के सम्पर्क में आता है तब उससे प्रभावित भी होता है। बड़ा होकर जब वही बालक सांसारिक कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होता है तब वह साहित्य की प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत रहता है। इस प्रकार समाज के अङ्गों (व्यक्तियों) पर साहित्य का प्रारम्भिक तथा स्थायी प्रभाव पड़ता है और वह प्रभाव सामाजिक उन्नति या अवनति का एक अङ्ग हो जाता है। साहित्य मनुष्य के जीवन में घुल-मिल जाता है। सुख में,

दुःख में, सम्पत्ति में, विपत्ति में, मनुष्य उसका सहारा लेता है।

यदि साहित्य से हम अपना सम्बन्ध तोड़ बैठें तो हमारे मस्तिष्क का विकास और वृद्धि रुक जायगी, क्योंकि साहित्य मस्तिष्क के लिए भोजन का कार्य करता है। साहित्य के अभाव में हमारा मस्तिष्क समाज के अर्जित एवं संचित ज्ञान-भण्डार से वंचित रह जायगा। जैसे शरीर की उन्नति पंचभूतों—पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और अग्नि की—उपयुक्तता पर निर्भर है उसी प्रकार मानसिक उन्नति साहित्य की अनुकूलता पर अवलम्बित है। जैसे शरीर की रक्षा भोजन से होती है वैसे ही मस्तिष्क की रक्षा साहित्य से होती है। जैसे यदि शरीर को भोजन न मिले तो वह जीवित नहीं रह सकता उसी प्रकार मस्तिष्क को यदि साहित्य-रूपी भोजन न मिले तो वह शक्तिहीन हो जाता है। शक्तिहीन मस्तिष्क से समाज को बहुत हानि होती है। उसकी उन्नति रुक जाती है, सभ्यता का विकास नहीं हो सकता और ज्ञान-प्रसार का द्वार बन्द हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि साहित्य के अभाव से समाज के व्यष्टि और समष्टि दोनों रूपों को भारी हानि पहुँचती है।

संसार का इतिहास हमें बतलाता है कि मनुष्यों की सामाजिक दशा में साहित्य ने कैसे परिवर्तन किए हैं। फ्रांस की राज्यक्रान्ति का बीज रूसो और वालटेअर के लेखों में अंतर्निहित था। इटली के उत्थान में मैजिनी के लेखों ने हाथ बटाया। रस्किन के लेखों ने इँगलैण्ड के अर्थ-शास्त्रियों के कान खड़े कर दिए और तदनुसार पीछे

बहुत कुछ सुधार हुए। रूस का राज्यविप्लव वहाँ के साम्यवादी साहित्य के कारण हुआ। न्यूटन, अरस्तू, प्लेटो आदि महापुरुषों की कृतियों ने मनुष्य-समाज के ज्ञान को बढ़ाया है। विज्ञान द्वारा जो कुछ आविष्कार हुए हैं अथवा हो रहे हैं वे सब साहित्य का ही प्रसाद हैं। एक वैज्ञानिक पहले अपने विषय के सब साहित्य का अध्ययन करता है, फिर स्वयं अपने मस्तिष्क द्वारा अन्वेषण-कार्य में संलग्न होता है। यदि उसके अध्ययन के लिए कोई साहित्य न हो तो वह कुछ भी नहीं कर सकता, वह समाज के ज्ञान को नहीं बढ़ा सकता।

हिन्दुस्तान का इतिहास भी वही कहानी कहता है जो अन्य देशों का इतिहास कहता है। भारतीय साहित्य में धार्मिक भावों की प्रचुरता रही है। हमारे यहाँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसको स्थान दिया गया है। यहाँ तक कि राजनीति भी धर्म के घेरे से बाहर नहीं जाने पाई है। हमारे साहित्य पर धर्म के इस विस्तृत प्रभाव ने समाज को दो रूपों में प्रभावित किया है। एक ओर तो प्रत्येक हिन्दू के हृदय में धर्म ने गहरी जड़ जमाली है। खान-पान में, वस्त्रों में, रहन-सहन में वह धर्म का ध्यान रखता है। वह उसको कभी नहीं भूल सकता। छोटी-छोटी बातों में भी धर्म उसका साथ नहीं छोड़ता। यहाँ तक कि चौके के बाहर भोजन करने से उसका धर्म बिगड़ जाता है। दूसरी ओर प्रत्येक हिन्दू व्यावहारिक जीवन के प्रति उदासीन बन गया है। प्रत्येक हिन्दू यह मानता है कि उसके जीवन का उद्देश्य सांसारिक आमोद-प्रमोद नहीं है। उसे तो यहाँ उदासीनता के साथ जीवन व्यतीत करते हुए स्वर्ग का मार्ग

परिष्कृत करना है। उसे संसार के प्रलोभनों में फँसकर अपने पावन अनुष्ठान से पतित नहीं होना चाहिए। इस प्रवृत्ति का दुष्परिणाम यह हुआ है कि हमारी सांसारिक उन्नति नहीं हो सकी है। हमने प्राचीन समय में आध्यात्मिक क्षेत्र में तो पर्याप्त ख्याति पा ली, पर संसार को महत्व न देने के कारण उसकी समस्याओं पर अधिक ध्यान नहीं दिया। हमने स्वतन्त्रता का मूल्य न जाना और पराधीन रहना बुरा न समझा।

भारतीय साहित्य की प्रवृत्ति आदर्शवाद की ओर रही है। हमारे यहाँ सर्वदा साहित्य में सद्गुणों की दुर्गुणों पर विजय दिखलाई गई है। आचार्यों ने काव्य के नेता में उदात्त वृत्तियों का होना आवश्यक ठहराया है। प्राचीन साहित्य को छान डालिए, कहीं भी नायक में उदात्त गुणों का अभाव न मिलेगा। अन्त में प्रतिपक्षियों को पराजित करके नायक की विजय ही हमारे सभी प्राचीन काव्यों ने दिखलाई है। इस विशेषता का परिणाम यह हुआ है कि हम सदैव से सदाचार-प्रेमी रहे हैं। हमारे समाज ने एक से एक पुनीत आत्माओं को जन्म दिया है। वर्तमान काल में भी गांधीजी प्रभृति महान् आत्माएँ हैं, गोस्वामी तुलसीदासजी की रचनाओं पर दृष्टिपात कीजिए। उन्होंने अपने काव्य के नायक राम में सद्गुणों की पराकाष्ठा दिखलाई है। उनमें जैसा शील देखा जाता है वैसा अन्यत्र पवित्रता का प्रतीक दुष्प्राप्य है। 'विनय-पत्रिका' नामक रचना से राम के शील का एक चित्र यहाँ उद्धृत किया जाता है। देखिए—

सिला साप-संताप बिगत भइ परसत पावन पाउ।
दई सुगति सो न हेरि हरष हिय, चरन छुए पछिताउ ॥

भव धनु भंजि निदरि भूपति भृगुनाथ खाइ गए ताउ ।
छमि अपराध, छमाइ पाँइ परि, इतौ न अनत समाउ ॥
कह्यो राज, बन दियो नारिबस, गरि गलानि गयो राउ ।
ता-कुमातु को मन जोगवत ज्यों निज तनु मरम कुघाउ ॥
कपि सेवा बस भए कनौड़े, कह्यौ, पवनसुत आउ ।
देवे को न कछू रिनियाँ हौं, धनिक तू पत्र लिखाउ ॥

राम के इस हृदयग्राही स्वभाव ने न जाने कितने मनुष्यों को डूबने से नहीं बचा लिया है, न जाने कितने मनुष्यों ने इसके सहारे आचरण को सुधार कर अपना कल्याण नहीं किया है। 'जेहि सपनेहु परनारि न देखी' सरीखी पंक्तियाँ तो प्रत्येक हिन्दू का कंठहार हो रही हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे साहित्य ने चरित्र-निर्माण में बहुत योग दिया है।

हमारे साहित्य में वीर रस तथा देशभक्ति-सम्बन्धी रचनाओं का प्रायः अभाव-सा है। भूषण, सूदन आदि कुछ इने-गिने कवियों के अतिरिक्त किसी ने वीर रस की रचनाएँ नहीं की हैं। देशभक्ति की रचना तो शायद ढूँढ़ने से एक भी नहीं मिलेगी। इसका प्रभाव भी हिन्दू समाज पर गहरा पड़ा है। यह हमारी पराधीनता का एक कारण है। हमारे हृदय में वीरता या देशभक्ति का कभी संचार नहीं हुआ। हमने अकर्मण्य बने रहकर प्रतिपक्षियों से कभी लोहा न लिया। यही कारण है कि हमारे ऊपर विदेशियों ने शासन किया और आज भी कर रहे हैं।

साहित्य में शृङ्गार रस की प्रचुरता ने समाज में विलासिता को बढ़ाया। रीतिकाल की शृङ्गारमयी रचनाओं ने

जनता को विलासिता के गर्त में डुबो दिया। राजा और प्रजा दोनों समान रूप से विलासमय जीवन व्यतीत करने लगे। दोनों में अकर्मण्यता छा गई।

वर्तमान काल में भी साहित्य समाज को प्रभावित कर रहा है। सबसे अधिक प्रभाव अँगरेजी साहित्य का पड़ा है। अँगरेजी साहित्य देशभक्ति के उद्गारों से ओत-प्रोत है। उसके अध्ययन से भारतवासियों के हृदय में चिरकाल से सुसुप्त देशप्रेम का भाव आज जाग गया है। यही कारण है कि आज भारतवर्ष में देश-प्रेम की लहरें उठ रही हैं। आज भारतवासी अपनी मातृ-भूमि की बेड़ियाँ काटने के प्रयत्न कर रहे हैं। देश का साहित्य भी राष्ट्रीय भावनाओं को प्रकट करके समाज को उनमें तल्लीन कर रहा है। कहीं पर कोई कवि फूल से इस प्रकार अभिलाषा प्रकट करा रहा है—

मुझे तोड़ लेना बनमाली, उस पथ में देना तुम फेंक।
मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक॥

तो कहीं पर कोई कवि अपने पात्र से जन्म-भूमि के प्रति इस प्रकार कहला रहा है—

मैं हूँ तेरा सुमन चढ़ूँ सरसूँ कहीं।
मैं हूँ तेरा जलद बहूँ बरसूँ कहीं॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि साहित्य सर्वदा समाज को अपने रंग में रँगता रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि समाज भी साहित्य को अपने रंग में रँगता रहता है। साहित्य और समाज में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। कभी एक दूसरे के प्रभाव से परे नहीं हो सकता।

"Poet and the age react upon each other" अर्थात् कवि और समय एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं। समाज की उत्पत्ति होती है। अतः पहले समाज साहित्य को प्रभावित करता है और फिर स्वयं उससे प्रभावित होता है। साहित्य और समाज का यह सम्बन्ध कभी नहीं टूट सकता। कारण यह है कि साहित्य का उत्पादक मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वस्तुतः साहित्य देश की उन्नति के लिए एक नितान्त आवश्यक साधन है। किसी ने ठीक ही कहा है—

अंधकार है वहीं, जहाँ आदित्य नहीं है।
मुर्दा है वह देश, जहाँ साहित्य नहीं है।

साहित्य और आलोचना

(१) प्रस्तावना—साहित्य के लिए आलोचना की आवश्यकता
(२) साहित्य में आलोचना के उद्देश्य—
(क) गंदे और कुरुचिपूर्ण साहित्य की रोक (ख) सत्साहित्य की वृद्धि
(३) कलावादियों का विश्वास और उसका खंडन
(४) कुछ लोगों की दृष्टि में समालोचना की अनावश्यकता ; इस मत का खंडन
(५) समालोचना के भेद—
(क) व्याख्यात्मक, (ख) निर्णयात्मक और (ग) तुलनात्मक
(६) आलोचक के गुण—
(क) निष्पक्षता, (ख) बुद्धि, (ग) आलोच्य विषय में पांडित्य
(७) उपसंहार—सारांश

संसार में न जाने कितनी वस्तुएँ हैं, पर जब तक हमें उनके गुण-दोष नहीं मालूम तब तक हम किस प्रकार उनमें से गुण-वाली वस्तुओं का ग्रहण और दोषयुक्त वस्तुओं का त्याग कर सकते हैं ? जब तक हम यह नहीं जानते कि विष प्राण-घातक है तब तक हम कैसे उससे दूर रह सकेंगे ? यदि हमें दूध की शरीर-पोषक विशेषताओं का ज्ञान नहीं है तो हम क्यों उसको अपने खाद्य पदार्थों में स्थान देंगे ? वास्तव में संसार में नित्य-प्रति व्यवहार में आने वाली वस्तुओं की विशेषताओं के परिचय बिना मानव-जीवन असंभव है। अतः मनुष्य-समाज प्राचीन-काल से भिन्न-भिन्न पदार्थों की परीक्षा करता हुआ तद्विषयक ज्ञान की अभिवृद्धि करता रहा है। अनेक विज्ञान प्रकृति के अंगों का अध्ययन करने में संलग्न हैं। नई नई बातों का अन्वेषण हो रहा है। इसी प्रकार मनुष्य साहित्य के गुण दोष भी परखते हैं। साहित्य और समाज में घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्य से समाज सदैव प्रभावित होता रहता है। ऐसी दशा में अत्यन्त आवश्यक है कि साहित्य पर आलोचना का नियन्त्रण रक्खा जाय जिससे कुरुचिपूर्ण साहित्य द्वारा समाज का रूप विकृत न हो जाय।

साहित्य में आलोचना का उद्देश्य गन्दी और कुरुचिपूर्ण रचनाओं तथा सत्साहित्य की वृद्धि करना है। समालोचना साहित्य-सागर के मोतियों और कंकड़-पत्थरों को ढूँढ़ निकालती है और उनको पृथक्-पृथक् मानव-चक्षुओं के समक्ष उपस्थित करती है। यह वह कसौटी है जिस पर कस कर किसी ग्रन्थ का मूल्य निर्धारित किया जा सकता है। साहित्य जीवन की व्याख्या है। आलोचना उस व्या-

ख्या की भी व्याख्या करती है। किसी ग्रन्थ के पढ़ने से पूर्व उसके गुण-दोष जान लेना आवश्यक है। प्रत्येक पाठक यह जानना चाहता है कि अमुक ग्रन्थ कैसा है, उसको पढ़ना चाहिए अथवा नहीं, उसके पढ़ने से लाभ होगा या हानि, उसमें जीवन सम्बन्धी समस्याओं का नीति-संगत विवेचन है या नहीं। इन बातों के ज्ञान से वह यह निश्चित कर सकता है कि अमुक ग्रन्थ अच्छा है या बुरा। आलोचक उसे इन बातों का परिचय देता है। समालोचना द्वारा वह ग्रन्थों का विश्लेषण करता है। वह कवि या लेखक की अन्तरात्मा में प्रवेश करके उसकी छानबीन करता है और वहाँ जो कुछ मिलता है उसको प्रकाश में लाता है। वह पुस्तक की तह में जाकर उसके गुण दोषों का विवेचन करता है। समालोचक अपनी पैनी दृष्टि से नए-नए मार्ग खोज निकालता है। वह नए-नए सिद्धान्त और पद्धतियाँ ढूँढ लेता है। वह साधारण से भी साधारण बातों में सौन्दर्य देख लेता है। जिन बातों के सम्बन्ध में साधारण मनुष्य सोच भी नहीं सकता उन्हें वह हमारे सम्मुख उपस्थित करता है। निस्सन्देह समालोचक पाठक के लिए पथ-प्रदर्शक का कार्य करता है। वह पाठक का सच्चा मित्र है। वह पाठक को साहित्य के अन्धकूपों में गिरने से बचाता है। यदि कोई पाठक किसी गन्दी रचना को पढ़ेगा तो वह अवश्यम्भावी है कि वह कम से कम किसी-न-किसी अंश में उससे प्रभावित हो जायगा। कुरुचिपूर्ण रचनाएँ बालकों का सत्यानाश कर सकती हैं; अतः उत्थान के मार्ग में अग्रसर करनेवाली रचनाओं को सम्पर्क में लानेवाली वस्तु समालोचना है।

समालोचना से सत्साहित्य की वृद्धि होती है और अन्धकार में छिपे हुए रत्न प्रकाश में आ जाते हैं। यदि सूर-सागर और रामचरितमानस की समालोचना न की जाती तो सर्वसाधारण उसका इतना आदर न करता। समालोचना द्वारा समाज के हित-साधक साहित्य के निर्माण-कर्त्ता को उत्साहित किया जाता है। कला की दृष्टि, से नीति की दृष्टि से, यदि कोई पुस्तक अच्छी होती है तो समालोचना द्वारा उसका चारों ओर प्रचार किया जाता है। लेखक को यश मिलता है और धन भी। यदि समालोचना न हो तो कितनी ही अच्छी पुस्तक क्यों न हो अन्धकार में पड़ी रहेगी, उसका सर्वसाधारण में प्रचार न होगा। हाँ, सम्भव है बहुत समय व्यतीत होने पर लोग उसको जान सकें। साथ ही समालोचना बुरी रचनाओं को रोकती है। यदि कोई कवि या लेखक बुरी रचना करता है तो आलोचक अपने वाक्‌बाणों से उसको छेद डालता है और रचयिता को पुनः वैसी रचना करने से रोकता है।

कुछ लोग कहते हैं कि साहित्य एक कला है। कला में सद्‌सद् का विचार हो ही नहीं सकता। न कोई कला सदाचार का प्रतिपादन करती है न दुराचार का। कला कला ही के लिए होती है। उसका उद्देश्य किसी सिद्धान्त की व्यंजना नहीं। अतः साहित्यिक आलोचना का उद्देश्य यह निर्णय करना है कि कला की अभिव्यंजना अनूठी उक्तियों में हुई है या नहीं। पर यह ठीक नहीं है। मानव-जीवन और साहित्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्यकार स्वयं मनुष्य होता है। उसका जो कुछ अनुभव होता है, वह जीवन से ही होकर आता है। उसी अनुभव को वह साहित्य के रूप में समाज को

भेंट कर देता है। जीवन की भिन्न-भिन्न समस्याओं का उद्घाटन तथा दशाओं का चित्रण साहित्य में होता है। अतः नैतिक सदसद् का विचार आ ही जाता है। फिर यह कहना ठीक नहीं है कि आलोचना उक्ति के अनूठेपन की ही कसौटी है। जब साहित्य सदाचार और दुराचार-परक होगा तब आलोचना क्यों न सत्साहित्य की वृद्धि करने वाली होगी ?

कुछ लोग समालोचना को अनावश्यक बतलाते हैं। उनका कहना है कि "भिन्न रुचिर्हिलोक:" सिद्धान्त के अनुसार सभी लोग किसी ग्रन्थ के गुण-दोषों के विषय में भिन्न-भिन्न मत देंगे। जो कविता हमें अच्छी लगती है, सम्भव है कि वह कविता किसी दूसरे मनुष्य को न रुचे। जिस रचना को हम गुणों से परिपूर्ण बतलाते हैं और उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं, सम्भव है कि अन्य लोग उसे घासलेटी समझते हों। तो फिर किसी ग्रन्थ की कौनसी समालोचना ठीक है यह मालूम करना असम्भव है। अतः समालोचना से कोई लाभ नहीं। वह अनावश्यक है। हमें स्वयं ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए और अपनी निज की सम्मति स्थिर करनी चाहिए। क्यों हम दूसरों की सम्मतियों को मानें ? ईश्वर ने हमें बुद्धि दी है तो क्यों न हम उसका उपयोग करें ? इस सम्बन्ध में हमें यह कहना है कि समालोचना में रुचि-वैचित्र्य का नियम नहीं लागू हो सकता। जो पुस्तक अच्छी होगी, जिसमें सदाचार का पाठ पढ़ाया गया होगा, उसे सभी लोग अच्छी कहेंगे। 'रामचरितमानस' को ही लीजिए। क्या भिन्न-भिन्न मनुष्यों की समालोचना इस ग्रन्थ के विषय

में भिन्न-भिन्न है ? नहीं । सभी विद्वान उसे हिन्दी-साहित्याकाश का सूर्य मानते हैं । हाँ, यह हो सकता है कि कुछ बातों में रुचि-भिन्नता पाई जाय । पर एक अच्छे ग्रन्थ की पूर्ण समालोचना कभी दो प्रकार की न मिलेगी । कभी-कभी ऐसे ग्रन्थों की समालोचनाएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं जो न तो बहुत अच्छे होते हैं और न बहुत बुरे । कहने का तात्पर्य यही है कि समालोचना व्यक्तिगत वस्तु नहीं है । उसका सम्बन्ध समाज से है । समाज में समालोचना के सिद्धान्त पृथक् पृथक् नहीं होते । अतः समालोचना भी अलग-अलग नहीं हो सकती ।

समालोचना प्रधानतः तीन प्रकार की होती है—(१) व्याख्यात्मक (२) निर्णयात्मक और (३) तुलनात्मक । व्याख्यात्मक समालोचना किसी पुस्तक के गुणों और दोषों का स्पष्टीकरण करती है । वह उसका मूल्य नहीं निर्धारित करती । निर्णयात्मक समालोचना किसी रचना के गुण-दोष ज्ञात करके उसका मूल्य निर्धारित करती है । समालोचक न्यायाधीश की भाँति अपना निर्णय देता है । वह कहीं कवि या लेखक की निन्दा करता है और कहीं उसकी प्रशंसा । तुलनात्मक समालोचना किसी रचना को उसी प्रकार की किसी अन्य रचना के साथ रखकर उसका अध्ययन करती है । वह दोनों की तुलना करती हुई आलोच्य पुस्तक पर विचार करती है ।

आलोचना के अधिकारी में कुछ गुणों की अत्यन्त आवश्यकता है । वह निष्पक्ष, बुद्धिमान और आलोच्य विषय का पूर्ण पण्डित हो । यदि निष्पक्ष न होगा तो वह किसी

रचना के साथ न्याय नहीं कर सकेगा। जिस कवि या लेखक का वह पक्षपाती होगा उसकी निकृष्ट रचना को उत्तम कहेगा और जिसका द्वेषी होगा उसकी उत्तम रचना को निकृष्ट बतलावेगा। यदि बुद्धिमान न होगा तो वह किसी विषय की तह तक न जा सकेगा। यदि आलोच्य विषय का पण्डित न होगा तो वह गुणदोषों की ठीक ठीक परीक्षा न कर सकेगा।

अन्त में यही कहना है कि साहित्य में आलोचना की बड़ी आवश्यकता है। यदि हम केवल अच्छी पुस्तकें ही पढ़ना चाहें और कुरुचिपूर्ण एवं रद्दी पुस्तकों से दूर रहना चाहें तो समालोचना हमारे लिए बड़ी काम की वस्तु है। समालोचना का उद्देश्य साहित्य की छिपी हुई विभूतियों को, अन्धकार-विलीन रत्नों को, प्रकाश में लाना और कल्याणकारी साहित्य की रचना को प्रोत्साहित करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति करती हुई वह समाज का हित करती है। साहित्य जनता की चित्तवृत्ति को प्रभावित करने का अच्छा साधन है। यदि साहित्य अच्छा होगा तो समाज अच्छा हुए बिना नहीं रह सकता।

समाज में नारी का स्थान

(१) प्रस्तावना—हिन्दू-समाज में नारी का निम्न स्थान,

(२) नारी की अधोगति के दुष्परिणाम

(३) नारी के सम्मान की आवश्यकता

(४) नारी के सम्मान से सुख-शांति की स्थापना

(५) नारी गृह-देवी होती है
(६) स्त्री और पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं
(७) उपसंहार—स्त्री का महत्व

जिन दोषों ने हमारे समाज को जर्जरित कर रक्खा है, जिन दोषों ने हमारे समाज के कलेवर को अस्थि-पंजर बना रक्खा है, जिन दोषों ने हमारे समाज को अवनति के अंधकूप में डाल रक्खा है, जिन दोषों ने हमारे समाज को संस्कृत समाजों के समक्ष निकृष्टता प्रदान की है, उनमें नारी-जाति का निम्न स्थान भी एक है। वर्तमान हिन्दू-समाज में नारी का कोई व्यक्तित्व नहीं, कोई सत्ता नहीं। वह पति की वस्तु समझी जाती है। उसका व्यक्तित्व पति के व्यक्तित्व में अंतर्निहित है। पति स्वेच्छानुसार उसका उपयोग कर सकता है। वह पति की चेरी है, सहचरी नहीं; गृह-दासी है, गृह-स्वामिनी नहीं; आज्ञा पालिका है, सहयोगिनी नहीं; पैर की जूती है, वामाङ्ग नहीं; वासना-तृप्ति का साधन है, आत्मोन्नति का नहीं; मनोविनोद की सामग्री है, आत्मसंस्कार की नहीं; खिलौना है, हृदय-प्रतिमा नहीं। उसका प्रत्येक कार्य-पति की प्रसन्नता के लिए होता है। तन-मन से वह पति की सेविका बनी हुई है। स्वाधीनता किसे कहते हैं, यह वह जानती ही नहीं। विवाह से पूर्व वह पिता की अधीनता में रहती है और विवाह-पश्चात् पति की अधीनता में। स्वतन्त्र वायु-मंडल में साँस लेना तो विधाता ने उसके भाग्य में लिखा ही नहीं है।

नारियों की हीनावस्था से अनेक दुष्परिणाम हुए हैं। पुरुष-जाति ने उनके साथ जो पाशविक अत्याचार एवं अन्याय

किए है उन्हें अंकित करते हुए अत्यन्त क्षोभ होता है। लेखनी थर्राती है। हमने वैवाहिक नियम अपने अनुकूल बनाए हैं, साम्पत्तिक नियम अपने लाभ के लिए गढ़े हैं और स्त्रियों को उनके जन्मसिद्ध अधिकार शिक्षा से वंचित कर रक्खा है। बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, विवाह-विच्छेद-निषेध, विधवा-विवाह-निषेध और साम्पत्तिक-उत्तराधिकार के अभाव ने उनकी दशा दयनीय बना दी है। अशिक्षा के उपहार अन्धविश्वासों आभूषणों और परदे को उन्होंने अपना लिया है। नारी जाति की अधोगति से देश को बहुत हानि हुई है, देश बहुत नीचे गिरा है। जब राष्ट्र की माताएँ निरक्षर होंगी, जब राष्ट्र की माताएँ दासत्व की बेड़ियों में जकड़ी होंगी, जब राष्ट्र की माताएँ पंगु होंगी, तब राष्ट्र का पतन अवश्यम्भावी है विधवाओं के लिए पुनर्विवाह वर्जित होने के कारण समाज में व्यभिचार का बाजार गर्म है जिसकी आए दिन कहानी सुननी पड़ती है। विवाह-विच्छेद की व्यवस्था के अभाव में समाज में असन्तोष एवं अशान्ति फैली हुई है। यहाँ तक कि कभी-कभी आत्मघात तक की घटनाएँ घटित हो जाती हैं। साम्पत्तिक अधिकार न होने के कारण स्त्रियाँ अपने पैरों पर खड़ी होने में असमर्थ हैं। वे परमुखापेक्षी बनी हुई हैं। जहाँ समाज के अर्द्धाङ्ग की यह दुर्दशा होगी, जहाँ समाज का अर्द्धाङ्ग हड्डियों की ठठरी मात्र होगा, वहाँ क्या उन्नति संभव हो सकती है।

यदि हम चाहते हैं कि देश का कल्याण हो, यदि हम चाहते हैं कि राष्ट्र उन्नतोन्मुख हो, तो हमें चाहिए कि हम नारी-जाति का आदर करना सीखें, उसे समाज में यथोचित स्थान प्रदान करें। चिरकाल से ठुकराए हुए स्त्री-

समाज की पूजा द्वारा ही, चिरकाल से अधोगति के गर्त में ढकेले हुए स्त्री-समाज की आराधना द्वारा ही, हम अपने पापों का प्रायश्चित्त कर सकते हैं। और पवित्र होकर उन्नति देवी के मंदिर में प्रविष्ट होने के अधिकारी बन सकते हैं। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' के अनुसार जहाँ नारियों का सम्मान होता है वहाँ देवता रहते हैं। निस्संदेह जिस गृह, जिस समाज, जिस देश, जिस राष्ट्र में स्त्रियों की प्रतिष्ठा होगी, वह समृद्धिशाली होगा, वह धन धान्य, विद्या-बुद्धि तथा सुख-शांति से परिपूर्ण होगा, क्योंकि उससे धनदात्री लक्ष्मीजी और विद्यादात्री सरस्वतीजी प्रसन्न होंगी। भगवान उसे सम्पन्नता प्रदान करेंगे। स्त्री त्याग और तपस्या की मूर्ति है। सहनशक्ति भी उसमें अपार होती है। वह अपने पति की प्रसन्नता अथवा सन्तान के सुख के लिए महान् से महान् त्याग करती है। ऐसा करते समय उसे अपने कष्ट का तनिक भी भान नहीं होता। सन्तान के पालन-पोषण पर वह अपना सर्वस्व न्योछावर कर देती है। विवाहित होने पर वह पति की तपस्या में संलग्न रहती है। विधवा होकर वह गार्हस्थ्य-जीवन को तिलांजलि देकर, विरक्त होकर, पति की स्मृति-पूजा करती है। ऐसी पुनीत वस्तु का जहाँ सम्मान होगा वहाँ देवता क्यों न निवास करेंगे, वहाँ देवता क्यों न रहना पसन्द करेंगे ?

जहाँ स्त्री का सम्मान होता है, वहाँ सुख और शांति बिराजती है। जिस गृह में पति पत्नी का आदर करता है और पत्नी पति का, जिस गृह में पति पत्नी के सुख-दुःख का ध्यान रखता है और पत्नी पति के सुख-दुःख का, जिस

गृह में पति पत्नी से प्रसन्न है और पत्नी पति से, वह घर स्वर्ग है। पारस्परिक कलह, पारस्परिक-वैमनस्य, पारस्परिक मनोमालिन्य से कोई भी गृह नरक बन सकता है। जहाँ अशांति होगी वहाँ दुःख होगा। जहाँ असंतोष होगा वहाँ जीवन क्लेशपूर्ण रहेगा। यही नहीं कि पति पत्नी ही का जीवन आपत्तियों के बादलों से आच्छादित होगा, वरन् संतान का भी जीवन कंटकाकीर्ण हो जायगा। इसके अतिरिक्त बाल-बच्चे माता-पिता की कुप्रवृत्तियों एवं दुर्गुणों के प्रभाव से भी वंचित न रह सकेंगे।

नारी गृह-देवी होती है। वह पत्नी रूप में पति की सहचरी बनकर गृहस्थी का सुसंचालन करती है, पति को सत्परामर्श देती हुई कर्तव्यपथ पर आरूढ़ करती है, आमोद-प्रमोद, सेवा-सुश्रूषा तथा प्रेमव्यवहार द्वारा उसके जीवन में सरसता का संचार करती है। वह जननी-रूप में राष्ट्र के भवन की नींव रखती है और उसे सुदृढ़ बनाती है। वह अपनी संतान को सुशील एवं सुयोग्य बनाती है। उसकी संतान समाज तथा देश का नेतृत्व करती है और राष्ट्र-निर्माता बनती है। इतिहास इस तथ्य का साक्षी है।

यदि कोई नारी गृहिणी न भी बने तो वह अपने आत्म-त्याग, सहनशीलता आदि स्वाभाविक गुणों के कारण राष्ट्र के, समाज के, अभ्युत्थान में हाथ बटा सकती है, समाज की सच्ची सेविका बनकर राष्ट्र के परिमाणुओं को संगठित करके उसके निर्माण में संलग्न हो सकती है।

राष्ट्र-निर्माण धीमी प्रगति का पौधा है । उसमें सबसे अधिक आत्मत्याग की आवश्यकता होती है और उससे कम सहन-शीलता की । पुरुष में ये गुण कम होते हैं । स्त्री में प्रकृति ने इन्हें प्रचुर मात्रा में पैदा किया है । उसे इन दिव्य गुणों की मूर्ति कहें तो अनुचित न होगा।

वास्तव में स्त्री और पुरुष, पति और पत्नी, एक दूसरे के पूरक हैं । स्त्री पुरुष बिना और पुरुष स्त्री बिना अपूर्ण है । विवाह-नामक संस्कार दोनों को सम्बन्ध-सूत्र में पिरो देता है । उसके द्वारा दो आत्माओं का सम्मेलन होता है, जिससे पारस्परिक सहयोग और साहाय्य द्वारा आत्मोन्नति की जा सके । गार्हस्थ्य जीवन की सुचारुता के लिए यह आवश्यक नहीं वरन् अनिवार्य है कि स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध जोड़ा जाय । केवल सम्बन्ध जोड़ना ही पर्याप्त नहीं है । उस सम्बन्ध की संरक्षा भी वांछनीय है । इसका ध्यान स्त्री और पुरुष दोनों को ही रखना होगा । दोनों का जीवन एक दूसरे पर न्यौछावर हो । दोनों का जीवन एक दूसरे के लिए हो । समाज में दोनों का समान स्थान है । यदि पुरुष गृह-स्वामी है तो स्त्री गृह-स्वामिनी, पुरुष के प्रधान कार्य जीविकोपार्जन, संतान-संरक्षा, उसकी शिक्षा-दीक्षा तथा विवाह-व्यवस्था हैं ।स्त्री के प्रधान कार्य संतान का लालन-पालन खान-पान-व्यवस्था, परिचर्या और विनोद-विधान हैं । प्रत्येक कार्य पारस्परिक परामर्श, पारस्परिक सहयोग, से होना चाहिए । पृथक्-पृथक् कार्य-क्षेत्र होते हुए भी पति और पत्नी दोनों का लक्ष्य एक है । दोनों ही एक ही गार्हस्थ्य जीवन के दो पहलुओं का संरक्षण करते हुए सुख एवं शांति की योजना करते हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्त्री का महत्व पुरुष से किसी प्रकार कम नहीं। यदि नर अन्न-दाता है तो नारी भोजन दात्री। माता-रूप में वह अपने स्तन्य से हमारा पोषण करती है। वह हमारी पालिका है। अगणित कष्टों का स्वागत करती हुई, सुखों की अवहेलना करती हुई, त्याग की मूर्ति बनी हुई, वह बाल्यावस्था में हमारा पालन करती है, हमें बड़ा करती है। युवावस्था और वृद्धावस्था में भी हम उसके उपकारों से वंचित नहीं है। पत्नी रूप में वह हमारी सहचरी बनकर हमारे जीवन-पथ को पुष्पों से आकीर्ण करती है। वस्तुतः नर नारी का सदैव ऋणी है। फिर क्या यह हमारा कर्तव्य नहीं है कि चिरकाल से अन्याय एवं अत्याचार के भार से दबी हुई और अविद्या के अंधकार में पड़ी हुई नारी को हम विद्या के शुभ्र आलोक में लाकर सम्मान के आसन पर आसीन करें ? क्या यह हमारा कर्तव्य नहीं है कि हम उसे उसके उचित अधिकार प्रदान करें, उसके साथ न्यायोचित व्यवहार करें ? जीर्ण-शीर्ण तथा जर्जरित कलेवरा नारी नर के अत्याचारों से पीड़ित होकर क्षीण स्वर से करुण क्रन्दन कर रही है। क्या हमें उसके आँसू नहीं पोंछने चाहिएँ ? क्या हमें उसे आह्लादित करके उसके अभिशाप से मुक्त नहीं होना चाहिए। आज हमारे देवता रूठे हुए हैं। यदि हम उन्हें मनाना चाहते हैं तो नारी का सम्मान करना सीखें ?

मुसलमानों की हिन्दी सेवा

(१) प्रस्तावना—मुसलमानों का हिन्दी प्रेम
(२) खुसरो की हिन्दी-सेवा
(३) सूफी कवियों की हिन्दी-सेवा
(४) रसखान की ”
(५) रहीम ” ”
(६) कबीर ” ”
(७) आलम ” ”
(८) नजीर अकबरावादी ”
(९) इंशाअल्लाखाँ की ”
(१०) उपसंहार—मुसलमानों की हिन्दी-सेवा का महत्व

हिन्दी-साहित्य का इतिहास इस बात का ज्वलंत उदाहरण है कि मुसलमानों ने हिन्दी-साहित्य को अपनी रचनाओं से सजाकर हिन्दी के प्रति अपने प्रेम का परिचय दिया है। खुसरो, जायसी, रसखान, रहीम, इंशाअल्लाखाँ आदि मुसलमान महानुभावों ने हिन्दी की जो सेवा की है वह कभी भुलाई नहीं जा सकती। वह सदा स्मरणीय रहेगी।

सबसे पहले खुसरो ने संवत् १३४० के लगभग हिन्दी में रचना आरम्भ की। वे फारसी के बहुत अच्छे विद्वान् और कवि थे। उनमें विनोद तथा सहृदयता खूब थी। उन्होंने हिन्दी में अनूठी पहेलियाँ और मुकरियाँ लिखी हैं। उनके काव्य में दो प्रकार की भाषा मिलती हैं। ठेठ खड़ी-बोली उनकी पहेलियों और मुकरियों में पाई जाती है,

यद्यपि उनमें कहीं कहीं ब्रजभाषा की झलक है। उनके दोहे और गीत ब्रजभाषा में लिखे गए हैं। कुछ नमूने देखिए—

एक नार ने अचरज किया। साँप मार पिंजरे में दिया ॥
जों जों साँप ताल को खाए। सूखे ताल साँप मर जाए ॥

(पहेली)

उज्जल बरन, अधीन तन, एक चित दो ध्यान।
देखन में तो साधु हैं, निपट पाप की खान ॥

(दोहा)

हिन्दी-साहित्य की प्रेममार्गी शाखा तो बिल्कुल मुसलमान सूफी कवियों की ही है। कुतबन, जायसी आदि कई सूफी कवियों ने हिन्दी में प्रेमगाथाएँ रचीं। प्रेम-मार्गी कवियों में सबसे प्रधान स्थान जायसी का है, जिनका पद्मावत नामक प्रबन्ध-काव्य हिन्दी-साहित्य का देदीप्यमान रत्न है। हिन्दी के प्रबन्धकाव्यों में तुलसीदासजी के रामचरितमानस के पश्चात् पद्मावत को स्थान मिला है। जायसी ने 'पद्मावत' के अतिरिक्त 'अखरावट' और 'आखिरीकलाम' दो काव्य और लिखे हैं, पर उनकी उतनी प्रसिद्धि नहीं है जितनी पद्मावत की है। जायसी ने अपनी रचनाओं के लिए बोलचाल की अवधी को चुना है और इसका सरस तथा मधुर रूप सर्वसाधारण के समक्ष उपस्थित किया है। उनका हृदय 'प्रेम की पीर' से भरा हुआ था। यही कारण है कि उनकी प्रेम की उक्तियाँ बड़ी हृदयग्राहिणी हुई हैं। उनका प्रेम संसार से परे ईश्वरीय प्रेम है जिसका निरूपण रहस्यात्मक ढंग से किया गया है। कुछ नमूने देखिए—

पिउ हिरदय में भेंट न होई, को रे मिलाव कहाँ केहि रोई ।

\+ + + +

कँवल जो बिगसा मानसर, बिनु जल गएउ सुखाइ ।
अबहुँ बेलि फिरि पलुहै, जो पिउ सीचै आइ ॥

कृष्ण-भक्ति-शाखा में रसखान का नाम बहुत प्रसिद्ध है। ऐसा कौनसा सहृदय हिन्दी-भाषा-भाषी होगा जिसने रसखान का नाम न सुना हो । वे कृष्ण-भक्ति से इतने अधिक प्रभावित हुए कि इस्लाम धर्म का परित्याग करके उन्होंने कृष्ण-भक्ति को अपनाया । यह उनके हृदय की उदारता का परिचायक है । कृष्ण-प्रेम में मग्न हो कर उनके हृदय ने जो रसधारा बहाई उसने हिन्दी-भाषा-भाषी जनता के हृदय को सिक्त कर दिया, उनकी लेखनी से प्रेम के जो कवित्त-सवैये निकले वे सहृदयों के कंठहार हो गए । प्रायः कृष्ण भक्त कवियों ने गीत-पद्धति को अपनाया था पर उन्होंने कवित्त-सवैया-शैली में ही अपनी भव्य वाणी का संचार किया । ब्रजभाषा का जैसा निखरा हुआ रूप रसखान और घनानन्द की कविताओं में देखने को मिला है वैसा अन्यत्र नहीं मिलता । भाषा एवं भाव दोनों दृष्टि से रसखान की रचनाएँ हिन्दी-संसार में अपना विशेष स्थान रखती हैं । अभी तक उनके 'प्रेमवाटिका' और 'सुजान रसखान' नामक काव्यग्रंथ मिले हैं । उनकी रचनाओं के नमूने देखिए—

मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन ।
जो पशु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन ॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्‌यो कर छत्र पुरन्दर धारन ।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दी कूल कदंब की डारन ॥

(सवैया)

एरी आजु काल्हि सब लोक-लाज त्यागि दोऊ
सीखे हैं सबै विधि सनेह सरसाइबो ।
यह रसखान दिना द्वै में बात फैलि जैहै
कहाँ लौं सयानी चंदा हाथन छिपाइबो ॥
आजु हौं निहार्यो बीर निपट कालिंदी तीर
दोउन को दोउन सों मुरि मुसिकाइबो ॥
दोउ परै पैयाँ दोउ लेत हैं बलैयाँ इन्हें
भूलि गई गैयाँ उन्हें गागर उठाइबो ॥

रसखान के पश्चात् हिन्दी-क्षेत्र में रहीम नामक मुसलमान कवि दिखलाई पड़ते हैं। ये अकबर बादशाह के प्रधान सेनापति थे और अरबी, फारसी, संस्कृत और हिन्दी के विद्वान थे। ये बड़े दानी थे। गंग कवि को इन्होंने एक बार छत्तीस लाख रुपये दे डाले थे। गोस्वामी तुलसीदासजी से इनकी बड़ी मित्रता थी। इन्होंने हिन्दी-साहित्य को रहीम सतसई, बरवै नायिकाभेद, शृङ्गार-सोरठ मदनाष्टक, रासपंचाध्यायी आदि रचनाएँ भेंट कीं। रहीम ने ब्रजभाषा और अवधी दोनों में रचनाएँ की हैं। 'बरवै नायिकाभेद' बड़ी सुन्दर अवधी में लिखा गया है। इनकी रचनाएँ बड़ी मार्मिक हैं। कहीं-कहीं पर तो रस छलका पड़ता है। इनके कुछ बरवै और दोहे देखिए—

पीतम इक सुमरिनियाँ मोहिं देइ जाहु।
जेहि जपि तोर बिरहवा करब निबाहु ॥
मोरहि बोलि कोइलिया बढ़वति ताप।
घरी एक भरि, अलिया! रहु चुपचाप ॥ (बरवै)

ज्यों रहीम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय।
बारे उजियारो लगै, बढ़े अँधेरो होय ॥

सर सूखे पंछी उड़ैं औरे सरन समाँहि।
दीन मीन बिन पंख के कहु रहीम कहँ जाहिं॥

(दोहा)

हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में उपर्युक्त चार प्रधान मुसलमान महानुभावों के अतिरिक्त कबीर और आलम भी रक्खे जा सकते हैं। कबीर और आलम दोनों के सम्बन्ध में कुछ सज्जन यह आपत्ति कर सकते हैं कि ये दोनों ही जन्म से हिन्दू थे। अतः इनको हिन्दी-सेवी मुसलमानों के अन्तर्गत नहीं रक्खा जाना चाहिए। ठीक है, कबीर और आलम दोनों हिन्दू थे। दोनों ही ने ब्राह्मण कुल में जन्म पाया था। परन्तु कबीर का पालन-पोषण एक मुसलमान दम्पति द्वारा हुआ था और आलम शेख नामक एक रँगरेजिन के प्रेम में फँसकर मुसलमान हो गए थे। अतः इन दोनों को हम मुसलमान-कवियों के अन्तर्गत रख सकते हैं।

कबीर ज्ञानाश्रयी शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि हुए। उन्होंने एक सामान्य भक्तिमार्ग चलाया जिसमें हिन्दू और इस्लाम दोनों धर्मों के सिद्धान्तों का समावेश किया गया। कबीर की उपासना निर्गुण-उपासना थी। उसमें सूफियों के सत्संग से 'प्रेम तत्व' का भी सम्मिश्रण हो गया था। कबीर की कविता की भाषा मिली-जुली सधुक्कड़ी है। उसमें ब्रजभाषा, अवधी, खड़ी, राज-स्थानी, पंजाबी और पूरबी सभी का पुट पाया जाता है। उनकी उक्तियाँ बड़ी खरी तथा मार्मिक हैं। कई स्थान पर उनकी उक्तियों को समझना टेढ़ी खीर है। उनकी उल्टाबासियाँ ऐसी ही उक्तियाँ हैं। जैसे—

नैया बिच नदिया डूबति जाय।

कबीर की कविता में जायसी की कविता के समान रहस्यवाद की छटा भी देखी जाती है । जायसी की रचनाओं में हमें केवल 'प्रेमात्मक' रहस्यवाद मिलता है पर कबीर की रचनाओं में 'प्रेमात्मक' और 'ज्ञानात्मक' दोनों रहस्यवाद हैं । 'प्रेमात्मक' रहस्यवाद के मूल में 'माधुर्य' भावना काम करती है । जब कवि ईश्वर को प्रियतम या प्रियतमा और अपने को प्रियतमा या प्रियतम मानकर अपने भावों को प्रकट करता है तब उसकी कविता रहस्यवादी कहलाती है । जब कवि ईश्वर, जीव और माया का पारस्परिक सम्बन्ध अन्योक्ति द्वारा प्रकट करता है तब वह 'ज्ञानात्मक' रहस्यवाद की सृष्टि करता है । कबीर के 'ज्ञानात्मक' रहस्यवाद का एक नमूना देखिए—

जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहिर भीतर पानी ।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना यह तत कथौ गियानी ॥

'प्रेमात्मक' रहस्यवाद का भी यह नमूना देखिए—

दुलहिन गावो मंगलचार । हमारे घर आए राम भरतार ॥
तन रति कर मैं मन रत करिहौं पाँचों तत्त्व बराती ।
रामदेव मोहि व्याहन आए मैं जोबन मदमाती ॥

आलम रीतिकाल के एक रसिक कवि थे । उन्होंने शेख नामक रँगरेजिन के साथ शादी की जो स्वयं एक अच्छी कवयित्री थी । आलम के इस रँगरेजिन के साथ प्रेम हो जाने की कथा इस प्रकार है । आलम ने एक बार अपनी पगड़ी रँगने के लिए शेख को दी । उसके एक खूँट में एक कागज का टुकड़ा भी बँधा हुआ था जिसमें कविता की "कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छीन"

पंक्ति लिखी थी। शेख ने पगड़ी के खूँट को खोल कर उस कविता की पूर्ति में 'कटि को कंचन काटि बिधि कुचन मध्य धरि दीन" पंक्ति लिखकर पुनः कागज़ के टुकड़े को पगड़ी के खूँट में बाँध दिया। आलम कविता की पूर्ति पढ़कर बहुत प्रसन्न हुए और शेख के प्रेमी बन गए। उन्होंने शेख की सहायता से कवित्त-सवैयों में शृङ्गार रस की बहुत सी रचनाएँ कीं। उनका भी हृदय जायसी की भाँति 'प्रेम की पीर' से भरा हुआ था। शृङ्गार रस की बड़ी उन्मादपूर्ण उक्तियाँ उनकी रचनाओं में मिलती हैं। उनके कवित्त-सवैये पढ़ते समय कभी-कभी रसखान की कविता का सा आनन्द आने लगता है। यह सवैया देखिए—

जा थल कीने बिहार अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सों करी बहुँ बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यों करैं॥
आलम जौन से कुञ्जन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं।
नैनन में जे सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं॥

नजीर अकबराबादी—ने कृष्णलीला-सम्बन्धी बहुत से पद्य हिंदी-खड़ी बोली में लिखे। अपनी पद्य-रचना में इन्होंने उर्दू-छंद का प्रयोग किया। ये एक मनमौजी सूफ़ी थे। इनका जन्म सं० १७६७ और मृत्यु सं० १८७७ में हुई। इनके पद्यों का एक नमूना देखिए—

वाँ कृष्ण मदनमोहन ने जब सब ग्वालों से यह बात कही।
औ आपी से झट गेंद उठा उस कालीदह में फेंक दई॥
यह लीला है उस नंदललन मनमोहन जसुमति छैया की।
रख ध्यान सुनो दंडवत करो जय बोलो कृष्ण कन्हैया की॥

पद्य-क्षेत्र के अतिरिक्त गद्य-क्षेत्र में कार्य करनेवालों में

ईशाअल्लाखाँ का नाम महत्त्वपूर्ण है। ये महाशय हिंदी-गद्य के प्रारम्भिक लेखकों में श्रेष्ठ गिने जाते हैं। इन्होंने ठेठ खड़ी-बोली में 'रानी केतकी की कहानी' लिखी है जिसकी भाषा चटकीली-मटकीली और मुहावरेदार है। चुलबुलापन इंशा की शैली की विशेषता है। इनका वाक्यविन्यास कहीं-कहीं फारसी-ढंग का है। जैसे—

"सिर झुकाकर नाक रगड़ता हूँ उस बनाने वाले के सामने जिसने हम सबको बनाया।"

सारांश यह है कि मुसलमानों ने हिंदी की महत्वपूर्ण सेवा की है। उन्होंने अरबी-फारसी के विद्वान् होते हुए भी हिंदी को अपनाया है, यह उनकी उदारता का निदर्शन है। उनमें से रसखान आदि कुछ लोगों ने तो ऐसी परिष्कृत भाषा का प्रयोग किया है कि पाठक को दाँतों तले उँगली दबानी पड़ती है। वास्तव में मुसलमानों के हिंदी-साहित्य-सम्बन्धी ऋण की महत्ता स्वीकार करते हुए भारतेन्दुजी की यह उक्ति—

'इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिन्दुन वारिये—

सर्वथा उचित है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र में कार्य-क्षेत्र के आते ही हिन्दी में समुन्नति का युग आया

(१) प्रस्तावना—भारतेन्दुजी का महत्व
(२) भारतेन्दुजी का हिन्दी-गद्य के पूर्व-लेखकों की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ होना
(३) भारतेन्दुजी द्वारा हिन्दी-गद्य की भाषा का परिमार्जन

(४) भारतेन्दुजी द्वारा हमारे साहित्य का नए नए विषयों की ओर उन्मुख करना

(५) भारतेन्दुजी की कविताएं

(क) शृङ्गारी (ख) देश-भक्ति-रंजित (ग) भक्ति-सम्बन्धी (घ) समाज-सुधार-गर्भित

(६) भारतेन्दुजी का प्रकृति से अनुराग

(७) भारतेन्दुजी द्वारा कविता की रचना-शैली में परिवर्तन

(८) भारतेन्दुजी का गद्य—

(क) नाटक और (ख) लेख

(९) उपसंहार—सारांश

हिन्दी-साहित्य के पद्य-क्षेत्र में जितना आदर गोस्वामी तुलसीदास का है गद्य-क्षेत्र में उससे कम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का नहीं। गोस्वामीजी ने कविता को उत्कर्ष की चरम कोटि पर पहुँचाया तो भारतेन्दुजी ने गद्य की प्राण-प्रतिष्ठा की। इनसे पूर्व हिन्दी-गद्य अपना रूप ही स्थिर करने में लगा हुआ था। उसका आरम्भ करने वाले मुन्शी सदासुखलाल, इंशाअल्ला खाँ, लल्लूजीलाल और सदलमिश्र नामक महानुभाव हुए। इन चारों की भाषा का रूप भिन्न-भिन्न था। वास्तव में ये गद्य का नमूना उपस्थित करने वाले थे। इनमें से किसी ने प्रौढ़ गद्य का रूप उपस्थित नहीं किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ही गद्य की भाषा को परिमार्जित करके उसके रूप को सुव्यवस्थित किया और उसमें प्रौढ़ रचनाएँ की। अतः इन्हें हिन्दी-गद्य का प्रवर्तक मानना चाहिए।

इनका प्रभाव भाषा और साहित्य दोनों पर बड़ा गहरा पड़ा। इन्होंने भाषा का परिमार्जन किया और साहित्य

को नया मार्ग दिखलाया। मुन्शी सदासुखलाल की भाषा पंडिताऊ थी, लल्लूजीलाल की भाषा में बृजभाषापन था और सदलमिश्र की भाषा में पूरबीपन था। और इंशाअल्लाखाँ की भाषा फारसीपन लिए हुए थी। राजा शिवप्रसाद का उर्दूपन शब्द ही तक न रह कर वाक्य-विन्यास में भी घुस गया था। राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा में आगरे की बोली का पुट था। भारतेन्दुजी ने भाषा का परिष्कार किया। इन्होंने ही पहले-पहल भाषा में विनोद का समावेश किया और उसे चलता रूप प्रदान किया।

गद्य की भाषा को तो इन्होंने प्रौढ़ता प्रदान की ही, साथ में पद्य की व्रजभाषा का भी संस्कार किया। पुराने शब्दों का प्रयोग कविता में बराबर होता आ रहा था। 'चक्कवै', 'ईठ', 'करसायल', 'ठायो', आदि शब्द इसी प्रकार के थे। भारतेन्दुजी ने इन पुराने शब्दों को काव्य-भाषा से हटाया। इसके अतिरिक्त कविता की भाषा में एक भयङ्कर दोष यह चला आ रहा था कि कवि शब्दों को अपने इच्छानुसार तोड़ा मरोड़ा करते थे। भारतेन्दुजी की आत्मा इससे व्यथित हुई और इन्होंने इस दोष का बहुत कुछ परिष्कार किया।

सबसे महत्वपूर्ण कार्य भारतेन्दुजी ने यह किया कि इन्होंने हमारे साहित्य को नए-नए विषयों की ओर उन्मुख किया। ये साहित्य में नए युग के सूत्रधार हुए। अभी तक साहित्य और समाज में विच्छेद पड़ा हुआ था। शिक्षा के प्रसार से मनुष्यों के हृदय में देश-भक्ति, समाज-सुधार, आदि की उमंगे उठ रही साहित्य अपने पुराने

मार्ग पर ही चला जा रहा था। उसमें भक्ति या शृङ्गार की पद्य-रचनाएँ ही हो रही थीं, देश-प्रेम, या समाज-सुधार का नाम तक नहीं था। भारतेन्दुजी ने साहित्य-धारा को दूसरी ओर मोड़ कर उसे जीवन से सम्बद्ध किया।

भारतेन्दु जी ने गद्य और पद्य दोनों में अनेक रचनाएँ की और हिन्दी साहित्य के भण्डार को भरा। पहले इनकी कविताओं को लीजिए। ये बड़े भावुक और सहृदय कवि थे। इन्होंने शृङ्गार-रस के मार्मिक कवित्त-सवैये लिखे वहाँ कृष्ण-भक्ति-सम्बन्धी मर्मस्पर्शी रचनाएँ भी कीं। इन्होंने जहाँ देश-भक्ति पर कविताएँ लिखीं वहाँ समाज-सुधार को भी काव्य का विषय बनाया। इनके कवित्त-सवैये रसकी पिचकारियाँ हैं जो श्रोता या पाठक को रस-सिक्त किए बिना नहीं छोड़तीं। उनको सर्वसाधारण ने इतनी शीघ्रता से अपनाया कि भारतेन्दुजी के समय में ही उनका पर्याप्त प्रचार हो गया। वे इधर-उधर लोगों के मुँह से सुनाई पड़ने लगे। भारतेन्दुजी की देश-भक्ति, सम्बन्धी रचनाएँ जनता को जाग्रत करने लगीं। इन्होंने लोगों को विदेशी भाषा के मोह में फँसकर अपनी मातृभाषा न भुला देने के लिए सचेत किया। वस्तुतः भारतेन्दुजी में प्राचीनता और नवीनता का सुन्दर समन्वय था। इनकी कविताएँ इस तथ्य की परिचायक हैं। इनकी मातृभाषा-प्रेम-सम्बन्धी कविताओं के कुछ नमूने देखिए—

अँग्रजी पढ़िके जदपि सब गुन होत प्रवीन।
पै निज भाषा ज्ञान बिन रहत हीन के हीन॥

\+ \+ \+ \+

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल ।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल ॥

शृङ्गारी कविता के भी कुछ नमूने देखिए—

बिछुरे पिय के जग सूनो भयो, अब का करिये कहि पेखिये का ?
सुख छाँडि के संगम को तुम्हरे, इन तुच्छन को अब लेखिये का ?
हरिचंद जू हीरन को व्यवहार कै, काँचन को लै परेखिये का ?
जिन आँखिन में तुव रूप बस्यों, उन आँखिन सों अब देखिये का ?

\+ + + +

आजु लौं जौ न मिले तो कहा, हम तौ तुम्हरे सब भाँति कहावैं ?
मेरो उराहनो है कछु नाहिं, सबै फल आपने भाग को पावैं ?
जो हरिचन्द भई सो भई, अब प्रान चले चहैं तासों सुनावैं ?
प्यारे जू ! है जग की यह रीति, बिदा के समय सब कंठ लगावैं ?

\+ + + +

यह संग मैं लागिये डोलैं सदा बिन देखे न धीरज आनतीं हैं ।
छिनहू जो वियोग परै 'हरिचन्द' तौ चाल प्रलै की सुठानती है ॥
बरुनी में थिरैं न झपैं उझपैं पल मैं न समाइबो जानती हैं ।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहीं मानती हैं ॥

भक्ति की भी इन्होंने सुन्दर रचनाएँ कीं । लोक पर दृष्टि रखते हुए भी इन्हें एक भक्त हृदय प्राप्त था । राधा-कृष्ण की भक्ति में झूमते हुए ये मधुर राग अलापते थे । देखिए—

ब्रज के लता पता मोहिं कीजै ।
गोपी पद-पंकज पावन की रज जामैं सिर भीजै ।
आवत जात कुंज की गलियन रूप सुधा नित पीजै ॥
श्री राधे राधे मुख यह वर मुँह माँग्यो हरि दीजै ।

भारतेन्दुजी की देश-भक्ति की भावना कुछ विचित्र ढङ्ग की थी। ये अँगरेजी राज्य के साथ साथ देशोन्नति के मार्ग में अग्रसर होना ही देश-भक्ति मानते थे। स्वावलम्बन पर स्थित देश-भक्ति की ओर इनका झुकाव न था। देखिए—

अँग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥

'नीलदेवी', 'भारत दुर्दशा' आदि नाटकों के भीतर आई हुई कविताओं में देश की दशा का जो कारुण्यपूर्ण चित्रण है वह तो है ही, अनेक ऐसी स्वतन्त्र कविताएं भी इन्होंने कीं जिनमें इन्होंने भारतवर्ष की अधोगति पर आँसू बहाए।

भारतेन्दुजी के समय में समाज-सुधार के नवीन ढङ्ग के विचार उतने नहीं उठ पाए थे, फिर भी इन्होंने अपने समाज के दोषों को देखकर उनके सुधार में अपनी वाणी का प्रयोग किया। जो लोग दोषपूर्ण मार्ग पर चल रहे थे उन्हें उस पर चलने से रोकने का प्रयत्न किया। देखिए निम्नांकित दो पंक्तियों में विधवा-विवाह और विदेशयात्रा का पृष्ठ-पोषण करते हुए इन्होंने क्या कहा है—

विधवा ब्याह निषेध कियो विभिचार प्रचारयो।
रोकि विलायत गमन कूप मंडूक बनायो॥

हिन्दी-साहित्य के इने-गिने कवियों को छोड़कर प्रायः कवि प्रकृति की ओर उदासीन रहे। नवरस की संकुचित सीमा के वातावरण में प्रकृति को स्थान ही कहाँ रह गया था? उद्दीपनरूप में कमल, चन्द्रमा, उपवन आदि को स्थान मिल

जाता था, अथवा अलंकारसामग्री के रूप में कविगण प्रकृति का उपयोग करते थे। अँगरेजी-साहित्य के सम्पर्क से हमारे साहित्य पर प्राकृतिक चित्रणों का प्रभाव पड़ा। भारतेन्दुजी ने ही इस दिशा में पहले-पहल पदार्पण किया। यद्यपि इनकी कविताओं में विशुद्ध प्राकृतिक वर्णनों का अभाव है फिर भी इस विषय की रचनाएँ उनकी उस वृत्ति की सूचना अवश्य देती हैं जो प्रकृति के सुन्दर दृश्यों से अनुराग रखती हैं। गङ्गा-वर्णन की ये पंक्तियाँ देखिए—

नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच-बिच हरत बूँद मध्य मुक्ता मनु पोहति॥

भारतेन्दुजी के कार्य-क्षेत्र में आते ही हिन्दी-काव्य में अनेक नवीन विषयों का समावेश तो हुआ ही, पर साथ में उन विषयों की रचना-प्रणाली का ढंग भी परिवर्तित हुआ। मुक्तक और प्रबन्ध की जो प्रणाली चली आ रही थी उससे कुछ भिन्न प्रणाली का अनुसरण हुआ। अनेक साधारण विषयों पर छोटे-छोटे पद्यात्मक निबन्ध लिखने की परिपाटी चली। बुढ़ापा, गोरक्षा, मातृभाषा, मातृस्नेह आदि विषयों पर निबन्ध लिखे जाने लगे। इस प्रकार की नवीन प्रवृत्तियों को लेकर भारतेन्दुजी काव्य-क्षेत्र में आगे बढ़े और अपने समय के अनेक कवियों को भी अपने साथ लेते चले। इन में प्रताप-नारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, राधाकृष्णदास चौधरी और श्रीधर पाठक प्रधान थे। काव्य के उस समुन्नत युग को भारतेन्दु-युग कहते हैं।

जिस प्रकार कविता के क्षेत्र में भारतेन्दुजी ने नवीनता

की धारा बहाकर अपनी अनुपम प्रतिभा का परिचय दिया उसी प्रकार हिन्दी-गद्य को विकसित करके और उसमें नाटक, लेख और उपन्यास का सूत्र-पात करके इन्होंने साहित्य के एक प्रधान अंग की पूर्ति की। हिन्दी में पत्र-पत्रिकाओं के दर्शन भारतेन्दुजी के समय से ही होने लगे। 'कवि वचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' आदि कई पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगीं। पत्रिकाओं में भारतेन्दुजी स्वयं तो लिखते ही थे, बहुतसे और लेखकों को भी इन्होंने प्रोत्साहित किया। बद्रीनारायण चौधरी, प्रतापनारायण मिश्र, श्री निवासदास, अम्बिकादत्त व्यास आदि कई प्रतिभा सम्पन्न लेखकों ने भी भारतेन्दुजी के कार्य में योग दिया। भारतेन्दुजी ने स्त्री-शिक्षा के लिए भी 'बालाबोधिनी' नामक एक पत्रिका निकाली।

इधर हिन्दी नाटक-क्षेत्र बिल्कुल सूना पड़ा था। भारतेन्दुजी के पूर्व केवल दो नाटक लिखे गए थे—एक रघुनाथसिंह-कृत 'आनन्दरघुनन्दन' और दूसरा इनके पिता गोपालचन्द्र-रचित 'नहुप' नाटक। भारतेन्दुजी ने अनेक मौलिक और अनुवादित नाटक लिखे। वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, कर्पूर मंजरी, सत्यहरिश्चन्द्र, चन्द्रावली, भारतदुर्दशा, अंधेर-नगरी, नीलदेवी, मुद्राराक्षस आदि बहुत से नाटकों की इन्होंने रचना की। इन नाटकों में पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक सभी प्रकार के नाटक थे।

उधर उपन्यास का हिन्दी में नाम तक न था। भारतेन्दुजी ने स्वयं तो कोई उपन्यास नहीं लिखा परन्तु अपने सहयोगी विद्वानों को इस अभाव की पूर्ति करने में अवश्य

संलग्न किया। निबन्धों का आरम्भ भी भारतेन्दुजी के समय से ही हुआ। इन्होंने स्वयं कई निबन्ध लिखे। इनके मित्रों ने निबन्ध-परम्परा को आगे बढ़ाया। जीवन-चर्या, ऋतु-चर्या, पर्व, त्यौहार आदि पर खूब निबन्ध लिखे जाने लगे। होली, विजयादशमी, दीपावली, रामलीला आदि पर लिखे निबन्धों में समाज के जीवन का अच्छा पुट रहता था। उस समय वर्णात्मक निबन्धों की प्रचुरता रही। उनमें आज-कल का सा सूक्ष्म विवेचन नहीं मिलता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अपनी बहुन्मुखी प्रतिभा के बल से भारतेन्दुजी ने हिन्दी में समुन्नति के युग का सूत्र-पात किया। क्या भाषा, क्या साहित्य, क्या गद्य, क्या पद्य, प्रत्येक क्षेत्र को इन्होंने अपनी प्रतिभा के प्रकाश से आलोकित किया। जिस प्रकार इन्होंने कविता को नवीन मार्ग दिखलाया उसी प्रकार गद्य के भिन्न-भिन्न अंगों की पूर्ति की। जिस प्रकार इन्होंने पद्य की भाषा को सुसंस्कृत किया उसी प्रकार गद्य की भाषा को परिष्कृत किया। काव्य में देश-प्रेम और समाज-सुधार का मंगल-मंत्र फूंककर इन्होंने सुसुप्त हिन्दू-समाज को जाग्रत किया। जब तक हिन्दी-भाषा और हिन्दू-जाति रहेगी तब तक भारतेन्दुजी का नाम अजर-अमर रहेगा। श्रीधर पाठक ने ठीक ही कहा है—

जबलौं भारतभूमि मध्य आरजकुल बासा।
जबलौं आरजधर्म माहिं आरज विश्वासा॥
जबलौं गुन आगरी नागरी आरज बानी॥
जबलौं आरज बानी के आरज अभिमानी॥
तबलौं यह तुम्हरो नाम थिर चिरजीवी रहि है अटल।
नित चंद सूर सम सुमिरिहैं हरिचंदहु सज्जन सकल॥

नाट्यकला का सामाजिक जीवन पर प्रभाव

(१) प्रस्तावना—साहित्य और समाज का सम्बन्ध
(२) साहित्य के दो भेद और नाटक का अन्य साहित्यिक अङ्गों की अपेक्षा अधिक प्रभाव डालनेवाला होना
(३) नाटक के अभिनयादि अङ्ग
(४) पात्रों के चरित्र का समाज पर प्रभाव
(५) वस्तु द्वारा समाज-सुधार आदि की योजना
(६) वस्तु द्वारा समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति
(७) भारतीय धर्म-प्रधान नाटकों का समाज पर प्रभाव
(८) भारतीय नाटकों के आदर्शवाद का सामाजिक जीवन पर प्रभाव
(९) नाट्यकला द्वारा समाज का मनोरंजन
(१०) उपसंहार—नाटक का महत्त्व

साहित्य सदैव समाज को प्रभावित करता रहता है और उससे स्वयं भी प्रभावित होता रहता है। जैसा साहित्य होगा वैसा ही उस साहित्य से सम्बन्धित समाज होगा और जैसा समाज होगा वैसे ही साहित्य की उद्भावना होगी। क्यों ? बाल्यावस्था से ही मनुष्य जब लिखना पढ़ना आरम्भ करता है वह अपने परम्परागत साहित्य के सम्पर्क में आता है। जैसे-जैसे बालक बड़ा होता है वह सम्पर्क अधिक होता जाता है। यह वह अवस्था होती है जब मनुष्य पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। अतः साहित्यिक संस्कृति, साहित्यिक भावनाएँ, उसी समय से बालक पर अपनी छाप डालना आरम्भ कर देती हैं। इसके अतिरिक्त माता-पिता के संसर्ग से बालक जो कुछ सीखता है उसमें भी साहित्य अपना स्थान रखता है, क्योंकि माता-पिता उसीके वातावरण

में रहते हैं। बड़ा होने पर वह बालक साहित्य की प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत हुआ रहता है। इस प्रकार व्यष्टि रूप में समाज साहित्य से बहुत कुछ ग्रहण करता रहता है। समाज के बनाने या बिगाड़ने में, उसको पुष्ट या कमजोर करने में साहित्य का हाथ अवश्य रहता है, पर उसके अतिरिक्त अन्य बातें भी उत्तरदायी होती हैं। समाज का जैसा रूप होगा साहित्य का उससे भिन्न रूप नहीं रह सकेगा। साहित्य का उत्पादक समाज है। तब यह कैसे सम्भव है कि साहित्य समाज से प्रभावित न हो ? वस्तुतः साहित्य और समाज में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

साहित्य दो प्रकार का होता है—(१) श्रव्य और (२) दृश्य। श्रव्य साहित्य सुनने में आनन्द देता है। उसका प्रधान सम्बन्ध श्रवणों से होता है, जैसे कविता। दृश्य साहित्य देखने से आनन्द देता है। उसका मुख्य सम्बन्ध नेत्रों से है, जैसे नाटक। यों तो श्रव्य और दृश्य दोनों प्रकार के साहित्य सामाजिक जीवन की धारा को अपनी ओर मोड़ते रहते हैं, परन्तु दृश्य साहित्य इस कार्य में सरलता से सफल होता है। कविता, कहानी और उपन्यास का मानव-जीवन पर प्रभाव पड़ता अवश्य है किन्तु उतना नहीं जितना नाटक का। श्रोता को किसी भाव से मग्न करने के लिए श्रव्य साहित्य के इन अङ्गों में कल्पना की अधिक आवश्यकता पड़ती है। उसे अपने नेत्रों के सामने कल्पना की सहायता से किसी घटना या किसी व्यापार का चित्र उपस्थित करना पड़ता है। नाटक में ऐसा करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। नाट्य-कला रंगमञ्च पर प्रत्येक घटना, प्रत्येक व्यापार, का साक्षात रूप हमारे नेत्रों के

समक्ष उपस्थित करती है। वह कल्पना के लिए कोई कार्य नहीं छोड़ती। उसमें सजीवता तथा प्रत्यक्षानुभव की छाया रहती है।

नाट्य-कला द्वारा नाटककार जैसा प्रभाव डालना चाहे डाल सकता है। अभिनय नाट्यकला का प्राण है। इससे नाटक में सजीवता आ जाती है। जब हम नाटक का अभिनय देखते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि सचमुच घटनाएँ हमारे नेत्रों के सामने हो रही हैं। उस समय क्षण भर के लिए हम यह भूल जाते हैं कि हम घटनाओं की नकल देख रहे हैं। नाटककार जीवन की जिन समस्याओं और दशाओं का प्रतिपादन अपनी रचना में करता है वे सब हम पर अपना चिरस्थायी प्रभाव डालती हैं। नाट्यकला के छः तत्व होते हैं—(१) वस्तु (२) पात्र (३) कथोपकथन (४) देशकाल (५) शैली और (६) उद्देश्य। नाटक में एक कहानी रहती है जिसको वस्तु कहते हैं। कहानी का सम्बन्ध जिन मनुष्यों से होता है वे पात्र कहलाते हैं। वे मनुष्य आपस में जो बातचीत करते हैं उसे कथोपकथन कहा जाता है। कहानी का सम्बन्ध जिस स्थान और जिस समय से होता है वे देशकाल कहलाते हैं। नाटककार जिस ढंग से अपनी सामग्री को नाटक में सजाता है उसे शैली कहते हैं। जिस लक्ष्य को ध्यान में रखकर वह नाटक की रचना आरम्भ करता है और अन्त में सब दर्शकों को उसका ज्ञान कराता है वह लक्ष्य नाटक का उद्देश्य कहा जाता है। इन सब तत्वों में प्रधान तत्व पात्र और वस्तु हैं। नाटक के पात्र नाटककार के हाथ में कठपुतली की तरह नाचते हैं। वे दो प्रकार के होते हैं—अच्छे और

बुरे। श्रेष्ठ पात्रों का प्रभाव अच्छा पड़ता है। बुरे पात्रों की भी नाटक में आवश्यकता होती है, क्योंकि अच्छे पात्रों का महत्व बुरे पात्रों के सम्पर्क में आने से स्पष्ट होता है। भिन्न-भिन्न पात्र समाज के चरित्र-गठन पर प्रभाव डालते हैं। यद्यपि नाटक मनोरंजन का साधन है तो भी उससे सामाजिक जीवन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। नाटककार जिन भावनाओं का संचार समाज में करना चाहता है उनका समावेश अपने श्रेष्ठ पात्रों में करता है। पात्रों में एक सर्वप्रधान होता है जिसको नायक कहते हैं। नाटक में नायक के जीवन का चित्र रहता है। दर्शकों को यह दिखलाया जाता है कि कैसी कैसी परिस्थितियों में पड़कर नायक अपनी जीवन-नौका को आगे बढ़ाता है। कभी उसकी नौका भँवर में पड़ती है और कभी वह थिरकती हुई चली जाती है। जीवन-नौका एक ओर जा रही थी, ऐसे ही समय धक्का लगकर उसकी गति दूसरी ओर फिर गई, उसके पश्चात् एक और धक्के ने उसको तीसरी ओर फेर दिया—नाटक में यही दिखाया जाता है। घटनाओं का घात-प्रतिघात और हृदय का अन्तर्विद्रोह दिखाकर नाटक जीवन को अत्यन्त प्रभावित करता है।

सामाजिक जीवन के दोषों का उद्घाटन तथा सामाजिक कुरीतियों का निराकरण नाटक का प्रधान कर्तव्य है। नाटककार वस्तु में किसी समाज का चित्र चित्रित करता है, उसमें पाई जाने वाली रीतियों का, रिवाजों का, दिग्दर्शन कराता है। वह वस्तु द्वारा राष्ट्रीयता, देश-प्रेम, सामाजिक सुधार, राजनैतिक आन्दोलन आदि का चित्रण करता है। वह वस्तु द्वारा अछूतोद्धार करा सकता है, विधवा-विवाह

के लिए मनुष्यों को बाध्य कर सकता है, बाल-विवाह रोक सकता है, पर्दे की कुप्रथा का अन्त कर सकता है, और स्त्री-शिक्षा की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट कर सकता है। वह वस्तु द्वारा समाज में स्वतन्त्रता का मन्त्र फूँक सकता है और लोगों को देश तथा जाति पर बलिदान होने के लिए उत्तेजित कर सकता है। जिस कुरीति का उसे खण्डन करना होता है उसका अनुगामी प्रायः वह अपने नायक को बतलाता है और फिर वस्तु के विकास में वह उस रीति के दुष्परिणाम दिखलाता है। अन्त में या तो वह नायक द्वारा उस कुरीति का त्याग कराता है या नायक का सर्वनाश। जैसे यदि हिन्दू-समाज में विधवा-विवाह-निषेध की कुरीति का उसे खंडन करना है तो वह कुछ इस प्रकार नाटक की रचना करेगा। समाज में प्रतिष्ठित एक व्यक्ति दीनानाथ हैं। उनकी एकमात्र सन्तान मनोरमा है वे उसे बहुत स्नेह करते हैं। चौदह वर्ष की आयु में वे उसका पाणिग्रहण एक शिक्षित, सुन्दर तथा धनिक युवक को करा देते हैं। दुर्भाग्यवश दो ही वर्ष पश्चात् मनोरमा के पति की मृत्यु हो जाती है, उसकी माँग का सिन्दूर छुट जाता है। दीनानाथ विधवा-विवाह-विरोधी हैं। उधर मनोरमा को वैधव्य असह्नीय हो जाता है। वह एक दिन अपने पिता से अपने पुनर्विवाह की प्रार्थना करती है। परन्तु पिता उसकी प्रार्थना को स्वीकार नहीं करता। लाचार होकर मनोरमा किसी नवयुवक के प्रेम में पड़कर उसके साथ किसी अज्ञात स्थान को भाग जाती है। समाज में इस कार्य की घोर निन्दा होती है। दीनानाथ के सिर कलङ्क का टीका लग जाता है। समाचार-पत्रों में चारों ओर उसकी टीका-टिप्पणी होने लगती है। दीनानाथ घोर मानसिक सन्ताप के कारण पागल हो

जाते हैं और एक दिन आत्म-हत्या कर लेते हैं। इस प्रकार नाटककार दर्शकों के हृदय में समाज की कुरीतियों के प्रति घृणा एवं द्वेष के भाव उत्पन्न करता है और धीरे-धीरे उनके उन्मूलन में सहायक होता है। इस प्रकार नाटक द्वारा सामाजिक जीवन में उलट-फेर होता रहता है।

जिस प्रकार सामाजिक कुरीतियों के बहिष्कार में नाट्य-कला योग देती है उसी प्रकार वह श्रेष्ठ रीति-रिवाजों के प्रति श्रद्धा-भाव उत्पन्न करके उनकी जड़ें पुख़्ता करती है, उसी प्रकार वह अन्य समाजों की अच्छाइयों का अपने समाज में प्रवेश कराके उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। जैसे—हमारे समाज में देश प्रेम, राष्ट्रीयता आदि की भावनाओं का अभाव सा रहा है। विलायती साहित्य इन भावनाओं से ओत-प्रोत है। स्व० बा० जयशंकर 'प्रसाद' प्रभृति नाटककारों ने इन भावनाओं की आवश्यकता का अनुभव किया और 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' आदि स्वदेश-प्रेम प्रधान नाटकों की सृष्टि की। फलतः आज हमारे समाज में राष्ट्रीयता की लहर उठ रही है, आज सामाजिक जीवन में राष्ट्रीयता को सर्वोच्च स्थान मिल रहा है।

अब तक भारतीय नाट्यकला धर्म-प्रधान रही है। इधर कुछ वर्षों से अवश्य राष्ट्रीय नाटक लिखे जाने लगे हैं। पहले 'भक्त प्रह्लाद', 'महात्मा बुद्ध', 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'श्रवणकुमार' सरीखे नाटक ही अधिक लिखे गए। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारा समाज 'धर्मप्राण' हो गया। आज भी प्रत्येक हिन्दू प्रत्येक कार्य को धर्म की कसौटी पर कसकर उसकी अच्छाई या बुराई निर्धारित करता है।

जब साहित्य धार्मिकता में डूबा हुआ होगा तो फिर समाज क्यों न वैसा होगा ?

हमारे नाटकों की प्रवृत्ति आदर्शवाद की ओर रही है। हमारे नाटकों में सदैव दुर्गुणों पर सद्गुणों की विजय दिखलाई गई है। आचार्यों ने नाटक के नायक में उदात्त वृत्तियों का होना आवश्यक ठहराया है। यद्यपि नायक के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं, अनेक दुराचारी उसको कुचलने के प्रयत्न करते हैं, तथापि अन्त में विजय नायक की ही होती है। यदि कहीं दुराचारी नायक भी रक्खा गया है तो उसको किसी महात्मा के सम्पर्क अथवा स्वीय पश्चात्ताप की आँच द्वारा सुधार दिया गया है। इस आदर्शवाद की प्रवृत्ति का सामाजिक जीवन पर यह प्रभाव पड़ा है कि उसमें चारित्रिक बल प्रचुर मात्रा में देखा जाता है। हमारे समाज ने ऐसी-ऐसी महान आत्माओं को जन्म दिया जिनमें सद्गुणों की पराकाष्ठा हो गई थी। आज भी गांधीजी सरीखी आत्माएँ इस कथन का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

जहाँ नाट्यकला समाज का सुधार करती है वहाँ उसका मनोरंजन भी करती है। दिन भर के परिश्रम से श्रान्त मनुष्य अभिनय देखकर मन बहलाते हैं और शांति प्राप्त करते हैं। उनकी दिन भर की थकान दूर हो जाती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जीवन में मनोरंजन का बहुत महत्त्व है। नाट्यकला मनोरंजन के साथ साथ मनुष्य के हृदय में रसोद्रेक करती हुई समाज के कलुषित रूप को दिखा कर उसे कांता-सम्मत उपदेश देती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि नाटक सदैव समाज को प्रभावित करता रहता है। साहित्य और समाज में घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्य समाज के मस्तिष्क का भोजन है। जैसा साहित्य होगा समाज भी वैसा ही होगा। नाटक साहित्य का सजीव अंग है। अतः अन्य अंगों की अपेक्षा इसका प्रभाव अमोघ एवं चिरस्थायी होता है।

साहित्य समाज का दर्पण है

(१) प्रस्तावना—साहित्य का रूप
(२) साहित्य की उपयोगिता
(३) साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध
(४) साहित्य के उत्पादक मनुष्य पर सामाजिक वतावरण का प्रभाव
(५) समाज का साहित्य पर प्रभाव
(६) हिन्दी-साहित्य का उदाहरण—
(क) वीरगाथा-काल का साहित्य और उस पर समाज का प्रभाव (ख) भक्तिकाल के साहित्य पर समाज की छाप (ग) रीतिकाल के साहित्य में समाज का रूप (घ) आधुनिक काल के साहित्य में समाज की चित्तवृत्तियों का चित्रण
(७) उपसंहार—समाज के कल्याण के लिए साहित्य-रक्षा की आवश्यकता

वर्सफोल्ड नामक एक पाश्चात्य विद्वान साहित्य का लक्षण निर्धारित करता हुआ कहता है—

Literature is the brain of humanity. अर्थात् साहित्य मानव-समाज का मस्तिष्क है। जिस प्रकार मनुष्य

के मस्तिष्क में उसके पूर्व संचित विचारों, अनुभवों एवं भावनाओं का समष्टि रूप विद्यमान रहता है उसी प्रकार साहित्य में मनुष्य जाति के समस्त अनुभवों और विचारों का भंडार सुरक्षित है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि साहित्य हमारे पूर्वज महानुभावों के विचारों तथा अनुभूतियों का लिखित एकत्रीकरण है। आज हमें गोस्वामी तुलसीदासजी के विचार, अनुभूतियाँ और आकांक्षाएँ विदित हैं। आज आदिकवि वाल्मीकिजी की पुनीत वाणी हमारे मन को प्रफुल्लित करती है। आज कालिदास और भवभूति के नाटक हमें उनके विचारों से परिचित कराते हैं। आज न्यूटन, प्लेटो, अरस्तू आदि महानुभावों की कृतियाँ हमारे ज्ञान की अभिवृद्धि कर रही हैं। यह सब किसका प्रसाद है ? साहित्य का। निस्सन्देह साहित्य ही प्राचीन आचार विचारों का ज्ञान कराता हुआ हमारे मानसिक विकास में हाथ बटा रहा है। वही हमें समस्त मानव-समाज के सूत्र में पिरो रहा है। क्षण भर के लिए भी हमको उससे पृथक् नहीं होने देता।

यदि साहित्य हमारी सहायता न करे, हमें पूर्वजों के संसर्ग से वंचित रक्खे तो हमें बहुत हानि होने की सम्भावना है। हम समाज के अर्जित एवं संचित ज्ञान भंडार से वंचित रह जायंगे। हमारा मानसिक विकास रुक जायगा। जैसे शरीर की उन्नति जल, वायु, भोजन, प्रकाशादि पर निर्भर है उसी प्रकार मस्तिष्क की उन्नति साहित्य पर अवलम्बित है। यदि शरीर को भोजन न मिले तो वह जीवित नहीं रह सकता। उसी प्रकार मस्तिष्क को यदि साहित्य रूपी भोजन न मिले तो वह शक्तिहीन हो जाता है।

मस्तिष्क के अविकसित रहने से समाज की उन्नति में बाधा पहुँचती है। सभ्यता का विकास नहीं हो सकता और ज्ञान का प्रसार रुक जाता है। अतः स्पष्ट है कि साहित्य के अभाव में समाज के व्यष्टि और समष्टि दोनों रूपों को भारी हानि पहुँचती है।

साहित्य और समाज में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। साहित्य के द्वारा समाज को अनुपम शक्ति मिलती है और समाज द्वारा साहित्य का भंडार रत्नों और मणियों से जग मगाता रहता है और उसका विस्तार नित्य प्रति बढ़ता जाता है। अच्छा या बुरा जैसा समाज होता है वैसा ही अच्छा या बुरा साहित्य निर्मित होता है और जैसा अच्छा या बुरा साहित्य होता है वैसा ही अच्छा या बुरा समाज रूप धारण कर लेता है। अर्थात् समाज साहित्य को और साहित्य समाज को प्रभावित करता रहता है। कहा भी है—The Poet and age react upon each other, अर्थात् कवि और समय एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं। निस्सन्देह साहित्य समाज का दर्पण है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि साहित्य द्वारा किसी समाज के अच्छे या बुरे, उन्नत या अवनत, विकसित या अविकसित होने का प्रमाण मिलता है।

मनुष्य एक पेड़ के सदृश है। जिस प्रकार पौधे पर मिट्टी, जल, वायु और प्रकाश का प्रभाव पड़ता है उसी प्रकार मनुष्य जिस वातावरण, जिस परिस्थिति, जिस दशा में होता है उसका प्रभाव उस पर पड़े बिना नहीं रह सकता। देश-काल के प्रभाव से कौन बच सकता है?

प्रायः देखा जाता है कि एक स्थान से पेड़ जिस प्रकार के फल देते हैं दूसरे स्थान के उसी प्रकार के पेड़ वैसे फल नहीं देते। जैसा अमरूद इलाहाबाद का होता है वैसा अन्यत्र नहीं देखा जाता। काश्मीर का सा सेव दूसरे स्थान पर नहीं मिल सकता। चमन का अंगूर देशी अंगूर से कहीं अच्छा होता है। नागपुर का सन्तरा सर्वोत्कृष्ट होता है। कहने का तात्पर्य यही है कि वातावरण के अनुसार जीवन का विकास होता है। समाज का वातावरण मनुष्य का वातावरण है। मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते सामाजिक वातावरण से अलग नहीं रह सकता। यह सच है कि वह अपने व्यक्तित्व से समाज को कुछ हद तक प्रभावित कर सकता है पर वह स्वयं समाज के वातावरण से बहुत अधिक प्रभावित होता रहता है। तुलसीदासजी सरीखे अनुपम प्रतिभा-सम्पन्न महात्मा भी समाज के प्रभाव से न बच सके। उनकी सभी कृतियां पर उनके समकालीन समाज की गहरी छाप है। उनके विचार क्या सामाजिक, क्या राजनैतिक, क्या धार्मिक ईसा की सोलहवीं शताब्दी की प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत हैं। स्वाधीन देशों के व्यक्ति स्वभावतः स्वतन्त्रता प्रिय होते हैं। जहाँ उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण होता है वे मरने मारने को उद्यत हो जाते हैं। पराधीन देशों के मनुष्य दासत्व की बेड़ियों में जकड़े पड़े रहना ही अपना अहोभाग्य समझते हैं। उनका मस्तिष्क इतना विकृत हो जाता है कि स्वतन्त्रता के औचित्य को ही वे नहीं समझ सकते। जिस मनुष्य को सदैव युद्धों के मध्य रहना पड़ता है वह वीर हो जाता है और जिसको कभी तलवार पकड़ने का अवसर ही नहीं मिलता वह कायर बन जाता है। जिस प्रकार बालक माता के स्तन्य से पुष्ट होकर बड़ा होता

है उसी प्रकार व्यक्ति समाज की भावनाओं, विचारों, परम्परा तथा रूढ़ियों को बीज रूप में प्राप्त करके फूलता-फलता है।

जब मनुष्य कुछ साहित्य उत्पन्न करता है तब वे ही भावनाएँ, विचार और रूढ़ियाँ जिन्होंने उसके सारे जीवन को ओत-प्रोत कर रक्खा है उसकी लेखनी के मार्ग से निकल चलती हैं इस प्रकार साहित्य पर समाज अपना प्रतिबिम्ब फेंकता रहता है और उसे अपने अनुरूप बनाता रहता है। यह स्वाभाविक नियम सभी देशों में, सभी कालों में सभी जातियों में, निरन्तर अप्रत्यक्ष रूप से कार्य करता रहता है। भारतवर्ष को लीजिए। हिन्दी-साहित्य पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो पता चलता है कि कालानुसार जैसे-जैसे समाज बदलता गया है वैसे-वैसे साहित्य भी परिवर्तित होता गया है। साहित्य सदैव समाज के रूप को प्रदर्शित करता आया है।

वीरगाथा-काल का साहित्य युद्धों के वर्णनों से भरा पड़ा है। उसमें राजाओं के शौर्य, पराक्रम और प्रताप का वर्णन अनूठी उक्तियों में मिलता है। इसका कारण यह है कि वह लड़ाई-भिड़ाई का समय था। भारतवर्ष पर मुसलमानों के आक्रमण हो रहे थे। उनके रोकने के लिए राजपूत अवरोधात्मक युद्ध करते थे। इसके अतिरिक्त राज्य-विस्तार और परकन्या-अपहरण के लिए भी राजपूत लोग आपस में लड़ लिया करते थे। देश में उस समय चारों ओर तलवारों की खपाखप सुनाई पड़ती थी। अतः साहित्य में वीर-रस प्रधान रचनाएँ हुईं। इसके पश्चात् जब मुसलमानों ने धीरे-धीरे राजपूतों को पराजित करके भ

में अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया तब हिन्दू-समाज की दशा बदली। मुसलमानों के अत्याचारों के कारण हिन्दू-जाति का जीवन कंटकाकीर्ण हो गया। उन्हें पद-पद पर मुसलमानों से अपमानित होना पड़ता था। उनका जीवन नीरस और हताश हो गया। उन्हें चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देने लगा। उनके लिए कहीं भी आशा अथवा सहानुभूति का प्रकाश नहीं था। ऐसी दशा में हिन्दू-जाति का ध्यान राम-कृष्ण की भक्ति की ओर गया। हिन्दू आशा करने लगे कि जिस प्रकार राम ने रावण का वध करके और कृष्ण ने कंस का मद चूर्ण करके समाज की रक्षा की थी उसी प्रकार मुसलमानों से भी उसका उद्धार राम-कृष्ण ही करेंगे। फल यह हुआ कि समाज में भक्ति का प्रचार होने से साहित्य में भी भक्ति की रचनाएँ होने लगीं। इस प्रकार साहित्य में वीर-रस का स्थान भक्ति ने ले लिया। यहाँ तक कि भक्ति-भावनाओं की प्रचुरता के कारण उस समय को साहित्य के इतिहास में भक्ति-काल कहा गया है। इसके अनन्तर जब हिन्दू-जाति के दिन फिरे और मुसलमान उनके साथ अच्छा व्यवहार करने लगे, तब वह विलासिता की ओर उन्मुख हुई। 'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुसार राजा का प्रजा पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। मुगल बादशाहों ने विलासिता की हद कर दी थी। जहाँगीर और शाहजहाँ इसी प्रकार के शासक थे। उस समय हिन्दू राजा भी बड़े विलासी और अकर्मण्य थे। परिणाम यह हुआ कि जनता विलास-सागर में निमग्न हो गई और कवि कलुषित प्रेम की उन्माद-कारिणी उक्तियों से साहित्य को भरने लगे। शृङ्गार-रस गन्दी धाराओं में प्रवाहित होने लगा। राधा और कृष्ण की ओट में कवि-

गए नायक-नायिकाओं के वासनामय प्रेम की उद्भावना करने लगे। उस समय के साहित्य से तत्कालीन समाज की दशा का भली भाँति परिचय मिलता है।

अर्वाचीन हिन्दी-साहित्य को देखते हैं तो उसमें राष्ट्रीय भावनाओं का, समाज की रूढ़ियों के खण्डन का, किसान-मजदूर-आन्दोलन का, स्वाधीनता के सिद्धान्तों का, विवेचन पाते हैं। इससे प्रकट है कि आधुनिक समाज में राष्ट्रीयता का संचार हो रहा है, सामाजिक कुरीतियों से घृणा उत्पन्न हो रही है और कृषकों एवं श्रमजीवियों की दुर्दशा तथा पराधीनता से खिन्नता फैल रही है।

अतः स्पष्ट है कि प्राचीन काल से सदैव साहित्य समाज के रूप को चित्रित करता आया है, समाज की मनोवृत्तियों की अभिव्यंजना करता आया है और भविष्य में भी ऐसा ही करता रहेगा। समाज के कल्याण के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने परम्परागत साहित्य की रक्षा करें और उसकी अभिवृद्धि करते जायें।

हिन्दी का भविष्य

(१) प्रस्तावना—राष्ट्रीयता की भावना के साथ-साथ मातृभाषा की उन्नति
(२) हिन्दी को उच्च शिक्षा में स्थान मिलना
(३) हिन्दी को राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त करना
(४) हिन्दी-उर्दू-विरोध

(५) हिन्दी-साहित्य की दशा
(६) हिन्दी-साहित्य पर विदेशी प्रभाव
(७) प्रचारात्मक कार्य
(८) उपसंहार—हिन्दी-भाषा और साहित्य का अभ्युत्थान

मातृभाषा की उन्नति और राष्ट्रीयता में घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब तक कोई देश गुलामी के गर्त में पड़ा रहेगा तब तक वहाँ की भाषा कभी आदर नहीं पा सकती। आदर पाने की बात तो दूर रही, उसे दासी बनकर रहना पड़ेगा। जब राष्ट्रीय जागृति होगी तब उसकी ओर लोगों का ध्यान जायगा। हिन्दी भाषा की भी यही दशा रही। राष्ट्रीय भावना के संचार से अब पढ़े लिखे लोग उसे अपनाने लगे हैं। एक वह समय था जब लोग हिंदी के अस्तित्व को सन्देह की दृष्टि से देखते थे, उर्दू ही जन-समाज की भाषा समझी जाती थी। एक यह समय है जब भारतीय लोग उसे मातृ-भाषा स्वीकार करने लगे हैं और उसकी उन्नति, उसकी प्रगति, में हाथ बटा रहे हैं। वे यह समझने लगे हैं कि जब तक हिंदी का उत्थान न होगा, जब तक उसका मस्तक ऊँचा न उठाया जायगा, जब तक विश्व-भाषाओं में उसे प्रतिष्ठित न किया जायगा, तब तक हम राष्ट्र का कुछ भी हित-साधन नहीं कर सकते।

अतः हिन्दी भाषा को दिन-दिन आदर मिलता जा रहा है। आज उसे उच्च शिक्षा में स्थान प्राप्त है। कालेजों में हिन्दी का प्रवेश हो गया है। वह इंटरमीजिएट, बी० ए० और एम० ए० की परीक्षाओं का पाठ्य विषय है। यहाँ तक कि डाक्टरेट (आचार्यत्व) की उपाधि के लिए

भी उसे ग्रहण किया गया है। उसका स्टैंडर्ड निरन्तर ऊँचा होता जा रहा है। विदेशों में भी वह सम्मानित हो रही है। विदेशी विश्व-विद्यालयों में उसे स्थान मिलता जा रहा है। हमारे प्रान्त में वह शिक्षा का माध्यम बनती जा रही है। हाईस्कूल और इंटरमीजिएट परीक्षाओं में सम्मिलित होनेवाले विद्यार्थियों को उसी के माध्यम द्वारा विभिन्न विषयों का अध्ययन करने तथा परीक्षा देने का अधिकार प्रदान कर दिया गया है और यह प्रयत्न हो रहा है कि बी० ए० और एम० ए० की शिक्षा के लिए भी विद्यार्थियों को यह सुविधा दे दी जाय।

हिन्दी राष्ट्रभाषा का पद भी प्राप्त करती जा रही है। भारतीय भाषाओं में उसका क्षेत्र सबसे विस्तृत है। उसके बोलनेवालों की संख्या बहुत है। वह सरल है, जिससे सीखनेवालों को कठिनाई नहीं होती। उसे प्राचीनता का गौरव भी प्राप्त है। उसे जन-साधारण की सेवा करते हुए आज लगभग ६०० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। वह प्रौढ़ता को प्राप्त कर चुकी है और खूब मँज गई है। उसका सीधा सम्बन्ध हमारे देश की सभ्यता और संस्कृति से रहा है और है। उसकी लिपि सरल तथा वैज्ञानिक है इन गुणों के कारण यह सर्वथा राष्ट्र-भाषा बनने के उपयुक्त है। देश के राष्ट्र सेवियों ने उसे एक स्वर से राष्ट्रभाषा स्वीकार किया है और वे उसे यह पद प्रदान करना चाहते हैं, पर मुसलमानों ने विषम स्थिति उत्पन्न कर दी है। वे नहीं चाहते कि हिन्दी राष्ट्र-भाषा बनाई जाय। वे यह पद अपनी उर्दू भाषा को देना चाहते हैं, यद्यपि उर्दू में राष्ट्र-भाषा की एक भी विशेषता नहीं है।

न उसका विस्तार अधिक है, न वह इतनी सरल है, न उसे प्राचीनता का गौरव प्राप्त है, न उसका सम्बन्ध देश की प्राचीन सभ्यता से है और न उसकी लिपि दोष-मुक्त है। केवल साम्प्रदायिकता की गन्दी मनोवृत्ति ही मुसलमानों की हिन्दी-विषयक अप्रसन्नता का कारण है। वे हिन्दी को फूटी आँख भी देखना नहीं चाहते, क्यों कि उसका सम्बन्ध हिन्दुओं से है उसे वे हिन्दुओं की ही भाषा कहते हैं।

फलतः हिन्दी-उर्दू समस्या पैदा हो गई है। उर्दू हिन्दी को प्रतिद्वन्द्विता कर रही है। दोनों के बीच की खाई चौड़ी होती जा रही है। यद्यपि हिन्दी-उर्दू-विरोध प्राचीन है तथापि आजकल उसने भीषण रूप धारण कर लिया है। दोनों के विरोध का प्रधान कारण यह है कि हिन्दी संस्कृत की ओर झुकती है और उर्दू अरबी-फारसी की ओर। यदि दोनों ही मध्यवर्ती मार्ग ग्रहण करें तो विरोध मिट सकता है। पर हिन्दी ऐसा नहीं कर सकती। उसके संस्कृत की ओर झुकने के कारण हैं, भारतीय आर्य भाषाओं से सम्बन्ध-निर्वाह, संस्कृत शब्दों के प्रयोग से शैली में प्रौढ़ता तथा गरिमा का समावेश और हिन्दू-सभ्यता एवं संस्कृति की संरक्षा। ऐसी दशा में यह आवश्यक है कि हिन्दी-भाषा-भाषी-प्रान्तों में प्रत्येक हिन्दू हिन्दी को अपनाए। हिन्दी हिन्दुओं की भाषा है। यदि वे अपनी मातृभाषा का आदर नहीं करेंगे, यदि वे अपनी मातृभाषा का माता की भाँति सम्मान करना नहीं सीखेंगे, तो वह उर्दू की प्रतिद्विन्द्विता में नहीं ठहर सकेगी। यदि हिन्दू-जाति उसके प्रति अपना कर्तव्य पालन करेगी तो वह निकट

भविष्य में राष्ट्रभाषा के गौरवान्वित उच्च आसन पर आसीन होगी, इसमें सन्देह नहीं।

यह तो हुई भाषा की बात। अब साहित्य की ओर आइए। हमारा प्राचीन हिन्दी-साहित्य पद्य-मय रहा। सूर, तुलसी, जायसी, केशव, बिहारी, भूषण, आदि साहित्य के पुजारियों ने अपनी-अपनी भव्य वाणी का संचार कविता में किया। गद्य का आविर्भाव हुए थोड़ा समय व्यतीत हुआ है। किन्तु अल्प काल में ही उसने पर्याप्त उन्नति कर ली है। उसके विविध अंग पुष्टता प्राप्त करते जा रहे हैं। नाटक, उपन्यास, कहानी और निबन्ध द्रुत गति से प्रगति के पथ पर अग्रसर होते जा रहे हैं। उनकी संख्या में दिन-दिन अभिवृद्धि हो रही है और उनका रूप दिन-दिन निखर रहा है। भारतेन्दुजी, द्विवेदीजी, प्रसादजी, प्रेमचन्दजी और शुक्लजी ने गद्य-साहित्य को उच्चता की ओर उन्मुख किया है। उनकी कृतियाँ गद्य साहित्य की विभूतियाँ हैं। यद्यपि आजकल गद्य का ही बोलबाला है और उसका भविष्य भी उज्ज्वल प्रतीत हो रहा है, तथापि पद्य में भी रचनाएँ हो रही हैं। गुप्तजी, उपाध्यायजी, पन्तजी, महादेवीजी आदि कविगण भारती के पुनीत चरणों में अपन-अपना प्रसाद चढ़ा रहे हैं।

वर्तमान हिन्दी-साहित्य विदेशी साँचे में ढलता जा रहा है। उसका रंग-रूप, वेश-भूषा दिन-दिन पाश्चात्य साहित्य के अनुसार परिवर्तित होती जा रही है। वह आदर्शवाद से मुख मोड़ता जा रहा है और विदेशी प्रभाव के फल-स्वरूप यथार्थवाद की ओर झुकता जा रहा है। 'संन्यासी'

सरीखे नाटक और 'कंकाल' सरीखे ग्रन्थ निकल रहे हैं, जिनमें समाज के कलुषित अंगों को अंकित किया गया है। "कला कला ही के लिए' का गंदा प्रवाह भी साहित्य क्षेत्र में प्रवाहित हो गया है। अनेक वादों के चक्कर में फँसकर हमारा साहित्य अपनी महानता और गौरव को खोता जा रहा है, यह खेद की बात है।

हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रचार एवं उन्नति के लिए हमारे प्रान्त में आजकल तीन प्रधान संस्थाएँ काम कर रही हैं—काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन और हिन्दुस्तानी एकेडेमी। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा वह प्रकाश-स्तम्भ है जिसके उजेले में अनेक साहित्यकों ने अपना मार्ग ढूँढ़ा है। उसने अनेक प्राचीन अप्राप्य ग्रन्थों की खोज की है और कर रही है। 'हिन्दी-शब्द-सागर', 'हिन्दी-व्याकरण' इत्यादि कई महत्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाश में लाने का श्रेय भी उसी को है। हिन्दी-प्रचार के लिए भी उसके निरन्तर उद्योग हो रहे हैं। प्रयाग का हिन्दी साहित्य-सम्मेलन इस कार्य में बहुत योग दे रहा है। उसके द्वारा संचालित परीक्षाओं में अगणित परीक्षार्थी उत्तीर्ण होकर हिन्दी का प्रसार कर रहे हैं। सरकार द्वारा स्थापित हिन्दुस्तानी एकेडेमी की सेवाएँ भी उल्लेखनीय हैं। यह संस्था, हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं के साहित्यों की समृद्धि में प्रयत्नशील है। यह उच्च विषयों पर विद्वानों द्वारा पुस्तकें तथा निबन्ध लिखाने और व्याख्यान दिलाने की व्यवस्था करती है। उत्कृष्ट रचनाओं को पुरस्कृत करके लेखकों तथा कवियों को प्रोत्साहित किया जाता है। हमारे प्रान्त के अतिरिक्त अन्य प्रान्तों में भी हिन्दी भाषा और

साहित्य प्रचार हो रहा है। दक्षिण में 'दक्षिण हिन्दी-प्रचार सभा' प्रशंसनीय कार्य कर रही है। मद्रास जैसे सुदूर प्रान्त में भी हिन्दी का सन्देश पहुँच चुका है।

सारांश यह है कि हिन्दी भाषा उत्तरोत्तर प्रसार और प्रगति के पथ पर आगे बढ़ रही है। भारतवर्ष के बाहर सात समुद्र पार भी उसकी आवाज पहुँच चुकी है। विभिन्न विषयों पर अच्छे-अच्छे ग्रन्थ निकल रहे हैं। उच्च से उच्च परीक्षा तथा कक्षा में हिन्दी को स्थान मिल रहा है। शिक्षा-माध्यम के आसन पर उसे आसीन किया जा रहा है। राष्ट्रभाषा का गौरवपूर्ण पद भी उसके लिए सुरक्षित हो रहा है। उसका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। पर एक बात अवश्य खटकती है। हिन्दी को पश्चिम की नकल नहीं करनी चाहिए। हिन्दी-साहित्य-निर्माताओं को पश्चिमवालों के तालसुर पर नाचना शोभा नहीं देता। हमें तो चाहिए कि हम अपनी मातृभाषा का स्वतन्त्र रूप से विकास करें, उसे दूसरी भाषाओं की कालिमा से मुक्त रक्खें। इसी में हमारा और हमारी भाषा का कल्याण है, इसी में हमारा और हमारी भाषा की वास्तविक उन्नति का रहस्य छिपा हुआ है।

काव्य और उपयोगितावाद

(१) प्रस्तावना—काव्य के ध्येय के विषय में मत-भेद—कलावाद और उपयोगितावाद

(२) कलावाद की परीक्षा

(३) काव्य और जीवन का सम्बन्ध

(४) संसार की सभी वस्तुओं का उपयोगी होना

(५) काव्य का उपयोग
(६) कलावाद का हाल की विलायती उपज होना
(७) काव्य को किसानों और मजदूरों के जीवन से सम्बन्धित करने का प्रश्न
(८) उपसंहार—सारांश

काव्य के ध्येय के विषय में विद्वानों में मतभेद है। कोई काव्य को साधन मानते हैं और कोई साध्य। ये ही दो प्रधान धारणाएँ हैं जिनमें प्रतिदिन संघर्ष बढ़ता जा रहा है। काव्य को किसी साध्य का साधन मानना उपयोगितावाद कहलाता है और साध्य मानना कलावाद। कलावादियों का सिद्धान्त है—Art is for art's sake अर्थात् कला कला ही के लिए है। वे कला का उद्देश्य कला ही मानते हैं। उनका विश्वास है कि काव्य कला की उपासना के लिए है जिससे अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है। काव्य का जीवन से, जगत से, कोई सम्बन्ध नहीं। उसकी कोई उपयोगिता नहीं। इसके विरुद्ध उपयोगितावादियों का कथन है कि काव्य जीवन की व्याख्या द्वारा मानव-समाज का उद्धार करता है, यही उसका लक्ष्य है, यही उसका ध्येय है। ऐसा काव्य जो जीवन की समस्याओं का उद्घाटन नहीं करता, जीवन की दशाओं का चित्रण नहीं करता, बल्कि पंख लगाकर 'जहाँ न जाय रवि वहाँ जाय कवि' उक्ति को चरितार्थ करता हुआ नक्षत्र, लहर और कलिकाओं से सम्बन्धित अनूठी उक्तियों से साहित्य को भरता रहता है प्रकृत काव्य नहीं कहा जा सकता।

अब प्रश्न उठता है कि कलावाद और उपियोगितावाद में से कौनसा ठीक है? क्या सचमुच काव्य का साध्य

काव्य ही है ? क्या जीवन से काव्य का कुछ भी संबन्ध नहीं ? क्या काव्य वास्तव में जीवन से अलग रह सकता है ? कवि एक जीवधारी व्यक्ति है । उसका जो कुछ अनुभव होता है वह जीवन से ही होकर आता है । उसी अनुभव को वह काव्य-रूप में समाज की भेंट कर देता है। अतः स्पष्ट है कि काव्य जीवन से पूर्णतया सम्बन्धित है । हडसन ने भी कहा है—"Poetry is made out of life, belongs to life, exists for life" अर्थात् काव्य जीवन से उत्पन्न होता है, जीवन के आश्रित रहता है और जीवन के लिए ही उसका अस्तित्व है। उसमें जीवन-सम्बन्धी बातों का विवेचन रहता है । वह जीवन की विस्तृत टिप्पणी है।

जीवन का विवेचन करता हुआ, उसका विश्लेपण करता हुआ कवि जीवन के भीतरी तत्वों के उद्घाटन से अपने को अलग नहीं रख सकता । मानव समाज के उद्धार के लिए किसी-न-किसी प्रकार के जीवन-सिद्धान्तों का उल्लेख वह करता ही है । जहाँ जीवन का विवेचन रहेगा वहाँ किसी-न-किसी प्रकार के नैतिक सिद्धान्त रहेंगे ही । नीति और जीवन का सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हो सकता । अतः नीति भी काव्य से अलग नहीं हो सकती । मैथ्यूआर्नल्ड नामक एक सुप्रसिद्ध समालोचक का कथन है—'Poetry is at bottom a criticism of life; that the greatness of a poet lies in his powerful and beautiful application of ideas to life—to the question : How to live ?' × × × × A poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt against life ; a poetry of indifference towards moral ideas is a poetry of indiffere-

nce towards life." अर्थात् कविता वस्तुतः जीवन की आलोचना है। कवि का महत्त्व अपने विचारों को सुन्दर और सशक्त ढंग से जीवन, जीवन के प्रश्न, पर लागू करने में है। वह कविता जो नीति का विरोध करती है जीवन का भी विरोध करती है। वह कविता जो नीति से उदासीन रहती है जीवन के प्रति भी उदासीन रहती है।

संसार में कोई वस्तु निरुद्देश्य नहीं, कोई वस्तु उपयोगिता-रहित नहीं। तो यह कब संभव है कि काव्य उपयोगिता से परे रह सके? सच्चे काव्य में मानव-जीवन का आदर्शमय लोकोपयोगी भव्य रूप खड़ा किया जाता है, आत्मा को उत्तरोत्तर उच्चता की ओर अग्रसर करने के साधन जुटाए जाते हैं, अनुकरणीय चरित्रों की उद्भावना की जाती है। इस प्रकार का काव्य-रचयिता अपना उद्धार तो करता ही है पर साथ ही समाज का भी उद्धार कर देता है। जिस कार्य के सम्पादन में सहस्रों उपदेशक कृतकार्य नहीं हो सकते उसको वही अकेला ही पूरा कर लेता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ऐसे ही काव्य-प्रणेता थे। उनके 'रामचरितमानस' में जीवन का सर्वोत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है। नीति और मर्यादा के साथ काव्य का दिव्य रूप मन को मुग्ध करने वाला है। तुलसी के 'मानस' द्वारा हिन्दू जाति का कितना उपकार हुआ है, यह बतलाना शब्द की शक्ति से परे है। यदि गोस्वामीजी अपने काव्य में नीति और मर्यादा का स्वर्ण-संयोग न करते तो क्या यह उपकार संभव था? कदापि नहीं। नीति ही काव्य का प्राण है। पर कलावादी लोग काव्य और नीति के क्षेत्र पृथक् पृथक् मानते हैं। यह उनकी भूल है। यदि काव्य और नीति में सम्बन्ध

नहीं है तो फिर क्या काव्य का अस्तित्व मनोरंजन के लिए ही है? यदि हाँ तो नाचने और गाने के समान काव्य भी विलास की सामग्री ठहरता है।

कलावादी कवि जगत की चिंताओं से छुटकारा पाने के लिए क्षितिज के उस पार सुनहले स्वप्निल संसार का सृजन करते हैं। उनके पंख इस भूतल पर नहीं टिकते। वे सदैव अतीन्द्रिय जगत में उड़ते रहते हैं, कल्पना की उड़ान भरते रहते हैं। उनकी रचनाओं से समाज को कुछ भी लाभ नहीं पहुँचता। हमें ऐसे काव्य की आवश्यकता नहीं। हमें तो ऐसा काव्य चाहिए जो हमारे समाज की, हमारे देश की, आवश्यकताओं की पूर्ति करे, जीवन की समस्याओं को सुलझाने में हमारी सहायता करे। हमें तो आज ऐसे काव्य की आवश्यकता है जो देश के प्रत्येक व्यक्ति को नीति और सदाचार का पाठ पढ़ाए। हमें तो आज ऐसे काव्य की आवश्यकता है जो समाज की बुराइयों को दूर करे। कलावादी लोग कहेंगे कि इस प्रकार का काव्य उच्च कोटि का नहीं हो सकता। किसी भी लक्ष्य को रखकर यदि काव्य-रचना की जायगी तो वह निकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकती। किन्तु यह ठीक नहीं है। काव्य की कसौटी उसका अधिक काल तक जीवित रहना है। जो काव्य जितने अधिक समय तक संसार में जीवित रहेगा वह उतना ही उच्चकोटि का होगा। निकृष्ट कोटि की रचना बरसाती मेंढकों की भाँति थोड़े समय तक रहकर नष्ट हो जाती है। यों तो समय के साथ सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन होता ही रहता है, पर कुछ तत्व ऐसे हैं जो सदैव एक रूप में रहते हैं।

उन्हीं के कारण श्रेष्ठ काव्य का महत्व कभी कम नहीं होता। यह देखा गया है कि जितने भी प्राचीन काव्य आज तक समादृत हैं वे सभी जीवन और जगत से सम्बन्धित हैं। वाल्मीकि, तुलसी, सूर कवियों की रचनाएं इतना अधिक समय व्यतीत होने पर भी आदर की दृष्टि से देखी जाती हैं। क्यों ? समाज में अपनी उपयोगिता के कारण। यदि समाज के लिए कोई काव्य उपयोगी न होगा तो स्वभावतः वह अधिक दिन तक जीवित न रह सकेगा। समाज तो ऐसी ही रचना को महत्व देता है और देता रहेगा जिससे उसको लाभ पहुँचे। अतः स्पष्ट है कि उपयोगितावादी काव्य ही उच्च कोटि का होता है। कलावादी काव्य से समाज को कुछ भी लाभ नहीं पहुँचता। वह अधिक दिन तक जीवित नहीं रह सकता। अतः उसे निकृष्ट कोटि में स्थान मिलना चाहिए।

कलावाद हाल की विलायती उपज है। इधर कुछ दिनों से ही काव्यक्षेत्र में इसका शंखनाद होने लगा है। प्रायः नवयुवक कविगण ही इसके अंध भक्त हैं। वे ही निराली दुनिया की रचना कर रहे हैं। वर्तमान काव्य में कलावाद का नग्न रूप देखने को मिल रहा है। विलायती काव्य में तो इसका बोल बाला है ही। हिन्दी के कतिपय कवि भी इसका रूप अपने काव्य में रखने लगे हैं। हमारे पं० सुमित्रानन्दन पंत की 'छाया' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ देखिए—

कहो, कौन हो दमयन्ती-सी,
तुम तरु के नीचे सोई !

हाय ! तुम्हें भी त्याग गया क्या,
अलि ; नल-सा निष्ठुर कोई !

\+ + + +

गूढ़-कल्पना-सी कवियों की,
अज्ञाता के विस्मय—सी,
ऋषियों के गम्भीर-हृदय-सी,
बच्चों के तुतले-भय-सी ।

इनमें कल्पना की करामात के अतिरिक्त क्या जीवन की किसी दशा का चित्रण है ? प्राचीन-काल का काव्य तो सम्पूर्ण उपयोगितावादी ही है । हिन्दी काव्य को छान डालिए । कहीं भी इसका अपवाद न मिलेगा । वीरगाथा-काल के कवि जनता के हृदय में वीरोत्साह का उद्रेक करने के लिए रचना करते थे । उस समय काव्य का यही उपयोग था । भक्तिकाल के काव्य का उपयोग सर्वसाधारण में भक्ति के सिद्धान्तों का प्रचार था । रीतिकाल का काव्य कवियों के आश्रयदाता राजा-महाराजाओं की विलास चेष्टाओं के उद्दीपन का साधन था । आधुनिक काल के अधिकांश काव्य का लक्ष्य सामाजिक कुरीतियों का खंडन तथा देश की परतन्त्रता का निराकरण है । बाबू मैथिलीशरण गुप्त अपने काव्य में एक स्थान पर स्त्रियों के प्रति पुरुषों के अन्याय का दिग्दर्शन कराते हुए कहते हैं—

नर कृत शास्त्रों के सब बन्धन
हैं नारी ही को लेकर,
अपने लिए सभी सुविधाएं
पहले ही कर बैठे नर !

श्री वियोगीहरि अछूतोद्धार का पृष्ठ-पोषण करते हुए कहते हैं—

सुरसरि औ अंत्यज दुहूँ, अच्युत-पद-संभूत ।
भयौ एक क्यों छूत औ, दूजौ रह्यौ अछूत ।।

उपयोगितावादी आजकल एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठा रहे हैं। उनका कहना है कि किसानों और मजदूरों के लिए काव्य-रचना की जाय। कविगण किसानों और मजदूरों के जीवन को काव्य का विषय बनावें, उनके सुधार के लिए काव्य का उपयोग करें, उनकी आवश्यकताओं का काव्य में दिग्दर्शन करावें और शिक्षित समुदाय का ध्यान गाँवों की ओर आकृष्ट करें। निस्सन्देह यह वांछनीय है। किन्तु यह कहना कि काव्य को किसानों और मजदूरों के समझने के लिए नीचे धरातल पर ले आना चाहिए ठीक नहीं प्रतीत होता। हमें काव्य को नीचे न गिराकर किसानों और मजदूरों को ही शिक्षित करके काव्य की सतह तक पहुँचाना चाहिए।

अन्त में यही कहना है कि काव्य-कला को हमें मानव-समाज का उद्धार करनेवाला एक साधन समझना चाहिए, साध्य नहीं। काव्य और जीवन का अटूट सम्बन्ध है। पहला दूसरे के सुधार में, दूसरे को ऊँचा उठाने में, सदैव प्रयत्नशील रहेगा। बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने अपने 'साकेत' नामक महाकाव्य में कला पर विचार प्रकट करते हुए ठीक ही कहा है—

हो रहा है जो जहाँ, सो हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?

किन्तु होना चाहिए कब क्या, कहाँ,
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।
मानते हैं जो कला के अर्थ ही
स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही।

वैयक्तिक शासन और प्रजातन्त्र

(१) प्रस्तावना—संसार में प्रजातन्त्र की उपासना
(२) प्राचीनकाल में प्रजा-तन्त्र शासन के अत्याचार
(३) प्रजातन्त्र की बुराइयाँ—
(क) मत-बाहुल्य का आधार लिया जाना और अधिकांश जनता का मूर्ख होना (ख) चुनाव में गुरु-घंटालों की सफलता और गुटबन्दी (ग) चुनाव में धनवानों की सफलता (घ) बुद्धिमान मनुष्यों के हाथ में शासन की बागडोर न होना
(४) वैयक्तिक शासन की परीक्षा
(५) प्रजातन्त्र और वैयक्तिक शासन का सापेक्षिक महत्त्व
(६) प्रजातन्त्र और वैयक्तिक शासन की मध्यवर्ती शासन-पद्धति का श्रेष्ठ होना, रामचरितमानस से पुष्टि
(७) उपसंहार—सारांश

आजकल राजनीति-क्षेत्र में स्वतन्त्रता देवी की आराधना हो रही है। लगभग सभी जातियाँ उस देवी की पुजारिनें हैं। पाश्चात्य देशों में तो न जाने कितने पुरुषों एवं स्त्रियों ने स्वतंत्रता की वेदी पर अपने प्राणों का बलिदान चढ़ाया है। आज भारतवर्ष में स्वतन्त्रता की लहर कोने-कोने में फैल रही है और अगणित मनुष्य इस स्वातन्त्र्यपादप को

में संलग्न हैं। एकतन्त्र शासन-प्रणाली का कोई भी उपासक नहीं रह गया है। कोई किसी व्यक्ति-विशेष के नियन्त्रण में रहना नहीं चाहता। सभी यह चाहते हैं कि शासन की बाग-डोर जनता के हाथ में रहे। प्रजा-तन्त्र शासन की दुन्दुभी से आज विश्व प्रतिध्वनित हो रहा है। उसी को सुख का साधन समझा जा रहा है। अतः कई एक निरंकुश शासकों के मुकुट प्रजा के पैरों ने ठुकरा दिए हैं।

पर क्या किसी ने शान्तिपूर्वक प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली के दोषों पर भी विचार किया है? प्राचीनकाल के प्रजा-सत्तात्मक साम्राज्य यूनान और रोम के उदाहरण हमारे सामने हैं। क्या कोई कह सकता है कि इन साम्राज्यों में प्रजा सुख से रही और किसी मनुष्य के साथ अत्याचार नहीं किया गया? क्या यूनान में सुकरात को विष का प्याला नहीं पीना पड़ा? क्या रोम में देश-भक्तों को तलवार के घाट नहीं उतरना पड़ा? यदि, हाँ तो फिर इस शासन-प्रणाली को क्यों सुख का साधन समझा जाता है। प्रायः सबसे बड़ा दोष जो प्रजातन्त्रवादी राज्यों में पाया जाता है वह शासन-शक्तियों का एक व्यक्ति में केन्द्रस्थ हो जाना है। ऐसा व्यक्ति राज्य को अपनी निजी वस्तु समझ कर प्रजा के साथ क्रूरता का व्यवहार करता है। इतिहास इस प्रकार के उदाहरणों से भरा पड़ा है। रोम में सीजर और आगस्टस तथा फ्रांस में नैपोलियन इसी प्रकार के उदाहरण हैं।

प्रजातन्त्र शासन-प्रणाली की और भी अनेक बुराइयाँ हैं। इस में जनता के मताधिकार पर विशेष ध्यान रक्खा

जाता है। प्रत्येक कार्य मत-बाहुल्य के आधार पर किया जाता है। "Majority consists of fools" के अनुसार जनता के अधिकांश लोग मूर्ख होते हैं। अतः वे किसी कार्य की उपयोगिता या हानि-लाभ नहीं समझ सकते और चाहे जिस पक्ष में अपना मत दे देते हैं। परिणाम यह होता है कि उनको तो अपनी मूर्खता का फल भोगना ही पड़ता है पर उनके साथ बुद्धिमान भी दुःख के भागी होते हैं। मूर्खों में से कुछ भय और धन द्वारा वोटरों पर अधिकार करके सरकारी पदों पर पहुँच जाते हैं। वे राज्य-संचालन के सर्वथा अयोग्य होते हैं और अनेक त्रुटियाँ करते हैं। वास्तव में उनका उद्देश्य भी ठीक शासन-व्यवस्था द्वारा जनता को सुख प्रदान करना नहीं होता। वे तो अपना और अपने मित्रों का हित-साधन करने के लिए ही पदों पर पहुँचते हैं।

प्रायः देखा जाता है कि प्रजा-तन्त्र शासन में गुरु-घण्टालों को ही चुनाव में अधिक सफलता मिलती है। वे ही वोटरों को झूठे वचन दे देकर उनसे वोट लेते हैं। योग्य और बुद्धिमान मनुष्य प्रायः सीधे-सादे होते हैं। वे कभी वचन-बद्ध नहीं होते, क्योंकि उन्हें इस बात की आशंका रहती है कि कहीं वे अपने वचन की पूर्ति न कर सकें। इसके अतिरिक्त उनमें धूर्तों के से हथकंडे और चाल भी नहीं पाई जाती। अतएव उन्हें चुनाव में कभी सफलता नहीं मिलती। वे तो सदैव अयोग्य और धूर्तों द्वारा ही शासित रहते हैं। उन्हें कभी अयोग्य और धूर्तों पर शासन करने का सुअवसर नहीं मिलता। धूर्तों के शासन से देश

और समाज दोनों की अधोगति होती है। वे लोगों के साथ अत्याचार और अन्याय करते हैं।

गुरुघण्टालों के अतिरिक्त धनवान मनुष्य भी शासन-समितियों में पहुँच जाते हैं। धन द्वारा अशिक्षित ही नहीं शिक्षित लोग भी वश में कर लिए जाते हैं। यह वह शक्ति है जिसकी कृपा से मनुष्य चारों ओर अपना अधिकार स्थापित करने में कृतकार्य होता है। यह वह शक्ति है जिसके प्राप्त होने पर मनुष्य अगणित लोगों पर अपना प्रभुत्व जमा लेता है। चुनाव-संग्राम में रुपयों के बिना काम नहीं चल सकता। कभी कभी तो वोटरों को उत्कोचादि के प्रलोभन दिए जाते हैं। बुद्धिमान पुरुषों पर प्रायः धन नहीं होता। अतः धनवानों की प्रतियोगिता में वे नहीं टिक सकते हैं। ऐसे कितने वोटर होते हैं जो धन का तिरष्कार कर बुद्धि को महत्व देते हैं? ऐसे कितने वोटर होते हैं जो धन को अपने वोट की कसौटी न बनाकर बुद्धि को अपने वोट की कसौटी बनाते हैं? परिणाम यह होता है कि अयोग्यता के कारण धनिक मनुष्य प्रजा में शांति स्थापित नहीं कर सकते।

जैसा कि प्लैटो का कथन है प्रायः यह भी देखा है कि प्रतिभाशाली व्यक्ति राज-काज में भाग लेने से घृणा करते हैं। अन्य लोग सरकारी पदों को अपनी प्रसिद्धि और वैभवादि की प्राप्ति के लिए अपनाते हैं, किन्तु प्रतिभाशाली व्यक्ति इनमें से किसी वस्तु की इच्छा नहीं रखते। उन्हें न वैभव चाहिए, न आदर, न प्रसिद्धि। वे इन वस्तुओं को व्याधि समझते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने

प्रतिष्ठा से खिन्न होकर अपने काव्य में एक स्थान पर कहा है—

माँगि मधुकरी खाति ते, सोवत गोड़ पसारि ।
पाँय प्रतिष्ठा बढ़ि परी, ताते बाढ़ी रारि ॥

वास्तव में बुद्धिमान मनुष्य स्वतंत्र जीवन के प्रेमी होते है । जिस कार्य में उनकी स्वतंत्रता का अपहरण होता है वह उन्हें नहीं रुचता । यदि उनमें से कुछ शासन-भार सहन भी करते हैं तो समाज के उपकार के उद्देश्य से, जिसे गोस्वामीजी ने इतना अधिक महत्व दिया है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई । परपीड़ा सम नहिं अधमाई ॥

अतः स्पष्ट है कि प्रजा-सत्तात्मक शासन-प्रणाली दोष-पूर्ण है । यद्यपि उसके सिद्धान्त श्रेष्ठ हैं, वह समानता और स्वाधीनता पर अवलम्बित है, तो भी अयोग्यता और गुट्टबंदी के कारण उससे जनता को सुख और शांति नहीं मिल पाती । यही कारण है कि संसार में प्रजा-तन्त्र साम्राज्य धीरे धीरे एक-तन्त्र शासन की ओर अग्रसर हो रहे हैं ।

तो फिर कौनसी शासन-प्रणाली उत्तम है ? कुछ लोग कहेंगे वैयक्तिक । उनके अनुसार वैयक्तिक शासन से राष्ट्र का अभ्युत्थान होता है और प्रजा भी सुख से जीवन व्यतीत करती है । उदाहरण-स्वरूप जर्मनी ने हिटलर की अधीनता में कितनी अधिक उन्नति की ! इटली ने मुसोलिनी की अध्यक्षता में कितनी शक्ति बढ़ा ली, टर्की ने कमाल पाशा के शासन में कैसा आशातीत उत्थान किया है ! रूस का स्टेलिन के आधिपत्य में कितना अभ्युदय हुआ है ! इन

सब देशों में वैयक्तिक शासन को सफलता मिली है। पर क्या यह आशा की जा सकती है कि भविष्य में भी ये देश इसी प्रकार उन्नति करते रहेंगे ? क्या इन महान् प्रतिभाशाली आत्माओं के न रहने पर भी इसी प्रकार की उन्नति सम्भव हो सकेगी ? वैयक्तिक शासन तभी अच्छा होता है जब शासन की बागडोर हाथ में रखनेवाला व्यक्ति योग्य, न्यायी और श्रेष्ठ आचारवाला हो। यदि शासक अयोग्य एवं अत्याचारी हुआ तो वह प्रजा को पीस डालेगा। एकतन्त्र अथवा वैयक्तिक शासन-प्रणाली में अच्छे शासक का मिलना संयोग की बात है। अतएव प्रजा का कल्याण भी अनिश्चित रहता है। कभी उसे सुख मिलता है और कभी दुःख। कभी वह उन्नति करती है और कभी अधोगति के अन्धकूप में गिर जाती है। कहने का तात्पर्य यही है कि वैयक्तिक शासन तो प्रजातन्त्र से भी गया बीता है

कारलायल नामक विद्वान का कथन है—"Democracy means despair of finding heroes to govern you and being contented putting up with the want of them अर्थात प्रजातन्त्र से अभिप्राय उत्कृष्ट शासकों के पा सकने की निराशा में उनके अभाव में सन्तुष्ट रहना है। इससे स्पष्ट है कि शासन के लिए योग्य और सदाचारी व्यक्तियों के अभाव में प्रजातन्त्र की शरण ली जाती है। यह शरण अच्छी होती है, क्योंकि प्रजा-तन्त्र शासन में एक-तन्त्र शासन की अपेक्षा दुःख और अत्याचार की सम्भावना कम रहती है। कुछ लोगों का मत है कि यदि जनता की अशिक्षा और दरिद्रता को मिटा दिया जाय तो प्रजातन्त्र शासन सर्वोत्तम हो जाय और उसमें कोई दोष न रहे। दरिद्रता

के कारण वोटर धन के प्रलोभन में पड़कर योग्य मनुष्य को वोट नहीं देते बल्कि अयोग्य धनाढ्य व्यक्ति को दे देते हैं। अशिक्षा के कारण वोटर उपयुक्त मनुष्य को अपना प्रतिनिधि नहीं चुन सकते। वे भय और दबाव के द्वारा गुरुघण्टालों के पंजों में फँस जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि दरिद्रता और अशिक्षा के निराकरण से प्रजातन्त्र के दोष कम रह जायँगे, पर यह कहना कि उसमें कोई दोष ही नहीं रहेगा अथवा वह सर्वश्रेष्ठ हो जायगा ठीक नहीं प्रतीत होता। जब तक गुट्टबन्दी और धूर्तता का काला मुँह न होगा तब तक वह पूर्णतः दोष-मुक्त नहीं हो सकता। आजकल शिक्षितों में भी ये अवगुण देखे जाते हैं, यह खेद की बात है।

हमारी समझ में तो वैयक्तिक और प्रजातन्त्र दोनों शासन-प्रणालियों से कहीं श्रेष्ठ वह शासन-प्रणाली है जो इन दोनों का मध्यवर्ती मार्ग ग्रहण करती है और उसके अनुसार शासन का उत्तरदायित्व राजा और प्रजा दोनों पर रहता है। राजा पर प्रजा का अंकुश रहता है। वह प्रजा की अनुमति के विना कोई कार्य नहीं करता है। राजा के अत्याचारी अथवा अन्यायी होने पर प्रजा को उसे पदच्युत करने का पूर्ण अधिकार होता है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने 'रामचरितमानस' में इसी प्रकार की शासन-प्रणाली का प्रतिपादन किया है। उन्होंने राजनीति-क्षेत्र में प्रजातन्त्र और एकतन्त्र शासन-रूपी गंगा-यमुना का संगम कराके उसे तीर्थराज के समान पवित्र बनाया है। उनके दशरथ और राम निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासक नहीं थे। वे प्रत्येक कार्य अपनी प्रजा की सम्मति से करते

थे । रामचन्द्रजी के राज्याभिषेक के सम्बन्ध में राजा दशरथ किस प्रकार प्रजा की सम्मति ले रहे हैं । देखिए—

जो पाँचहिं मत लागहिं नीका ।
करहुँ हरषि हिय रामहिं टीका ॥

रामचन्द्रजी भी अपने ऊपर प्रजा का कितना नियन्त्रण रखना चाहते थे देखिए—

जो अनीति कछु भाषौं भाई ।
तौ मोहिं बरजहु भय बिसराई ॥

राजा और प्रजा का सम्बन्ध इसी प्रकार का होना चाहिए जैसा मुख और शरीर का । गोस्वामीजी कहते हैं :—

मुखिया मुख सो चाहिए खान पान कहँ एक ।
पालै पोषै सकल अँग तुलसी सहित विवेक ॥

जैसे मुख सारे शरीर की रक्षा करता है वैसे ही राजा को प्रजा की रक्षा करना चाहिए ।

अन्त में यही कहना है कि वैयक्तिक शासन और प्रजातंत्र पृथक्-पृथक् दोनों ही दोष-युक्त हैं । ऐसी शासन-प्रणाली जो इन दोनों की मध्यवर्ती हो मानव-समाज का कल्याण कर सकती है । अतः संसार को इसी शासन-प्रणाली को अपनाना चाहिए । इँगलैण्ड में तो यह है ही, अन्य देशों में भी इसकी आवश्यकता है । वैसे तो जैसा कि अलैग्जेंडर पोप ने कहा है—

For forms of government let fools contest.
Whatever is best administered is best—

शासन-प्रणालियों पर झगड़ना मूर्खता है। जिस शासन द्वारा प्रजा सब से अधिक सुखी हो, वही सर्वोत्तम है।

हिन्दी-साहित्य और वैष्णव कवि

(१) प्रस्तावना—वैष्णव कवियों के आविर्भाव के समय देश की दशा
(२) राम-कृष्ण की भक्ति का प्रचार और उसका साहित्य पर प्रभाव
(३) राम-भक्ति शाखा—
(क) तुलसीदासजी की हिन्दी-सेवा (ख) नाभादासजी की हिंदी सेवा (ग) केशवदासजी की हिन्दी-सेवा (घ) सेनापतिजी की हिन्दी-सेवा
(४) कृष्ण-भक्ति-शाखा—
(क) सूरदासजी और हिन्दी-साहित्य (ख) नन्ददासजी और हिन्दी-साहित्य (ग) मीराबाई और हिन्दी-साहित्य (घ) रसखान और हिन्दी-साहित्य
(५) कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा साहित्य का कुछ अहित
(६) आधुनिक काल के वैष्णव कवियों की साहित्य-सेवा
(क) गुप्तजी (ख) उपाध्यायजी
(७) उपसंहार—सारांश

हम्मीर के समय से ही चारणों का वीर-गाथा-काल समाप्त हुआ और देश में मुसलमानों का राज्य स्थापित हो गया। मुसलमानों की धार्मिक असहिष्णुता के कारण हिन्दुओं का जीवन दुःखमय और निराश हो गया। उन्हें

जीवन में चारों ओर अन्धकार दिखाई देने लगा। उनमें अशांति छा गई। उस समय हिन्दू-जाति असंघटित एवं शक्तिहीन थी। शासकों के अत्याचारों से हिन्दुओं को अपना जीवन भार-स्वरूप प्रतीत हो रहा था। क्या राजनैतिक, क्या सामाजिक, क्या धार्मिक, सभी क्षेत्रों में उनका तिरस्कार था। लज्जा तथा खिन्नता के कारण सिर ऊँचा नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में "दुख में सुमिरन सब करैं, सुख में करै न कोइ" के अनुसार अब उनका ध्यान भगवान के लोकरक्षक और असुरनिकन्दन रूप की ओर जाने लगा।

फलतः एक महान धार्मिक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। पहले राम और रहीम की एकता दिखलानेवाले निगुर्णोपासक कवियों ने मुरझाए हुए हिन्दू-जीवन-पादप को हरा करने का प्रयत्न किया। परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। उसके पश्चात् वैष्णव कवियों ने अपनी सरस वाणी का जनता में प्रचार किया जिसका प्रभाव देश के कोने-कोने में पड़ा। भगवान् के लोकपालक रूप विष्णु के रूप में प्रतिष्ठा करके उनकी भक्ति का मार्ग समस्त देश में प्रचलित कर दिया गया। काल के प्रतिनिधि कवियों ने अपनी दिव्य वाणी द्वारा जनता को विष्णु के लोक-रक्षक एवं लोक-रंजक स्वरूप की झाँकी कराई। उनकी दिव्य वाणी ने यह संदेश एक-एक हिन्दू तक पहुँचाया कि भगवान् दूर नहीं हैं, तुम्हारे जीवन में मिले हुए हैं। वे दीन और दुखियों की पुकार सुन कर पैदल ही उनकी सहायता करने दौड़ पड़ते हैं। वे दुष्टों का दमन करने के लिए ही अवतार लेते हैं। वे पीड़ितों के साथ आँसू गिराते हैं और घायलों के घावों पर पट्टी बाँधते हैं।

इन वैष्णव कवियों ने विष्णु भगवान के दो ही अवतारों—राम और कृष्ण—को अपनी भक्ति का आलम्बन चुना । राम को आलम्बन चुननेवाले भक्त-कवि रामानन्दजी की परम्परा चली और कृष्ण को अपना उपास्यदेव मानने वाले वल्लभाचार्यजी की परम्परा चली । इन्हीं परंपराओं में भक्त-शिरोमणि सूर और तुलसी हुए जिन्होंने अपनी अलौकिक प्रतिभा से हिन्दी-साहित्य के कलेवर को जगमगा दिया और अपनी वाणी के सुधारस से सींचकर मुरझाते हुए हिन्दू-जीवन को पुनः हरा-भरा किया। वैष्णव धर्म की यह परम्परा अक्षुण्ण रूप से आज तक चली आ रही है ।

इस वैष्णव धर्म का हिन्दी-साहित्य पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है । यहाँ तक कि साहित्य के चार कालों में से एक काल भक्ति-काल ही कहलाता है । वैष्णव कवियों ने हिन्दी साहित्य को जैसा गौरवान्वित किया है वैसा और किसी कवि ने नहीं । वस्तुतः इन कवियों का रचना-काल हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण युग है । भाव की दृष्टि से, अर्थ गाम्भीर्य की दृष्टि से, भाषा की दृष्टि से, वाह्य-चित्रण की दृष्टि से, हमने इन कवियों को काव्य-क्षेत्र में सर्वोच्च श्रेणी में देखा है । इनमें से प्रधान कवियों ने तो हिन्दी को संजीवनी शक्ति ही प्रदान की है ।

वैष्णव धर्म की राम-भक्ति-शाखा में गोस्वामी तुलसीदास नाभादास, केशवदास प्रभृति कवि हुए । गोस्वामीजी द्वारा हिन्दी-साहित्य का जो उपकार हुआ है वह वर्णनातीत है। काव्य की शक्तियों और विभूतियों का पूर्ण प्रसार उनकी रचना में हुआ है । उन्होंने अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा से

काव्य के प्रत्येक क्षेत्र को आलोकित किया है। क्या प्रबन्ध क्या मुक्तक, दोनों प्रकार की रचनाएँ उन्होंने की हैं और काव्य की प्रचलित सभी रचना-शैलियों में राम-चरित की सुधा धारा को प्रवाहित किया है। उन्होंने काव्य में प्रयुक्त ब्रजभाषा और अवधी दोनों पर अपूर्व अधिकार दिखलाया है। गोस्वामीजी का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। मानव-जीवन की प्रत्येक दशा तक उनकी पुनीत वाणी पहुँचती है। मानव-अंतःकरण की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म वृत्ति का उद्घाटन उन्होंने किया है। उनके हृदय ने बाह्य जगत के नाना रूपों के साथ सामंजस्य स्थापित किया है और उनके प्रत्यक्षीकरण में अनुपम कौशल का परिचय दिया है। काव्य के बाहरी रूप के लिए भी उन्होंने सुन्दर प्रणाली का अनुसरण किया है। अपनी प्रबन्ध-पटुता के बल से 'रामचरित-मानस' सरीखा काव्य रचकर उन्होंने हिन्दी-साहित्य को ही गौरवान्वित नहीं किया, वरन् हिन्दू जाति को निराशा के गर्त से बाहर निकाल लिया। भगवान् का मंगलमय रूप दिखाकर मृतप्राय हिन्दू-जाति में अपूर्व आशा और शक्ति का संचार किया। इन महात्मा की दिव्य वाणी ने हिन्दी-साहित्य को सर्वोच्च आसन पर आसीन कर दिया। वस्तुतः, तुलसी-सा कवि पाकर हिन्दी-साहित्य कृतकृत्य हो गया।

नाभादासजी ने भी हिन्दी-साहित्य की उन्नति की। उन्होंने ब्रजभाषा में रचना की। 'भक्तमाल' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ उन्हीं का लिखा हुआ है जिसमें तुलसीदासजी के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध छप्पय है—

त्रेता काव्य निबन्ध करी सत कोटि रमायन।
इक अच्छर उच्चरै ब्रह्म इत्यादि परायन॥

अब भक्तन सुख दैन वहुरि लीला विस्तारी ।
रामचरनरस मत्त रहत अहनिसि व्रत धारी ॥
संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लियो ।
कलि कुटिल जीव निस्तार-हित वालमीकि तुलसी भयो ॥

'भक्तमाल' के अतिरिक्त उन्होंने 'अष्टयाम' आदि पुस्तकें भी लिखी हैं। गद्य और पद्य दोनों ही उन्होंने रचना के लिए चुना है और काव्य-रचना में अच्छा कौशल दिखलाया है।

केशवदासजी ने जहाँ 'रामचन्द्रिका' लिखकर राम-भक्त होने का परिचय दिया वहाँ 'कवि-प्रिया' लिखकर रीति-ग्रन्थकार कवि होने का भी। अतः विद्वानों में उनको वैष्णव कवि मानने में मतभेद है। पर राम-चरित्र का अपनी 'राम-चन्द्रिका' में आश्रय लेने के कारण हम केशव को वैष्णव कवियों में अवश्य स्थान देंगे। उन्होंने 'रामचन्द्रिका' में विविध छन्दों तथा अलंकारों का प्रयोग किया है। उसकी भाषा सजीव है। उसमें वाग्वैदग्ध्य का स्थान-स्थान पर सुन्दर परिचय मिलता है। पर उसमें मार्मिक स्थलों पर हृदय-पक्ष की प्रायः कमी है। राम-वनगमन, सीताहरण आदि स्थलों पर केशवदासजी ने हृदय-हीनता का परिचय दिया है। वहाँ वे दो-चार बातें कह कर ही चलते बने हैं। अलंकारों की छटा देखिए—

अति चंचल जहँ चलदलै, बिधवा बनी न नारि ।
मन मोह्यो ऋषिराज को, अद्भुत नगर निहारि ॥

राम-भक्ति कवियों में सेनापति की गणना की जा सकती है। यद्यपि इनका ऋतु-वर्णन किसी शृङ्गारी कवि से कम

नहीं, तथापि ऐसा जान पड़ता है कि जीवन के पिछले काल में ये संसार से कुछ विरक्त होकर रामभक्ति की ओर अग्रसर हुए थे। इन्होंने स्वयं कहा है—

आधी तें सरस बीति गई है बरस अब,
दुर्जन दरस बीच रस न बढ़ाइए॥
चिन्ता अनुचित, धरु धीरज उचित,
सेनापति ह्वै सुचित रघुपति गुन गाइए॥

इनकी कविता बहुत ही मर्म-स्पर्शिनी प्रौढ़ और प्रांजल है। पदविन्यास भी इनका ललित है। कहीं-कहीं अनुप्रास श्लेष और यमक की योजना बहुत उत्तम है। जैसे इनमें एक ओर पूर्ण भावुकता थी वैसे ही दूसरी ओर चमत्कार लाने की पूर्ण पटुता। इनका 'कवित्त रत्नाकर' ग्रन्थ प्रसिद्ध है।

वैष्णव धर्म की कृष्ण-भक्ति-शाखा में सबसे प्रधान कवि सूरदासजी हुए। उन्होंने अपने सरस पदों से हिन्दी-साहित्य का भण्डार भर दिया है। जो तन्मयता इनकी वाणी में पाई जाती है वैसी न तो अन्यत्र देखी गई है और न सुनी गई है। इनके विषय में यह दोहा प्रसिद्ध है—

किधौं सूर कों सर लग्यो किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो बेध्यो सकल सरीर॥

यद्यपि काव्य के संकुचित क्षेत्र में ही उन्होंने अपनी वाणी का प्रसार किया पर उसके कोने-कोने को छान डाला। शृङ्गार और वात्सल्य रस के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन इन बन्द नेत्रवाले महात्मा ने किया उतना किसी अन्य कवि ने नहीं। न जाने हृदय की कितनी सूक्ष्म से

सूक्ष्म वृत्तियों तक उनकी पहुँच थी । भाव-व्यंजना का एक अनूठा उदाहरण देखिए—

नन्द ! ब्रज लीजै ठोंकि बजाय
देहु बिदा मिलि जाहिं मधुपुरी जहँ गोकुल के राय ॥

भावों की मार्मिक अभिव्यंजना के साथ-साथ वचन-विदग्धता सूरदासजी का विशेष गुण है । किसी बात को सीधे-सादे न कह कर वे उसे इस अनूठे ढंग से कहते हैं कि श्रोता या पाठक उसके आकर्षण एवं प्रभाव से बच नहीं सकता । देखिए इस पद में गोपियाँ निर्गुणोपासना का खंडन किस अनूठे ढंग से करती हैं—

मोहन माँग्यो अपनो रूप ।
या ब्रज बसत अँचै तुम बैठी ता बिनु तहाँ निरूप ।।

निस्संदेह इस प्रकार की उक्तियाँ हिन्दी-साहित्य की दिव्य विभूतियाँ हैं ।

नन्ददासजी की रचनाएँ भी बड़ी रसीली और माधुर्य-पूर्ण हैं । उनके विषय में यह प्रसिद्ध है, "और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया" । निस्संदेह नन्ददासजी की भाषा सुव्यवस्थित, प्रौढ़ तथा सजीव है । उनकी दो पुस्तकें 'रासपंचाध्यायी' और 'भ्रमरगीत' बहुत प्रसिद्ध हैं । 'भ्रमरगीत' का एक पद देखिए—

जो उनके गुन होय, वेद क्यों नेत बखानैं ।
निरगुन सगुन आतमा रुचि ऊपर सुख सानैं ॥
वेद पुराननि खोज कै पायो कतहुँ न एक ।
गुन ही के गुन होहि तुम, कहौ अकासहि टेक ॥
सुनो ब्रजनागरी ।

मीराबाई का काव्य भी कृष्ण-प्रेम को लेकर अग्रसर हुआ। उनका एक-एक पद प्रेम की मार्मिक अभिव्यंजना की जीती-जागती मूर्ति है वह मीरा के प्रेम-सिक्त हृदय की प्रतिकृति है। उसमें वियोग छलक रहा है। देखिए......

हेरी मैं तो प्रेम-दिवानी, मेरा दरद न जाने कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विधि सोना होय॥
गगन मँडल पै सेज पिया की, किस विधि मिलना होय।
घायल की गति घायल जानै, की जिन लाई होय॥
जल बिन जैसे मछली तलफे, सो गति मेरी होय।
दरद की मारी बन-बन डोलूं, बैद मिल्या नहीं कोय॥
मीरा की प्रभु पीर मिटैगी, जब बैद सँवलिया होय॥

रसखान ने मुसलमान होते हुए भी कृष्ण-भक्ति को अपनाया। उनकी कविता में कृष्ण-प्रेम के ऐसे सुन्दर उद्‌गार निकले कि वे आज तक सर्व-साधारण को रसमग्न किए हुए हैं। उनके कवित्त और सवैये हिन्दी-भाषा-भाषी लोगों की जिह्वा पर सदैव नाचते रहते हैं। उनकी ब्रजभाषा बड़ी परिष्कृत और सरस देखी जाती है। उनकी रचना का यह नमूना देखिए—

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहुँ सिद्धि नवोनिधि को सुख नंद की गाइ चराय बिसारौं॥
रसखानि कबौं इन आँखिन सों ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटि करौ कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥

यों तो प्राचीन काल में अनेक वैष्णव कवि हुए जिन्होंने हिन्दी-साहित्य को भरा-पूरा बनाया पर उनमें उक्त कवि

ही प्रथम श्रेणी के अधिकारी हुए हैं। अतः उन्हीं की हिन्दी-सेवाओं का दिग्दर्शन कराया गया है।

कहना न होगा कि सूरदास प्रभृति कृष्ण-भक्त कवियों से जहाँ हिन्दी-साहित्य का हित साधन हुआ वहाँ कुछ अहित भी हुआ। जिस राधाकृष्ण के प्रेम को इन भक्तों ने गूढ़ से गूढ़ भक्ति का विषय बनाया उसी को लेकर रीति-काल के कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की विलास-चेष्टाओं की तृप्ति के लिए कलुषित रचनाएँ कीं। इसमें संदेह नहीं कि यह अहित उस विशाल हित के सामने कुछ भी नहीं है जो इनके द्वारा हिन्दी-साहित्य का हुआ। परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि यह उनके यशमयंक में काले धब्बे के समान है।

यह तो हुई प्राचीन वैष्णव कवियों की बात अब वर्तमान काल के वैष्णव कवियों की ओर आइए। इनमें प्रधान बाबू मैथिलीशरण गुप्त और पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय हैं। यद्यपि गुप्तजी ने अभी हाल में 'द्वापर' शीर्षक रचना करके अपनी कृष्ण-भक्ति का भी परिचय दिया है तथापि ये प्रधानतः राम-भक्त कवि हैं। जैसे तुलसीदासजी 'कृष्ण-गीतावली' की रचना करने पर भी राम-भक्त रहे, वैसे ही गुप्तजी भी राम-भक्त कवि हैं। इन्होंने 'पंचवटी' और 'साकेत' ग्रंथ रचकर राम-भक्त-धारा को प्रथुल किया है। 'पंचवटी' में राम का बनवास और शूर्पणखा के प्रसंग हैं। 'साकेत' में संक्षेप में पूर्ण राम-चरित्र वर्णित है और उर्मिला की प्राण-प्रतिष्ठा की गई है। अब से पूर्व ब्रजभाषा और अवधी में ही रामचन्द्रजी की गाथा लिखी गई थी। अब

गुप्तजी ने खड़ी-बोली में उस गाथा को लिखा है। इनको अपनी रचना में पूर्ण सफलता मिली है। राम-चरित्र को आधुनिकता के साँचे में ढालने का श्रेय गुप्तजी को है।

उपाध्यायजी ने कृष्ण के लोक-रक्षक अंग की पूर्ति की है, जिसका अभाव प्राचीन कृष्ण-भक्त कवियों में पाया जाता था। इन्होंने बड़ी भावुकता के साथ अपने 'प्रियप्रवास' में कृष्ण को व्रज-नेता के रूप में अंकित किया है। उनकी राधा भी लोक-हितसंलग्ना हैं। वे अपने प्रेम को लोक-हित पर न्यौछावर कर देती हैं। वे कहती हैं—

प्यारे जीवें जग हित करें गेह चाहे न आवें।

इस प्रकार उपाध्यायजी ने कृष्ण-भक्त-साहित्य को संशोधित और परिवर्तित किया है। इन्होंने व्रजभाषा के स्थान पर खड़ी-बोली को अपनी काव्य-भाषा बनाया है।

सारांश यह है कि हिन्दी-साहित्य का जितना कल्याण इन वैष्णव कवियों से हुआ है उतना किसी अन्य शाखा के कवियों द्वारा नहीं। व्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली तीनों को इन्होंने प्रौढ़ता तक पहुँचाया है। प्रत्येक भाव, प्रत्येक रस, तक इन्होंने अपनी पहुँच दिखलाई है और विभिन्न रचना-शैलियों में रचनाएँ की हैं। निस्संदेह हिन्दी-साहित्य को उच्चता की चरमकोटि पर पहुँचाने का श्रेय इन वैष्णव कवियों को ही है।

काव्य की कसौटी

(१) प्रस्तावना—काव्य का लक्षण
(२) काव्य की आत्मा के विषय में पाँच मत—
(क) अलंकार को काव्य की आत्मा मानना और इसका खंडन (ख) रीति को काव्य की आत्मा कहना और इसका खंडन (ग) वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानना और इसका खंडन (घ) ध्वनि को काव्य की आत्मा बतलाना और इसका खंडन (ङ) रस ही का काव्य की आत्मा होना
(३) भाव और कल्पना का कविता का मूलतत्व होना
(४) कविता और मानव-जीवन
(५) कविता और नीति
(६) कविता और प्रकृति
(७) कविता और वास्तविकता
(८) कविता और शैली का रूप
(९) उपसंहार—सारांश

काव्य क्या है ? इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर देना सरल नहीं। प्रायः लोग पद्य को काव्य (कविता) समझा करते हैं। उनकी दृष्टि में छन्द-शास्त्र के नियमों से अनुशासित वाक्य-विन्यास ही कविता है। वे कविता के लिए वृत्त के अतिरिक्त और किसी तत्व की आवश्यकता नहीं समझते। "भूख लगी है थाली परसो होती है कालिज को देर" पंक्ति उनके विचार से कविता के पुण्य क्षेत्र में प्रविष्ट होने का सौभाग्य प्राप्त कर सकेगी। कहना न होगा कि इस भ्रम के कारण हिन्दी-साहित्य में तुकबन्दियों की

बहुत भरमार रही है। जो मनुष्य चार कड़ियों की तुक मिला लेता है वही अपने को कवि समझने लगता है। पर वास्तव में केवल तुकबंदी कविता नहीं हो सकती। कविता के लिए तुक या छंद-शास्त्र का बन्धन उतना आवश्यक नहीं। आजकल मुक्त-छंद में कविता लिखी जा रही है। कतिपय कवि तो कविता के लिए छन्द का बन्धन नितान्त आवश्यक समझते हैं। पर हम तो यही कहेंगे कि छन्द-बंधन कविता का बाह्य रूप है उसका आन्तरिक रूप नहीं। उससे कविता संगीतमय हो जाती है, पर वह कविता की आत्मा नहीं हो सकता।

कविता की आत्मा के विषय में विद्वानों का मतभेद रहा है। यदि संस्कृत के आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य की आत्मा 'रमणीय अर्थ' माना है तो आचार्य विश्वनाथ ने 'रस'। यदि आचार्य उद्भट ने काव्य की आत्मा 'अलंकार' माना है तो आचार्य कुन्तल ने 'वक्रोक्ति'। आचार्य वामन 'रीति' को ही काव्य की आत्मा कहते हैं। इस प्रकार काव्य की आत्मा का निरूपण करनेवाले पाँच सम्प्रदाय हुए हैं—ध्वनि-सम्प्रदाय, रस-सम्प्रदाय, अलंकार-सम्प्रदाय, वक्रोक्ति-सम्प्रदाय और रीति-सम्प्रदाय।

इनमें से किस सम्प्रदाय का मत ठीक है? अलंकार सम्प्रदायवालों का मत ठीक नहीं माना जा सकता। अलंकारों को काव्य की आत्मा कहना भूल है। अलंकार वर्णन की प्रणाली है, वर्णन का विषय नहीं। वह शब्द और अर्थ का अस्थिर धर्म है। अलंकारों का काव्य में वही स्थान है जो सुन्दर युवती के शरीर पर आभूषणों का। यह

अवश्य है कि आभूषणों से सुन्दर शरीर का सौन्दर्य और बढ़ता है पर उनका रहना शरीर की सुन्दरता की रक्षा के लिए नितान्त आवश्यक नहीं। आभूषण कुरूप शरीर को सुन्दर नहीं बना सकते। इसी प्रकार अलंकारों से काव्य की शोभा बढ़ती अवश्य है, पर उनके अभाव में भी काव्य की शोभा बनी रह सकती है। एक संस्कृत के आचार्य ने भी अलंकार को काव्य का शोभित करनेवाला धर्म बतलाया है। उन्होंने कहा है—

काव्यशोभाकरान्धर्मानलङ्कारान्प्रचक्षते।

अतः अलंकारों को, जो कभी काव्य में उपस्थित रहते हैं और कभी नहीं, सर्वदा वर्तमान रहनेवाली आत्मा का स्थान नहीं दिया जा सकता।

रीति सम्प्रदायवालों का भी मत भ्रमपूर्ण है। विशिष्ट पद-रचना को रीति कहते हैं। वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली तीन रीतियाँ मानी गई हैं। ये माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों पर अवलम्बित हैं। रीति को काव्य की आत्मा माननेवाले काव्य में गुणों को प्रधानता देते हैं। गुणों को काव्य की आत्मा का स्थान नहीं मिल सकता। काव्य में उनका स्थान वही है जो मानव-शरीर में गुणों का है।

वक्रोक्ति-सम्प्रदायवाले उक्ति के अनूठेपन को कविता कहते हैं। जैसे—

को तुम हौ? इत आए कहाँ? 'घनश्याम हैं' तौ कित हूँ बरसौ।
'हम तो चितचोर कहावत हैं', तौ जाहु जहाँ धन है सरसौ॥

इस पद्य में कृष्णजी के साथ राधिकाजी का परिहास है। कृष्णजी द्वार पर खड़े हुए हैं और राधिकाजी गृह के भीतर हैं। बाहर से कृष्णजी के पुकारने पर राधिकाजी उनसे प्रश्न करती हैं कि तुम कौन हो? कृष्ण कहते हैं 'घनश्याम'। इस पर राधिकाजी कहती हैं कि कहीं जाकर वर्षा करो। इसी प्रकार 'चितचोर' नाम बतलाने पर वे कहती हैं कि धनवाले स्थान पर जाओ। यहाँ पर राधिका की युक्तियाँ वक्रोक्तियाँ हैं क्योंकि उनमें अनूठापन है। इस प्रकार की उक्तियों को भी काव्य की कोटि में स्थान नहीं मिल सकता। इसमें सन्देह नहीं कि इनमें चमत्कार अवश्य है, पर सरसता नहीं।

ध्वनि-सम्प्रदाय वाले रमणीय अर्थ भरे हुए वाक्य को काव्य कहते हैं। जैसे—

सीता-हरन तात जनि, कहेउ पिता सन जाइ।
जो मैं राम तो कुल सहित, कहहि दसानन आइ॥

इस पद्य में रमणीय अर्थ यह है कि मैं रावण का वध करूँगा। यहाँ 'अलकार-ध्वनि' है। ध्वनि तीन प्रकार की होती है—अलंकार-ध्वनि, वस्तु-ध्वनि और रस-ध्वनि। अलंकार और वस्तु के अन्दर रहनेवाली ध्वनि कभी काव्य की आत्मा नहीं हो सकती। हाँ, रस-ध्वनि अवश्य काव्य की आत्मा है। ध्वनि को काव्य की आत्मा इसलिए नहीं माना जाता कि ऐसा करने से अलंकार-ध्वनि और वस्तु-ध्वनि भी काव्य की आत्मा हो जाती हैं।

वास्तव में रस ही काव्य की आत्मा है। भाव रस

का मूलाधार है। विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है। काव्य में 'रति' आदि स्थायी भावों के जो कारण, कार्य सहकारी और होते हैं उनको क्रमशः विभाव अनुभाव और संचारी भाव कहते हैं। जैसे—

राम को रूप निहारति जानकी, कंकन के नग की परछाहीं।
यातें सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारति नाहीं॥

इस कविता में शृङ्गार-रस है। यहाँ पर रति स्थायी भाव, राम आलंबन, राम का प्रतिबिम्ब उद्दीपन विभाव, एकटक देखना जुआ में भाग न लेना, कर का स्थिर कर लेना आदि अनुभाव और जड़ता, मति, हर्ष आदि संचारी हैं। रस के इन अङ्गों में 'भाव' और कल्पना दोनों तत्वों का समावेश है। विभावों और अनुभावों की प्रतिष्ठा कवि की कल्पना द्वारा ही होती है। कवि कल्पना द्वारा अपने काव्य में भिन्न-भिन्न रसों के आलम्बनों और स्थायी भावों को उद्दीप्त करनेवाली सामग्री की अवतारणा करता है और फिर आश्रय की शारीरिक चेष्टाओं का कल्पनात्मक रूप खड़ा करके श्रोता या पाठक को उन्हें प्रदर्शित करता है।

अतः स्पष्ट है कि भाव और कल्पना कविता के मूल तत्व हैं। हम भाव को कविता का प्राण कह सकते हैं, क्योंकि उसके बिना कविता प्राण-रहित शरीर है। पर कल्पना भी काव्य के लिए आवश्यक है यदि भाव का स्थान प्रधान है तो कल्पना का गौण। विलायती काव्य में कल्पना को प्रधान स्थान दिया जाने लगा है। विलायत में उत्कृष्ट कविता वही समझी जाती है जिसमें कवि अपनी

कल्पना का वैचित्र्यपूर्ण आरोप करके वस्तुओं का काल्पनिक चित्र खींच दे। शायद हिन्दी का यह पद्य—

चल्यो गगन तरु धाइ, दिनकर-वानर अरुण मुख।
कान्हों झुकि झहराय, सकल तारका कुसुम बिन॥
(केशवदास)

विलायत वालों के निकट उत्कृष्ट कविता का उदाहरण होगा। पर हमारा तो यह कहना है कि सच्ची कल्पना खिलवाड़ के लिए नहीं होती। कवि को बेपर की उड़ान भरकर 'जहाँ न जाय रवि वहाँ जाय कवि' उक्ति को चरितार्थ नहीं करना चाहिए। कविता में कल्पना साधन मात्र है। उसी को साध्य समझ लेना भूल है। कविता का लक्ष्य जीवन और जगत के मार्मिक पक्षों को मानव-समाज के समक्ष रखना है जिससे शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा हो सके। इस उद्देश्य की पूर्ति कविता भावों का आश्रय लिए बिना नहीं कर सकती। वास्तव में विभिन्न भावों की अभिव्यंजना करती हुई कविता मानव हृदय को सजग रखती है और सृष्टि के साथ उसका तादात्म्य स्थापित करती है। व्यवहार-क्षेत्र जटिल हो जाने के कारण मनुष्य के हृदय का संकुचित हो जाना अधिक सम्भव रहा है। प्रायः देखा जाता है कि जीविकोपार्जन के लिए मनुष्य दिन भर किसी-न-किसी धंधे में, किसी-न-किसी काम में जुटा रहता है। ऐसी दशा में उसके हृदय में सोए हुए भावों को भोजन नहीं मिल पाता। परिणाम यह होता है कि कुछ काल पश्चात् वे मर जाते हैं। यही कारण है कि दुकान पर सौदा बेचता हुआ दुकानदार एक शीर्ण कलेवरा भूखी बुढ़िया की विनय से

तनिक भी दयार्द्र नहीं होता। यही कारण है कि हल जोतता हुआ किसान बैल की घायल पीठ पर डंडे बरसाता हुआ बिल्कुल नहीं पसीजता। सदैव कार्य में व्यस्त मनुष्य मशीन-सा हो जाता है। जैसे मशीन में भावानुभूति नहीं होती उसी प्रकार उपयुक्त अवसर के प्रस्तुत होने पर भी उस मनुष्य में भाव नहीं जाग्रत होता। काव्य मानव-हृदय के भावों को भोजन देकर उनकी रक्षा करता है, उन्हें नष्ट होने से बचाता है। कवि की वाणी के प्रसाद से हम संसार के सुख-दुःख का अनुभव प्राप्त करते हैं। कवि की वाणी जीवन की मार्मिक घटनाओं का चित्रण करती हुई हमें कभी हँसाती है, कभी रुलाती है, कभी दयार्द्र करती है, कभी क्रोध से भर देती है, कभी प्रेम के समुद्र में डुबोती है, कभी उत्साह से नचाती है। जैसे—

मेरो सब पुरुषारथ थाको।
विपति बँटावन बन्धु-बाहु बिनु करौं भरोसो काको ?
सुनु सुग्रीव साँचेहूँ मोपर फेर्‌यो बदन बिधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यो लषन सो भ्राता॥
गिरि कानन जैहैं शाखा मृग हौं पुनि-अनुज-संघाती।
ह्वैहै कहा बिभीषन की गति, रही सोच भर छाती॥

इसे सुनकर या पढ़कर किसका हृदय शोक से नहीं भर जायगा ? या—

भौंह उँचे, आँचरु, उलटि मौर मोरि मुंह मोरि।
नीठि नीठि भीतर गई, दीठि दीठि सो जोरि॥

इस उक्ति का श्रोता या पाठक प्रेम-सागर में निमग्न हुए बिना रह सकता है ?

कविता मानव-हृदय के भावों की संरक्षा करती हुई जीवन की व्याख्या भी करती है। मैथ्यू आर्नल्ड नामक एक अंगरेज समालोचक ने कहा है—Poetry is a criticism of life. अर्थात् कविता जीवन की आलोचना है। कवि अपने काव्य में जीवन की समस्याओं का विवेचन और भिन्न-भिन्न दशाओं का चित्र उपस्थित करता है। जीवन की व्याख्या करता हुआ, उसका विश्लेषण करता हुआ, कवि जीवन के भीतरी तत्वों और सिद्धान्तों का उल्लेख किए बिना नहीं रह सकता। जहाँ जीवन की विवेचना की जायगी वहाँ नैतिक सिद्धान्तों का भी विचार करना ही पड़ेगा। नीति को जीवन से पृथक् नहीं किया जा सकता। अतः नीति को काव्य से भी अलग नहीं किया जा सकता। मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा भी है—

A poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt against life; a poetry of indifference to-wards moral ideas is a poetry of indifference towards life. अर्थात् वह कविता जो नीति का विरोध करती है जीवन का भी विरोध करती है। वह कविता जो नीति से उदासीन रहती है जीवन के प्रति भी उदासीन रहती है।

सच्ची कविता के लिए नीति का आश्रय आवश्यक है। वही कविता आदरणीय समझी जाती है जिससे भावों के माध्यम द्वारा आचरण की शिक्षा मिले। गोस्वामी तुलसीदासजी की कविता ऐसी ही है। उनके 'रामचरितमानस' नामक काव्य में मानव-जीवन का सर्वोत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है। नीति और आदर्श के साथ काव्य का भव्य

रूप मन को मुग्ध करनेवाला है। 'रामचरितमानस' द्वारा हिंदू नीति का जो उपकार हुआ है उसे बतलाना शब्द की शक्ति के बाहर है। यदि गोस्वामीजी अपने काव्य में मर्यादा और आदर्श का स्वर्ण-संयोग न करते तो क्या यह उपकार संभव था? नीति काव्य को गौरवान्वित करती है। पर कलावादी लोग नीति और काव्य का साथ नहीं देख सकते। उनका सिद्धान्त 'कला कला ही के लिए' है, 'कला का उद्देश्य कला ही' है। इस सिद्धान्त के अनुसार कला और जीवन में कोई सम्बन्ध ही नहीं है, कला में सदाचार का कोई स्थान ही नहीं है। कलावादी लोग कला और आचार का क्षेत्र पृथक्-पृथक् मानते हैं। यह उनकी भूल है। यदि कला का उद्देश्य जीवन की व्याख्या नहीं, सदाचार का रूप खड़ा करना नहीं, तो फिर उसका अस्तित्व किस लिए है? क्या मनोरंजन के लिए? यदि काव्य का उद्देश्य मनोरंजन ही मान लिया जाय तो नाचने-गाने के समान काव्य भी विलास की सामग्री हुआ। पर क्या सूर और तुलसी सरीखे महात्माओं ने मनोरंजन के लिए ही काव्य-रचना की थी? खेद के साथ कहना पड़ता है कि कुछ लोग सचमुच कविता को विलास का उपकरण मात्र समझते रहे हैं। रीति-काल की हिन्दी-कविता इस तथ्य का ज्वलंत उदाहरण है। कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि कविता से मनोरंजन नहीं होता। किन्तु उसको कविता का चरम लक्ष्य समझ लेना भूल है।

मानव-जीवन के साथ-साथ कविता में प्रकृति-चित्रण को भी स्थान मिलना चाहिए। प्रकृति मनुष्य की चिर सहचरी है। दोनों में [illegible] है। मनुष्य असख्य अवस्था

में तो प्रकृति के मध्य रहता था, जंगलों में निवास करता था। पर सभ्यता की वृद्धि के कारण वह प्रकृति के साथ वैसा संसर्ग नहीं रखता, तो भी प्रकृति को अपने साथ रखता है। वह बगीचे या गमलों में पेड़-पौधे उगाकर अपने प्रकृति-प्रेम का परिचय देता है। प्रकृति-चित्रण से काव्य में विशेष सौंदर्य आ जाता है। प्रायः कवि प्रकृति का उपयोग अलंकार-सामग्री या उद्दीपन विभाव के रूप में करते हैं, जो अच्छा नहीं लगता। काव्य में प्रकृति वर्णनीय विषय होकर आनी चाहिए।

कविता असलियत से भी परे न हो, वास्तविकता का गला न घोंटे। उसमें जो उक्ति हो वह मानव-मनोविकारों और प्राकृतिक नियमों के आधार पर कही गई हो। स्वाभाविकता से उसका सम्बन्ध न छूटा हो। जगत के वास्तविक दृश्यों और जीवन की वास्तविक दशाओं का चित्रण जिस कविता में होगा वही सच्ची कविता कहला सकेगी। गर्ज यह कि कविता में असम्भव बातें न कही जायँ, जिससे वह जीवन-क्षेत्र से अलग खड़ा किया गया तमाशा न हो जाय। जैसे बिहारी की ये पंक्तियाँ हैं

इत आवति चलि जाति उत चली छ-सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरैं मैं रहैं लगी उसासनु साथ।।

अब कविता की शैली को लीजिए। शैली कविता का बाह्य रूप है। वह जितनी उत्तम होगी कविता उतनी ही आकर्षक होगी। अतः कवि को शैली का भी ध्यान रखना चाहिए। शैली के प्रधान अङ्ग भाषा, अलंकार और शब्द-शक्तियाँ हैं। कवि की भाषा सरल और परिष्कृत होनी

चाहिए। उसमें शब्दाडम्बर न हो। वही कवि सिद्धहस्त कहलाता है जो सरल से सरल भाषा में थोड़े से थोड़े शब्दों द्वारा सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों की व्यंजना कर सके। धारा-प्रवाह भी भाषा का एक आवश्यक गुण है। कवियों को अपनी भाषा में व्याकरण की लोहे की कड़ियाँ' नहीं तोड़नी चाहिएँ। व्याकरण के नियमों का उल्लंघन करने से भाषा का रूप विकृत हो जाता है। काव्य में कतिपय अलंकारों का होना उतना ही आवश्यक है जितना किसी सुन्दरी के शरीर पर कुछ आभूषणों का होना। पर अलंकार भाव व्यंजनों में सहायक होकर आवें, अपना स्वतन्त्र अस्तित्व दिखाने के लिए नहीं। जहां तक हो वाक्य-विन्यास में लक्षणा और व्यंजना शक्तियों से काम लिया जाय। लक्षणा शक्ति के प्रयोग से नेत्रों के सामने किसी व्यापार का चित्र-सा उपस्थित हो जाता है। जैसे—"समय भागा जाता है" में 'भागा' लाक्षणिक शब्द भागनेवाले प्राणी का व्यापार नेत्रों के सम्मुख उपस्थित करता है।

उपर्युक्त बातों का ध्यान रखने से श्रेष्ठ कविता की उद्भावना की जा सकती है।

शान्ति की विजय युद्ध की विजय से बढ़कर है

(१) प्रस्तावना —शान्ति में विजय का संभव होना और उसका रूप

(२) शान्ति की विजय—

(क) प्रकृति पर विजय (ख) रोगों पर विजय (ग) सामाजिक कुरीतियों का बहिष्कार (घ) राजनैतिक सुधार (ङ) कलाओं का उत्थान (च) अशिक्षा का निवारण (छ) आत्म-संस्कार

(३) युद्ध की विजय की अपेक्षा शान्ति की विजय की श्रेष्ठता :—

(क) स्थायित्व (ख) समस्त मानव-जाति का कल्याण (ग) समाज और देश का उत्कर्ष (घ) रुधिर-प्रवाह आदि अवगुणों का अभाव

(४) उपसंहार—सारांश

उन मनुष्यों को जो केवल युद्ध की विजय से परिचित हैं इस कथन में विरोध दिखलाई देगा कि शान्ति की विजय युद्ध की विजय से बढ़कर है। वे पूछेंगे कि क्या शान्ति के समय भी विजय सम्भव है ? क्या युद्ध के बिना भी कभी विजय प्राप्त की जा सकती है ? वे समझेंगे कि उक्त कथन में सत्यता का कोई अंश नहीं है। पर क्या उनका ऐसा समझना ठीक है ? इसमें सन्देह नहीं कि युद्ध से विजय होती है, युद्ध लड़कर एक मनुष्य दूसरे मनुष्य पर, एक जाति दूसरी जाति पर, एक देश दूसरे देश पर, विजय पाता है। इतिहास इस बात का साक्षी है। नेपोलियन, नेलसन आदि वीरों ने अनेक विजय युद्ध लड़कर प्राप्त कीं। इटली ने अबीसीनिया और जापान ने चीन पर अपना अधिकार युद्ध द्वारा ही जमाया था। किन्तु यह समझना भ्रमपूर्ण होगा कि केवल युद्ध से ही विजय सम्भव है। युद्ध के अभाव में भी विजय प्राप्त की जा सकती है। शान्ति के समय भी विजय सम्भव है। हाँ, युद्ध की विजय और शान्ति की विजय में भेद है। युद्ध की विजय से किसी मनुष्य, किसी देश अथवा किसी जाति पर अधिकार करना है। शान्ति की विजय से अभिप्राय प्रकृति को वश में करना, शारीरिक रोगों को दूर करना, सामाजिक

कुरीतियों का वहिष्कार : साहित्यादि कलाओं का उत्थान, शिक्षा का प्रचार और आत्मोन्नति है।

पहले प्राकृतिक विजय को लीजिए। मनुष्य ने शान्ति के समय प्रकृति के भिन्न-भिन्न अङ्गों का अध्ययन करके वायु, जल, स्थल समय आदि पर विजय प्राप्त की है। वायुयान का आविष्कार हुआ है जिसमें बैठकर मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान को जा सकता है। समुद्र पर चलनेवाले जलयान जल-मार्ग से यात्रियों को इधर उधर ले जाते हैं। रेल, मोटर आदि ने स्थल पर अधिकार कर रक्खा है। टेली-फोन, रेडियो, तार इत्यादि समय को वश में किए हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान को संदेश भेजने में नाममात्र का समय लगता है। भौतिक विज्ञान की सहायता से प्रकृति की शक्तियाँ—विद्युत, प्रकाश, ध्वनि, ताप आदि—हमारी दास-दासियाँ हैं। विद्युत ने हमारे लिए पंखों की शीतल वायु और रात्रि के समय शुभ्रालोक की व्यवस्था की है। प्रकाश ने चश्मे द्वारा हमें अंधा होने से बचाया है और हमारे मनोरंजन के लिए दूरदर्शक तथा सूक्ष्म-निरीक्षक यंत्रों का प्रबन्ध किया है। ध्वनि ने आमोद-प्रमोद के लिए तरह तरह के वाद्य-यंत्रों का विधान किया है। ताप ने शीत से हमारी रक्षा की है। प्रकृति को वश में करने से ऐसे-ऐसे यंत्रों का निर्माण हुआ है जो हमारे लिए दिन भर काम किया करते हैं, हमें जरा भी हाथ नहीं हिलाने देते।

शांति के जीवन से हमें ऐसे-ऐसे यंत्र एवं ऐसी-ऐसी युक्तियाँ मिली हैं जिन्होंने मानव-शरीर के रोगों पर विजय प्राप्त की है। विज्ञान ने शारीरिक कष्टों को दूर किया

और विज्ञान शांति-मय जीवन में ही फूलता-फलता है। मानव-शरीर का अध्ययन करके रोगों को दूर करने के लिए अनेक प्रकार की औषधियाँ ढूँढ़ निकाली गई हैं। पहले जिन रोगों को दूर करने के लिए कोई औषधि नहीं थी आज उनके उन्मूलन के लिए अनेक औषधियाँ उपलब्ध हैं। चीर-फाड़ के विज्ञान (Surgery) ने आशातीत उन्नति करके मानव-शरीर की रक्षा का प्रयत्न किया है। कई ऐसे रोग हैं जो औषधियों से ठीक नहीं होते पर ऑपरेशन से ठीक हो जाते हैं। घावों के लिए ऑपरेशन बड़ी अच्छी चिकित्सा है। कभी-कभी जब शरीर का कोई अङ्ग बेकार हो जाता है या हड्डी टूट जाती है तो चीर-फाड़ द्वारा उसको निकाल कर उसके स्थान पर मनुष्य के सदृश शरीर वाले किसी जानवर का अंग या उसकी हड्डी लगा दी जाती है। ऑपरेशन के कष्ट को दूर करने के लिए क्लोरोफार्म सरीखी वस्तुओं की खोज की गई है। कीटाणु नाशक औषधियों (Antiseptics) का भी अन्वेषण हुआ है जिनसे ऑपरेशन में प्रयुक्त होनेवाले यन्त्रों को कीटाणु रहित किया जाता है। ऐक्स-रे ने तो चिकित्सा-क्षेत्र में उथल-पुथल कर दी है। इस यन्त्र के द्वारा शरीर के किसी भी आन्तरिक अंग की दशा का ठीक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और शारीरिक रोग के ठीक स्थान भी निश्चय हो सकता है। मान लीजिए किसी के पेट में कहीं फोड़ा हो गया है या किसी की कोई हड्डी टूट गई है। ऑपरेशन के पूर्व यह जानना आवश्यक है कि फोड़े या टूटी हड्डी का ठीक स्थान क्या है। यदि ठीक स्थान का पता न चले तो ऑपरेशन से क्या लाभ हो सकता है? अतः ऐक्स रे के अभाव में ऑपरेशन सदैव सफल नहीं होता था।

अब उसे पूर्णतः सफलता मिलती है। कभी कभी चिकित्सा में शरीर के भीतरी किसी अंग की दशा भी जानना परमावश्यक होता है जैसे - तपेदिक में फेफड़ों की दशा। डाक्टर के पास ऐक्स-रे के अतिरिक्त अन्य कोई उपयुक्त साधन इस कार्य के लिए नहीं है। ऐक्स-रे से कोढ़ तक जाता रहता है।

अब सामाजिक बुराइयों एवं कुरीतियों का बहिष्कार नामक शान्ति की विजय लीजिए। जब देश में शान्ति रहती है तभी मनुष्यों का ध्यान समाज की ओर आकर्षित होता है। समाज की बुराइयों को दूर करने के लिए बहुत से सुधारक हो जाते हैं। वे उनके विरुद्ध निरन्तर युद्ध छेड़े रहते हैं और तब तक पीछा नहीं छोड़ते जब तक उनको समाज से निकाल बाहर नहीं करते। इस कार्य में उनको अनेक प्रकार के दुःखों का सामना करना पड़ता है और अनेक बलिदान करने पड़ते हैं। पर वे घबड़ाते नहीं और साहस के साथ अपने पवित्र कार्य में संलग्न रहते हैं, कभी विरोध से भयभीत होकर उसे नहीं छोड़ बैठते। अन्त में संसार उनका आदर और प्रतिष्ठा करता है। उनके नाम इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों में लिखे जाते हैं। निस्संदेह विश्व के अभ्युत्थान में सुधारकों का बहुत कुछ हाथ रहता है।

सामाजिक सुधारों के अतिरिक्त शान्ति के समय में राजनैतिक सुधार भी होते रहते हैं। राजनीतिक सुधारक शासन-संबन्धी दोषों का परिहार किया करते हैं। वे विचार, वाणी और कर्म की स्वतन्त्रता के लिए सरकार से टक्कर लेते रहते हैं। मनुष्य मनुष्य में रंग, रूप, जाति, धन और

पद के आधार पर जो भेद किया जाता है उसके विरुद्ध वे आवाज उठाते रहते हैं तथा अन्याय और अत्याचार का दमन करते रहते हैं।

शान्ति के समय साहित्यादि कलाओं का उत्थान होता है। युद्ध के समय कोई कला उन्नति नहीं कर सकती, क्योंकि उस समय मस्तिष्क और हृदय को शान्ति नहीं होती। कहने की आवश्यकता नहीं कि कला के अभ्युत्थान के लिए शान्ति अत्यन्त आवश्यक है। जब देश में युद्ध नहीं होते, जब चारों ओर शान्ति का साम्राज्य फैला रहता है, तभी कला-सागर से अनूठे रत्न निकलते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक देश में शान्ति के समय ही कला उच्चता के शिखिर पर पहुँची है। भारतवर्ष को लीजिए। ईसा की सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में यहाँ साहित्य ने पर्याप्त उन्नति की। यहाँ तक कि यह काल साहित्य के इतिहास में स्वर्णयुग के नाम से प्रसिद्ध है। इसी समय में काव्य को प्रौढ़ता की चरम कोटि पहुँचानेवाले तुलसी और सूर हुए। अन्य कलाओं की भी इस काल में उन्नति हुई। अकबर, जहाँगीर शाहजहाँ ने वास्तु-कला, चित्र-कला, संगीत-कला और मूर्ति-कला को पर्याप्त उन्नति किया। कहना न होगा कि इस समय भारतवर्ष में सुख और शान्ति विराज रही थी।

अशिक्षा पर विजय भी शान्ति के समय में ही प्राप्त होती है। अशिक्षा मनुष्य-समाज की शत्रु है। उससे बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं। वह मस्तिष्क के विकास में बाधा उपस्थित करती है। अशिक्षा के कारण मनुष्य कूप-मंडूक

पद के आधार पर जो भेद किया जाता है उसके विरुद्ध वे आवाज उठाते रहते हैं तथा अन्याय और अत्याचार का दमन करते रहते हैं।

शान्ति के समय साहित्यादि कलाओं का उत्थान होता है। युद्ध के समय कोई कला उन्नति नहीं कर सकती, क्योंकि उस समय मस्तिष्क और हृदय की शान्ति नहीं होती। कहने की आवश्यकता नहीं कि कला के अभ्युत्थान के लिए शान्ति अत्यन्त आवश्यक है। जब देश में युद्ध नहीं होते, जब चारों ओर शान्ति का साम्राज्य फैला रहता है, तभी कला-सागर से अनूठे रत्न निकलते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक देश में शान्ति के समय ही कला उच्चता के शिखर पर पहुँची है। भारतवर्ष को लीजिए। ईसा की सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में यहाँ साहित्य ने पर्याप्त उन्नति की। यहाँ तक कि यह काल साहित्य के इतिहास में स्वर्णयुग के नाम से प्रसिद्ध है। इसी समय में काव्य को प्रौढ़ता की चरम कोटि पहुँचानेवाले तुलसी और सूर हुए। अन्य कलाओं की भी इस काल में उन्नति हुई। अकबर, जहाँगीर शाहजहाँ ने वास्तु-कला, चित्र-कला, संगीत-कला और मूर्चि-कला को पर्याप्त उन्नति किया। कहना न होगा कि इस समय भारतवर्ष में सुख और शान्ति विराज रही थी।

अशिक्षा पर विजय भी शान्ति के समय में ही प्राप्त होती है। अशिक्षा मनुष्य-समाज की शत्रु है। उससे बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं। वह मस्तिष्क के विकास में बाधा उपस्थित करती है। अशिक्षा कि कारण मनुष्य कूप-मंडूक

बना रहता है । वह नहीं जानता कि उसके चारों ओर संसार में क्या हो रहा है । वह अंध-विश्वासी भी हो जाता है। मस्तिष्क के अविकसित रहने के कारण न वह किसी बात को ठीक-ठीक सोच ही सकता है और न ठीक ठीक समझ ही सकता है । सुधारों से वह कोसों दूर भागता है । अशिक्षित लोगों में परस्परिक झगड़े बहुत होते है। ये जरा जरा सी बातों पर उलझ जाते हैं। यह देखा गया है कि जिस स्थान के निवासियों में जितनी अधिक अशिक्षा होती है उस स्थान के निवासी उतने ही अधिक लड़ाकू होते हैं । शान्ति के समय में अशिक्षा को हटाने के प्रयत्न किये जाते हैं । सुधारक इस वैरिन को पराजित करके इसका काला मुँह करने के लिए आतुर रहते हैं। जिस दिन इसका काला मुँह हो जाता है उसी दिन से ज्ञान रूपी सूर्य अपना आलोक फैलाने लगता है। जिस दिन इसका निकाल दिया जाता है उसी दिन से चारों ओर उन्नति के लक्षण दिखलाई देने लगते हैं ।

शान्ति-काल में ही आत्मा की कमजोरियों पर विजय पाने का सुयोग रहता है । उपदेशक मनुष्य-मनुष्य में प्रेम और सहानुभूति के भाव पैदा करते हैं । वे ईर्ष्या, द्वेष, कपट आदि मनोविकारों को मानव-हृदय से निकालने के प्रयत्न करते हैं । शान्ति के समय धर्म भी उन्नति करता है। धार्मिक शिक्षा से मनुष्यों का आचरण शुद्ध होता है। आचरण की शुद्धता से आत्मोन्नति होती है । वास्तव में शान्ति के दिनों में इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि मनुष्य एक दूसरे से मिलकर रहें और शुद्ध जीवन व्यतीत

पद के आधार पर जो भेद किया जाता है उसके विरुद्ध वे आवाज उठाते रहते हैं तथा अन्याय और अत्याचार का दमन करते रहते हैं।

शान्ति के समय साहित्यादि कलाओं का उत्थान होता है। युद्ध के समय कोई कला उन्नति नहीं कर सकती, क्योंकि उस समय मस्तिष्क और हृदय की शान्ति नहीं होती। कहने की आवश्यकता नहीं कि कला के अभ्युत्थान के लिए शान्ति अत्यन्त आवश्यक है। जब देश में युद्ध नहीं होते, जब चारों ओर शान्ति का साम्राज्य फैला रहता है, तभी कला-सागर से अनूठे रत्न निकलते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक देश में शान्ति के समय ही कला उच्चता के शिखर पर पहुँची है। भारतवर्ष को लीजिए। ईसा की सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में यहाँ साहित्य ने पर्याप्त उन्नति की। यहाँ तक कि यह काल साहित्य के इतिहास में स्वर्णयुग के नाम से प्रसिद्ध है। इसी समय में काव्य को प्रौढ़ता की चरम कोटि पहुँचानेवाले तुलसी और सूर हुए। अन्य कलाओं की भी इस काल में उन्नति हुई। अकबर, जहाँगीर शाहजहाँ ने वास्तु-कला, चित्र-कला, संगीत-कला और मूर्त्ति-कला को पर्याप्त उन्नति किया। कहना न होगा कि इस समय भारतवर्ष में सुख और शान्ति विराज रही थी।

अशिक्षा पर विजय भी शान्ति के समय में ही प्राप्त होती है। अशिक्षा मनुष्य-समाज की शत्रु है। उससे बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं। वह मस्तिष्क के विकास में बाधा उपस्थित करती है। अशिक्षा के कारण मनुष्य कूप-मंडूक

बना रहता है। वह नहीं जानता कि उसके चारों ओर संसार में क्या हो रहा है। वह अंध-विश्वासी भी हो जाता है। मस्तिष्क के अविकसित रहने के कारण न वह किसी बात को ठीक-ठीक सोच ही सकता है और न ठीक ठीक समझ ही सकता है। सुधारों से वह कोसों दूर भागता है। अशिक्षित लोगों में परस्परिक झगड़े बहुत होते है। वे जरा जरा सी बातों पर उलझ जाते हैं। यह देखा गया है कि जिस स्थान के निवासियों में जितनी अधिक अशिक्षा होती है उस स्थान के निवासी उतने ही अधिक लड़ाकू होते हैं। शान्ति के समय में अशिक्षा को हटाने के प्रयत्न किये जाते हैं। सुधारक इस बैरिन को पराजित करके इसका काला मुँह करने के लिए आतुर रहते हैं। जिस दिन इसका काला मुँह हो जाता है उसी दिन से ज्ञान रूपी सूर्य अपना आलोक फैलाने लगता है। जिस दिन इसका निकाल दिया जाता है उसी दिन से चारों ओर उन्नति के लक्षण दिखलाई देने लगते हैं।

शान्ति-काल में ही आत्मा की कमजोरियों पर विजय पाने का सुयोग रहता है। उपदेशक मनुष्य-मनुष्य में प्रेम और सहानुभूति के भाव पैदा करते हैं। वे ईर्ष्या, द्वेष, कपट आदि मनोविकारों को मानव-हृदय से निकालने के प्रयत्न करते हैं। शान्ति के समय धर्म भी उन्नति करता है। धार्मिक शिक्षा से मनुष्यों का आचरण शुद्ध होता है। आचरण की शुद्धता से आत्मोन्नति होती है। वास्तव में शान्ति के दिनों में इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि मनुष्य एक दूसरे से मिलकर रहें और शुद्ध जीवन व्यतीत

करते हुए निरंतर आत्मिक शक्ति को बढ़ाते जायँ जिससे अन्त में उन्हें परमानन्द और शान्ति मिले।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शान्ति की भी अपनी विशेष विजय हैं। पर ये विजय अप्रकट रहती हैं और युद्ध की विजय प्रकट। शान्ति-कालीन विजय युद्ध की विजयों से स्थायी होती हैं। पहली सदैव के लिये बनी रहती हैं और दूसरी अल्पकाल के लिए। जैसे-रोग, अशिक्षा सामाजिक बुराइयों इत्यादि पर प्राप्त की हुई विजय कभी नहीं मिट सकती। क्या आज जिस रोग को वश में कर लिया गया है वह कभी किसी समय भी वश से बाहर हो सकता है ? क्या समाज की जिस बुराई को बाहर निकाल दिया गया है वह पुनः अपना मुँह दिखा सकती है ? पर यही बात युद्ध की विजयों के विषय में नहीं कही जा सकती। एक कमांडर आज किसी देश को जीत लेता है अथवा किसी शत्रु को पराजित कर लेता है। क्या यह संभव नहीं है कि कल उस देश को उससे और कोई छीन ले अथवा पराजित शत्रु विजय पा जाय ?

स्थायित्व के अतिरिक्त शांति की विजय युद्ध की विजय से इसलिए भी बढ़कर है कि वह समस्त मानव-जाति का कल्याण करने वाली है। शांति के कार्य किसी वर्ग या जाति तक ही सीमित नहीं है। जैसे—विज्ञान ने जो अन्वेषण और अनुसंधान किए हैं उनसे सभी मनुष्यों को लाभ पहुँचा है। पर युद्ध की विजय से किसी एक मनुष्य, एक वर्ग या एक जाति का ही भला होता है।

शांति की विजय से समाज और देश उत्कर्ष के मार्ग में अग्रसर होते हैं, किन्तु युद्ध की विजय से सर्वदा उन्नति नहीं होती। यदि कभी युद्ध की विजय किसी देश को समृद्धिशाली बना देती है तो कभी उसे अधोगति के अंधकूप में भी ढकेल देती है। यदि कभी वह किसी देश को ऊँचा उठा देती है तो कभी उसे नीचे भी गिरा देती है।

युद्ध की विजय से शांति की विजय इसलिए भी अच्छी है कि पहली के लिए जो रुधिर-प्रवाह किया जाता है उससे दूसरी सर्वथा मुक्त है। पहली हिंसा पर निर्भर है और दूसरी अहिंसा पर, युद्ध में अगणित निरीह प्राणियों का वध होता है, अगणित स्त्रियाँ विधवाएँ हो जाती हैं, अगणित बच्चे अनाथ हो जाते हैं। युद्ध से पारस्परिक द्वेष और विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित होती है। इस प्रकार युद्ध की विजय अशांति की जननी है और मानव-जाति के दुःखों को बढ़ाती है। शांति की विजय में ये बुराइयाँ नहीं हैं।

सारांश यह है कि युद्ध की विजय से शांति की विजय बढ़कर है। पहली से मानव मानव न रह कर दानव हो जाता है। दूसरी से मनुष्य मनुष्य न रह कर देवता बन जाता है। पहली से यह लोक नरक बनता है और दूसरी से स्वर्ग। पहली से यह लोक अधःपतित होता है और दूसरी से ऊर्ध्वगामी।

'सबै दिन जात न एक समान'

(१) प्रस्तावना—सृष्टि की परिवर्तनशीलता
(२) कुछ देशों का उदाहरण
(३) कुछ जातियों के उदाहरण—
(क) हिन्दू-जाति की पूर्व दशा में पतिवर्तन (ख) अँग्रेज जाति की पूर्व दशा में परिवर्तन
(४) व्यक्तियों के जीवन में उलट-फेर
(५) महाराज हरिश्चन्द्र का उदाहरण
(६) कुछ आधुनिक व्यक्तियों का उदाहरण
(७) उपसंहार—सारांश

"संसार में किसका समय है एकसा रहता सदा,
हैं निशि-दिवा,सी घूमती सर्वत्र विपदा-सम्पदा ।
जो आज एक अनाथ है नरनाथ कल होता वही;
जो आज उत्सव-मग्न है कल शोक से रोता वहीं;; ॥

निसंदेह किसी का भी समय एक सा नहीं रहता, किसी की भी दशा एक सी नहीं रहती। जो आज उत्कर्ष के शिखिर पर चढ़ा हुआ है वह कल अपकर्ष के गर्त में गिर जायगा। जो आज अधोगति के अंध-कूप में पड़ा हुआ है वह कल ऊर्ध्वगामी होगा। जो आज भूख से तड़पता फिरता है वह कल भोजन से ढक जायगा। जो आज समृद्धि के समुद्र में तैर कर रहा है वह कल दाने-दाने को तरसेगा। जो आज आपत्तियों से पीड़ित होकर आठ-आठ आँसू रोता है वह कल सुखों से फूला न समायगा। जो आज हताश है, जिसकी आशाओं पर आज पानी फिर गया है, वह कल आशाओं से भर

जायगा। जिसका सौभाग्य—सूर्य आज संसार भर को आलोकित कर रहा है वह कल भाग्य-हीन हो जायगा। कहने का तात्पर्य यह है कि परिवर्तन सृष्टि का नियम है।

इतिहास इस तथ्य का समर्थन करता है। उसके पढ़ने से ज्ञात होता है कि किस प्रकार समय ने किसी देश, किसी जाति अथवा किसी व्यक्ति को नचाया है, उसके रूप में परिवर्तन किया है। प्राचीन काल में यूनान और रोम उन्नति के शिखिर पर चढ़े हुए थे। सारे विश्व पर इनका सिक्का जमा हुआ था। ये देश सभ्यता की दौड़ में सब से आगे थे। इसकी शासन पद्धति, रीति-नीति और ज्ञान-विज्ञान का संसार में आदर था। इन्होंने ऐसे-ऐसे विद्वान पैदा किए जिनका ज्ञान-मयंक आज तक विश्व में चमक रहा है। यूनान ने सुकरात, प्लेटो, अरस्तू आदि दिव्य विभूतियों को जन्म दिया। ये महान आत्माएँ किसी भी देश के कीर्ति-स्तम्भ हो सकती हैं। पर आज यूनान और रोम की कोई हस्ती नहीं, आज इन देशों का कोई महत्व नहीं रह गया है। कुछ दिन पूर्व जापान आदि देशों के शंखनाद से विश्व प्रतिध्वनित हो रहा था। पर क्या आज उसकी वही दशा है। आज उसकी कोई महत्ता नहीं है। यही हाल जर्मनी का है।

अब जाति को लीजिए। प्राचीन काल में हिन्दू जाति की कीर्ति-पताका सारे संसार में फहरा रही थी। उस समय यदि कोई जाति सबसे अधिक सभ्य गिनी जाती तो वह हिन्दू जाति थी। उस समय यदि कोई जाति सबसे ज्ञानवान समझी जाती थी तो वह हिन्दू- जाति थी। उस समय

यदि कोई जाति सबसे अधिक धनाढ्य थी तो वह हिन्दू जाति थी।

सारांश यह है कि प्रत्येक क्षेत्र में हिन्दुओं ने सबसे ऊँचा स्थान पाया था। इस जाति में ऐसी-ऐसी प्रतिभा-सम्पन्न आत्माओं का आविर्भाव हुआ जिन्होंने सारे संसार को आलोकित किया। पर आज इसकी दुर्दशा है, आज इसका अपकर्ष है। वह समय था जब यह जाति विद्या, कलाकौशल और सभ्यता में अपनी सानी नहीं रखती थी और एक यह समय है जब इन सबका इसमें अभाव पाया जाता है। एक वह समय था जब यह जाति सारे संसार की शिरोमणि थी और एक यह समय है जब यह विदेशी जातियों का मुँह ताकती है। निस्सन्देह इस जाति का अतीत जितना उज्ज्वल था वर्तमान उतना ही अन्धकार-मय है। प्राचीन समय में इसका जैसा उत्थान था, आज कल वैसा ही पतन है। यह अपने रंग-रूप को छोड़कर विदेशी रंग में रँगी हुई है। अपनी संस्कृति और सभ्यता को भुलाकर अँग्रेजी सभ्यता को अपनाए हुए है। आजकल खानपान में, रहन-सहन में, आचार-विचार में, अँग्रेज ही हिन्दुओं के अनुकरणीय हो रहे हैं। उन्हीं के ताल-सुर पर हम नाच रहे हैं। हमने अँग्रेजों से बिसकुट खाना और चाय पीना सीखा है। धोती छोड़कर पैण्ट धारण की है और हमारी टोपी का स्थान हैट ने ले लिया है। हमें अपनी प्राचीन वस्तुओं से घृणा हो गई है। हम अपनी मातृ-भाषा का निरादर करते हैं। उसमें बोलने में अपनी हेटी समझते हैं, हम विदेशी भाषा अँगरेजी को शिक्षा और विचार-विनिमय का माध्यम बनाए हुए हैं। विदेशी

रीतिरिवाजों की नकल करने में हम अपना सौभाग्य समझते हैं। हमारी शिक्षा-प्रणाली, सामाजिक-गठन और शासन पद्धति विदेशी प्रवृत्तियों से ओत-प्रोत है। गर्ज यह है कि इसमें भारतीयता के लक्षण बहुत कम रह गए हैं। हमारी पराधीनता ने हमें दो कौड़ी का भी नहीं रक्खा है। इसी कारण आज हमारे भाई दाने-दाने को तरसते हैं। सचमुच आज हमारी अत्यन्त शोचनीय दशा है यही कारण है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की आत्मा हमारी दशा से अत्यन्त व्यथित हुई। उन्होंने 'भारत दुर्दशा' नाटक में अपने हृदय के उद्‌गार इस प्रकार प्रकट किए हैं—

रोवहु सब मिलि के आवहु भारत भाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥
सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो॥
सबके पहिले जो रूप रङ्ग रस भीनो।
सबके पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो॥
अब सबके पीछे सोई परत लखाई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

पर हर्ष का विषय है कि इधर कुछ दिनों से पुनः हमारी जाति में उन्नति के लक्षण दिखाई दे रहे हैं।

आजकल अँगरेज जाति का सौभाग्य—सूर्य चमक रहा है। सारी दुनियाँ में इसकी प्रतिष्ठा है। कई भूभागों पर इसका अधिकार है। आजकल इस जाति में विद्या है, बुद्धि है, बल है, सुख—सम्पदा है, पर नहीं है एक वस्तु—आध्यात्मिकता—जिसके अभाव में कोई जाति पूर्ण सभ्य

नहीं कही जा सकती । किन्तु अर्वाचीन संसार में इसे कौन पूछता है ? जिस आध्यात्मिकता की कसौटी पर कस कर प्राचीन-काल में किसी मनुष्य या जाति का मूल्य निर्धारित किया जाता था आज उसे आलसियों का व्यवसाय बतलाया जाता है, वह अब सभ्यता की निशानी नहीं है। अब संसार में भौतिकवाद (materialism) का तांडव नृत्य हो रहा है। हाँ, तो आज अँगरेज जाति के सिर पर उत्थान का सेहरा बँधा हुआ है। पर क्या प्राचीन समय में भी इसकी यही दशा थी ? उस समय इस जाति को कोई नहीं जानता था। न यह सभ्य थी और न समृद्ध, न यह विद्वान् थी और न बुद्धिमान। आजकल की तरह अन्य देशों में इसका राज्य न था। यह प्रधानतः वाणिज्य करनेवाली एक जाति थी। इधर-उधर व्यापार करके अपना उदर-पोषण करती थी। भारतवर्ष में भी पहले यह व्यापारी की हैसियत से ही आई थी। इसने यहाँ के शासकों की शक्तिहीनता के कारण धीरे-धीरे अपना राज्य स्थापित कर लिया। आज यह विश्व की सिरमौर बनी है। यह है समय का फेर।

यही उलट-फेर व्यक्तियों के जीवन में भी देखा जाता है। दिनों के हेर-फेर से राजा रंक हो जाता है और रंक राजा, मूर्ख विद्वान् हो जाता है और विद्वान मूर्ख, निर्धन धनवान हो जाता है और धनवान निर्धन, अशक्त सशक्त हो जाता है और सशक्त अशक्त। यह सब काल भगवान् की करामात है, उसी की क्रीड़ा है। वह मनुष्यों को गेंद बना कर खेलता है। ऐसे काल-भगवान को नमस्कार है। वह—

राई को पर्वत करै पर्वत राई माँहि ।

भूतकाल में ऐसे अनेक खेल खेले गए हैं । महाराज हरिश्चन्द्र का ही उदाहरण ले लीजिए । ये चक्रवर्ती राजा थे और न्याय तथा सत्य के लिए विश्व में विख्यात थे । इनका व्रत था—

चन्द्र टरै सूरज टरै टरै जगत व्यवहार ।
पै दृढ़ व्रत हरिचन्द को टरै न सत्य विचार ॥

इनके राज्य में प्रजा सुखी थी । इनका सर्वत्र सम्मान था । इन्हें सब प्रकार का वैभव प्राप्त था । पर समय के परिवर्तन ने इन्हें नीचे गिरा दिया । ये राजा से दास हो गए । इन्हें अपने को चांडाल के हाथ तथा अपनी पत्नी और एक मात्र पुत्र को ब्राह्मण के हाथ बेचना पड़ा । केवल यहीं तक आपत्ति ने इनका पीछा नहीं किया । इन्हें रातभर श्मशान में जगते हुए शव जलाने का कर उघाना पड़ता था । एक दिन इनके पुत्र की मृत्यु हो गई और इनकी पत्नी उसे जलाने को उसी मरघट में ले पहुँची । उन्होंने उससे कर माँगा । उस बेचारी दासी पर कर चुकाने के लिए क्या था ? पर इन्होंने यह जानते हुये भी कि मृत बालक मेरा पुत्र है और वह स्त्री मेरी पत्नी है कर लिए बिना उसको दाह-क्रिया करने की आज्ञा न दी । इस प्रकार समय ने हरिश्चन्द्र को सर्वोच्च पद से खींचकर निकृष्ट स्थान पर पहुँचा दिया ।

आधुनिक काल में भी ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनसे दिनों के परिवर्तन की बात प्रमाणित है । हाल की एक

घटना को ले लीजिये । अष्टम एडवर्ड इँगलैण्ड के शासक थे । कौन जानता था कि वे शासक न रहकर शासित हो जायँगे ? आज वे एक साधारण मनुष्य हैं पष्ठ जार्ज जो आजकल इङ्गलैंड के सिंहासन पर आसीन हैं पहले एक साधारण व्यक्ति थे । उन्हें राज्याधिकार की कोई आशा भी न थी । पर समय ने महान उलट-फेर किया । अष्टम एडवर्ड के गद्दी से उतरने पर वे राजा बन गए । कुछ ही दिनों में राजा प्रजा हो गया और प्रजा राजा । आजकल के कई बड़े-बड़े महानुभाव अपने जीवन के आरम्भ में साधारण मनुष्य थे । महात्मा गांधी जो भारतवर्ष के प्राण हैं बचपन में एक सामान्य व्यक्ति थे । हिटलर और मुसोलिनी भी आरम्भ में साधारण व्यक्ति थे । समय ने इन लोगों को पहले ऊँचा चढ़ा दिया । फिर कहीं का न छोड़ा इँगलैण्ड के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री स्व० रैमजे मैकडानल्ड पहले एक मजदूर थे और इतने गरीब थे कि सोने के लिए उनके पास पलंग भी न था । हम नित्य देखते हैं कि जो व्यक्ति कल भरपेट भोजन भी नहीं पा सकता था वह आज लखपती है और जो कल लखपती था वह आज दरिद्री है । जो कल शिष्य था वह आज गुरु है और जो कल दुःख सागर में निमग्न था वह आज सुखी है ।

इस प्रकार सारी सृष्टि में यह देखा जाता है कि मनुष्य की—मनुष्य ही की क्यों पशु, पक्षी, वृक्षादि सभी की—दशा में सदैव परिवर्तन होता रहता है । सूर्य कभी किसी समय उदय होता है और कभी किसी समय । ऋतुएँ भी परिवर्तित होती रहती हैं । वृक्ष कभी हरे-भरे हो जाते हैं और कभी पत्रहीन । सारांश यह है कि परि-

वर्तन सृष्टि में सर्वत्र पाया जाता है। सदैव किसी की भी दशा एक-सी नहीं रहती। देश, जाति और व्यक्ति सभी में प्राचीन समय में परिवर्तन हुआ और अब भी हो रहा है। अतः यह कथन अक्षरशः ठीक है—'सबै दिन जात न एक समान'।

साम्यवाद और भारतवर्ष

(१) प्रस्तावना—साम्यवाद का प्रचार
(२) साम्यवाद का लक्षण
(३) साम्यवाद के अनुसार शासन का रूप
(४) भारत के लिये साम्यवाद की आवश्यकता
(५) साम्यवाद का भारतीय संस्कृति के अनुकूल न होना
(६) भारत में साम्यवाद के प्रचार से यहाँ की संस्कृति में परिवर्तन—
    (क) धर्म की आड़ में होनेवाले आर्थिक शोषण का अन्त
    (ख) भिखारियों का कर्मण्य बनाया जाना
(७) उपसंहार—भारतवर्ष में साम्यवाद के प्रचार में कठिनाइयाँ

इस बीसवीं शताब्दी में रूस में उत्पन्न साम्यवाद का चारों ओर बोल बाला है। सारे विश्व में इसकी आराधना हो रही है। भिन्न-भिन्न देशों में इसके आन्दोलन हो रहे हैं और पूँजीवाद के विरुद्ध आवाज उठाई जा रही है। इंगलैण्ड और अमरीका जैसे प्रख्यात पूँजीवादी देश भी इसकी लपेट में आ गए हैं। वहाँ पूँजीवाद के विरुद्ध मजदूर-आन्दोलन हो रहे हैं और उनमें पर्याप्त सफलता मिलती जा रही है। वास्तव में आजकल समस्त संसार

में साम्यवाद की लहर फैली हुई है। हमारा भारतवर्ष भी इसके प्रभाव से वंचित नहीं रह सका है। यहाँ दिन प्रतिदिन साम्यवादी विचारों एवं सिद्धान्तों का प्रचार बढ़ता जा रहा है। कृषकों और श्रमजीवियों के जो नित्य नये आन्दोलन हो रहे हैं उनमें साम्यवाद की झलक देखी जाती है। परन्तु यहाँ साम्यवाद अभी अपना घर नहीं कर सका है। इसे पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी है। अनेक व्यक्ति इसका विरोध कर रहे हैं।

साम्यवाद क्या है? साम्यवाद का अभिप्राय समाज के आर्थिक भेद-भाव का निराकरण है, समाज में आर्थिक समानता की स्थापना है। समाज दो भागों में विभक्त है—धनी और दरिद्र। एक तो वे लोग हैं जो अपने व्यक्तिगत लाभ और सुख के लिए गरीबों का रक्त चूस चूस कर रुपयों से तिजोरियाँ भर रहे हैं, और दूसरे वे लोग हैं जो भूखे नंगे रहकर पशु-तुल्य परिश्रम करने में अपने प्राण होम रहे हैं। एक वे लोग हैं जो मखमल के गद्दों पर पड़े हुए जीवन के सुख-समुद्र में गोते लगा रहे हैं और दूसरे वे लोग हैं जो दिन-रात पिसते रहने पर भी पेट के लिए रोटियाँ और शरीर ढकने के लिए वस्त्र भी नहीं पा सकते, सुख की तो बात दूर है। इस सामाजिक विषमता को दूर करने के लिए साम्यवाद ने यह सिद्धान्त निर्धारित किया है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति से उसकी शक्ति के अनुसार काम लिया जाय और उस कार्य पर समाज का आधिपत्य हो, उस व्यक्ति का नहीं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति समाज-राज्य की ओर से की जाय। साम्यवाद का मूलसूत्र है—

From each according to his ability—to each according to his needs, अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति यथाशक्ति कार्य करे और प्रत्येक को आवश्यकतानुसार प्राप्त हो। इस प्रकार के सामाजिक संगठन से पूँजी और पैदावार दोनों व्यक्तियों के हाथों में न रहकर समाज के हाथों में चले जायँगे, जिससे उद्योग-धन्धों का समाज या राज्य द्वारा नियंत्रण होगा, जिससे पूँजीपतियों द्वारा श्रमजीवियों का आर्थिक शोषण दूर हो जायगा।

समाजवादी जमीन और सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार नहीं मानते। वे कहते हैं कि सम्पत्ति किसी व्यक्ति विशेष की न होकर समाज की है और समाज का ही उस पर एक मात्र अधिकार है। वे पूँजीवाद का पूर्ण नाश चाहते हैं। वे प्रत्येक प्रकार की असमानता का नाश चाहते हैं। संसार की सम्पत्ति पर प्रत्येक मनुष्य का समान अधिकार है। केवल धनी के घर उत्पन्न होने से ही किसी को अधिक अधिकार नहीं मिल सकता। धनी के घर पैदा होकर या अपनी पूँजी के बल पर गरीब मजदूरों को चूसकर सम्पत्ति पर कब्जा कर लेना अन्याय है।

साम्यवाद के अनुसार शासन का रूप क्या होगा? साम्यवाद केवल प्रजातन्त्र-वादी समाज में ही सम्भव हो सकता है, क्योंकि वैयक्तिक शासन के मूल में तो स्वार्थ की भावना कार्य करती है। साम्यवाद में प्रत्येक बात सामाजिक दृष्टिकोण से देखी जाती है, उसमें समाज के प्रत्येक व्यक्ति के समान हित का ध्यान रक्खा जाता है। यह वैयक्तिक शासन में कैसे हो सकता है? वहाँ तो शासक अपना

हित पहले देखता है और प्रजा का पीछे। यदि कहीं उसके हित का प्रजा के हित के साथ संघर्ष हुआ तो फिर प्रजा के हित की रक्षा कैसी ? इसके अतिरिक्त साम्यवाद में व्यक्तिगत सत्ता का कोई पृथक् स्थान नहीं। उसमें तो व्यक्ति समाज के हाथ की कठपुतली है, समाज द्वारा नियंत्रित जीव है। अतः स्वेच्छाचारिता एवं निरंकुशता का, जो वैयक्तिक शासन के प्रतीक हैं, साम्यवाद में कोई अस्तित्व नहीं। हाँ, यदि कोई शासक स्वेच्छाचारी न हो, तो उसके राज्य में साम्यवाद निभ सकता है। ऐसा राजा तो एक प्रकार से जनता की सम्पत्ति का ट्रस्टी होगा। उसे तो समाज का प्रतिनिधि समझना चाहिये। सच पूछिए तो उसे शासक या राजा कहना गलत है। वह तो प्रजातन्त्र की व्यवस्थापिका सभा का सभापति जैसा होगा। महाराज रामचन्द्रजी इसी प्रकार के शासक थे। राम राज्य प्रजातन्त्र, नहीं आदर्श प्रजातन्त्र था, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के सामान्य सर्वाधिकार सुरक्षित थे। अतः स्पष्ट है कि साम्यवाद के अनुसार शासन का रूप प्रजातंत्र होगा।

क्या भारतवर्ष में साम्यवाद की आवश्यकता है ? भारत में दरिद्रता का पूर्ण साम्राज्य है। अन्य देशों की अपेक्षा यहाँ रोटी की समस्या प्रतिदिन जटिल होती जा रही है। यहाँ के कृषक और मजदूर दरिद्रता की साक्षात् मूर्ति बने हुए हैं। वे दाने-दाने को तरसते हैं और उनके नग्न शरीर ढकने के लिए जीर्ण-शीर्ण व वस्त्र भी नहीं हैं। उनके शरीर भूख के कारण घुले जाते हैं। उनकी पसीने की कमाई पर पूँजीपति और जमींदार हाथ साफ करते हैं। उन्हें अपने परिश्रम के बदले मुट्ठी भर अन्न भी नहीं मिलता, पर उसी

से पूँजीपति और जमींदार को विलास-सामग्री उपलब्ध होती है। बेचारे किसानों और मजदूरों की कमाई से इन लोगों का मोटरों पर चढ़कर सैर-सपाटे करना उनकी छाती पर मूँग दलना नहीं तो और क्या है ? परिश्रम कोई करता है, सुख कोई भोगता है। कितना अन्याय है ! इसके अतिरिक्त सम्पत्ति का कैसा दुरुपयोग होता है। एक ओर तो मनुष्य क्षुधाग्नि में जलते हैं और दूसरी ओर अय्याशी में रुपये उड़ाए जाते हैं। इसके नियंत्रण की आवश्यकता है। अतः हमारे देश में साम्यवाद वांछनीय है। भारत को दरिद्रता के चंगुल से मुक्त करने के लिए साम्यवाद की उपादेयता कौन स्वीकार न करेगा ?

पर साम्यवाद हमारी संस्कृति के सर्वथा अनुकूल नहीं है। भारतीय संस्कृति भाग्यवाद की भक्त है। हम लोगों का विश्वास है कि पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार मनुष्य को सुख-दुःख सम्पत्ति-विपत्ति आदि की प्राप्ति होती है। यदि कोई मनुष्य धनाढ्य है, तो इसे पूर्व जन्म के सत्कार्यों का फल समझिए। यदि कोई मनुष्य भूखा मरता है, तो इसे पूर्व जन्म के कुकर्मों का परिणाम समझिए। भाग्यवाद के अनुसार इस विषमता को दूर करना धनिकों के प्रति अन्याय ठहरता है। साम्यवाद समाज में आर्थिक समानता स्थापित करना चाहता है। यह पूर्णतः भाग्यवाद के प्रतिकूल है।

तो क्या भारतवर्ष में साम्यवाद के प्रचार से भारतीय संस्कृति को हानि पहुँचेगी ? कुछ लोगों का विश्वास है कि यदि इस देश में साम्यवाद का प्रचार हो जायगा तो

यहाँ की संस्कृति एवं सभ्यता नष्ट-भ्रष्ट हो जायगी। समझ में नहीं आता कि किस प्रकार साम्यवाद से हमारे देश की संस्कृति और सभ्यता पर कुठारघात होगा। हाँ, उसमें थोड़ा सा परिवर्तन अवश्य हो जायगा। धर्म की आड़ में जो आर्थिक शोषण हो रहा है उसका अन्त हो जायगा। आजकल बहुत से महन्त या धर्म के ठेकेदार विलास में रुपये फूँक रहे हैं। उन रुपयों की पाई-पाई के लिए दरिद्र किसानों और मजदूरों का पसीना बहा है। इस प्रकार का आर्थिक दुरुपयोग दरिद्रों को और भी दरिद्र बना रहा है। भारतवर्ष में आय के बड़े-बड़े साधन मन्दिरों से लगे हुए हैं जिनसे महन्तों को सहस्रों रुपयों की वार्षिक आमदनी होती है। ये धर्म के ठेकेदार गरीबों की कड़ी कमाई का अपव्यय करते हुए अकर्मण्य जीवन व्यतीत करते हैं। यह बड़ी बुरी बात है। यदि मन्दिरों की जायदादों पर जनता का अधिकार हो जाय, जिससे भूखों को अन्न और नंगों को वस्त्र मिल सके, तो कितना अच्छा हो! इस प्रकार की व्यवस्था से भारतीय संस्कृति का कुछ भी अहित न होगा।

साम्यवाद के अनुसार यहाँ के भिखारियों को भी कार्य करना पड़ेगा। साम्यवाद किसी को भी अकर्मण्य नहीं छोड़ सकता। उसके अनुसार 'He who does not work shall not eat.' अर्थात् जो काम नहीं करेगा उसे खाना नहीं मिलेगा। इससे भी हमारी संस्कृति को कोई हानि नहीं होगी। वास्तव में हमारी संस्कृति इन छोटी छोटी बातों से प्रभावित नहीं हो सकती। संस्कृति के प्रधान अंग खान-पान, वेश-भूषा और आचार-विचार हैं।

इनमें परिवर्तन होने से संस्कृति को धक्का लगता है। इसके अतिरिक्त आजकल जैसा भिक्षा-व्यवसाय देखा जाता है उसका हमारी संस्कृति में कोई स्थान भी नहीं है। इस व्यवसाय से हमारा समाज दिन-प्रतिदिन अधोगति की ओर अग्रसर हो रहा है। लोगों में काम से जी चुराने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है।

सारांश यह है कि साम्यवाद यद्यपि भारतीय संस्कृति के अनुकूल नहीं है, तो भी इससे हमारी संस्कृति को हानि होने की सम्भावना नहीं है। इससे जो थोड़ा बहुत सांस्कृतिक परिवर्तन होगा उससे हमारी सभ्यता सुधर जायगी। पर क्या यह भारतवर्ष में सफलता पा सकेगा ? इसमें संदेह है। इसके मार्ग में पहली कठिनाई तो अशिक्षा है। हमारे देश के मजदूर और किसान प्रायः पूर्णतः अशिक्षित हैं। वे साम्यवाद को समझ ही नहीं सकते, फिर उसके अनुसार कार्य करना तो दूर की बात है। दूसरी कठिनाई भाग्यवाद है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है हमारे देश में प्रायः लोग भाग्य के अंधभक्त हैं। यदि वे धनाढ्य हैं तो भाग्य के कारण हैं और दरिद्र हैं तो दिनों के फेर से हैं, ऐसी उनकी धारणा है। अतः वे अपनी दशा से संतुष्ट हैं। तीसरी कठिनाई स्वार्थ है। साम्यवाद सार्वजनिक स्वार्थ पर अवलम्बित है। वह व्यक्तिगत स्वार्थ का विरोधी है। मनुष्य स्वभावतः व्यक्तिगत स्वार्थ, व्यक्तिगत लाभ का उपासक होता है। वह अपनी सम्पूर्ण शक्तियों का तभी उपयोग करता है जब उसे इस प्रकार के उपयोग से अपना तथा अपने परिवार का लाभ दिखलाई देता है,

समाज के लाभ को वह पीछे देखता है। अतः साम्यवादी समाज में व्यक्ति न तो अपनी योग्यता का भरसक प्रयोग करेगा और न अधिक परिश्रम करेगा। वह आलस्य का जीवन बिताएगा, न उसमें उत्साह रहेगा और न उद्योगशीलता। इससे समाज का अहित होगा। वह ऊपर न चढ़ सकेगा। पर बर्टरेंड रसल नामक महानुभाव का कथन है कि इस दोष का निराकरण करने के लिए यह नियम बनाया जाय कि जो व्यक्ति जितना अधिक परिश्रम करे अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा आवश्यकताओं की पूर्ति करनेवाली उतनी ही अधिक वस्तुएँ उसे और दी जायँ। इस व्यवस्था से जीवन के अनेक आकर्षक सुखों का अनुभव करने के लिए सभी लोग भरसक परिश्रम करेंगे। चौथी कठिनाई पूँजी-पतियों और जमींदारों का विरोध है। वे कब चाहते हैं कि उनके कोशों पर समाज का अधिकार हो जाय। वास्तव में सिद्धान्त की दृष्टि से साम्यवाद ठीक है, पर व्यावहारिक जगत में उसका प्रयोग सम्भव नहीं प्रतीत होता। देखें भविष्य के गर्भ में क्या है, भविष्य की कसौटी पर साम्यवाद कैसा उतरता है?

लोक-प्रिय साहित्य का रूप

(१) प्रस्तावना—साहित्य-रचना का उद्देश्य
(२) साहित्य जीवन से पूर्णतया सम्बन्धित हो।
(३) उसमें मानव-जीवन की नीति तथा मर्यादा समन्वित झाँकी हो।
(४) वह देश और काल का प्रतिनिधित्व करता हो।
(५) उस पर सभ्यता एवं संस्कृति की छाप हो।

(६) उसमें भाव और कल्पना का समुचित योग हो।
(७) उसमें वास्तविकता का समावेश हो।
(८) उसमें सादगी हो।
(९) उपसंहार—लोकप्रिय साहित्य का प्रभाव

लोक-प्रिय साहित्य का रूप क्या हो, इस प्रश्न पर विचार करने से पूर्व हमें यह समझ लेना चाहिए कि साहित्य-रचना क्यों की जाती है, उसका क्या उद्देश्य होता है। व्यक्तिगत दृष्टि से देखा जाय तो साहित्य-सृजन साहित्यकार की स्वात्मा की संतुष्टि के हेतु होता है। तुलसीदासजी ने 'रामचरितमामस' की रचना का उद्देश्य बतलाते हुए लिखा है—

स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा,
भाषा निबन्ध मति मंजुल मातनोति।

जब साहित्यकार के हृदय-समुद्र का बाह्य परिस्थितियों द्वारा मंथन होता है तब उसमें भाव-लहरें उठने लगती हैं। उस समय वह उन्हें व्यक्त करने के लिए विकल हो जाता है। फलतः साहित्य का सृजन होता है। सामाजिक दृष्टि से देखा जाय तो साहित्य-रचना का उद्देश्य समाज का कल्याण करना है। साहित्य में समाज का प्रतिबिम्ब देखा जाता है। साहित्य समाज का दर्पण है। सत् साहित्य समाज का रूप अंकित करता हुआ उसमें सुधार की योजना करता है। उसके निर्माता की पैनी दृष्टि समाज के विविध अङ्गों का, समाज की व्यवस्था का, भली-भाँति निरीक्षण करती है और वहाँ जो कुछ अभाव दिखलाई पड़ता है उसका भावात्मक सजीव चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करके सुधार

का विधान करती है। इस प्रकार सामाजिक कल्याण करने वाला साहित्य अवश्य लोक-प्रिय होता है।

लोक-प्रिय साहित्य किस प्रकार बने, उसका क्या रूप हो, जिससे उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति हो ? लोक प्रिय साहित्य की प्रथम विशेषता यह होनी चाहिए कि वह जीवन से पूर्णतया सम्बन्धित हो। जीवन के अन्तर्गत मानव-जीवन ही नहीं प्रकृति-जीवन भी सम्मिलित समझना चाहिए। प्रकृति हमारी चिर सहचरी है। उसका हमारे जीवन में महत्व-पूर्ण स्थान है। उससे हम पृथक् नहीं रह सकते। उसमें हमारे भावों को जाग्रत एवं सशक्त करने की शक्ति कम नहीं, प्रत्युत् मानव-जीवन से अधिक है। फूल, पत्ती, पशु, नदी, नाले, निर्झर, खेत, विद्युत आदि प्रकृति के विभिन्न अङ्ग हमारे हृदय को अधिक आकृष्ट करते हैं। जब हम लहलहाते हुए हरे-भरे खेतों को देखते हैं तब उल्लास से भर जाते हैं। जब हम कोयल की पीयूषवर्षी 'कुहू कुहू' सुनते हैं तब आनन्द विभोर हो जाते हैं अतः हमारे साहित्य में प्रकृति के जीवन का भी अवश्य प्रतिपादन होना चाहिए।

कुछ दिनों से 'कलावाद' के पुजारियों ने यह विवाद उठाया है कि साहित्य और जीवन का कोई सम्बन्ध नहीं। साहित्य एक कला है जिसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। उसे जीवन से क्या काम ? उत्तर में हमें यह कहना है कि साहित्यकार एक जीवधारी व्यक्ति होता है। उसका जो कुछ अनुभव होता है वह जीवन से ही होकर आता है। उसी अनुभव को वह साहित्य के रूप में समाज को प्रदान

कर देता है। अतः साहित्य की जीवन से पृथक् कोई सत्ता नहीं हो सकती। वह जीवन से पैदा होता है और जीवन के लिए ही पैदा होता है। उसके द्वारा जीवन की विभिन्न समस्याओं का विवेचन और दशाओं का उद्घाटन किया जाता है।

लोक-प्रिय साहित्य के लिए यह वांछनीय है कि उसमें मानव-जीवन की नीति तथा मर्यादा समन्वित झाँकी हो। नीति और मर्यादा को जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। अतएव नीति और मर्यादा रहित साहित्य उसी प्रकार त्याज्य है जिस प्रकार नीति और मर्यादा रहित जीवन। जो साहित्यकार अपनी रचना में 'How to live' अर्थात् जीवन किस प्रकार व्यतीत करना चाहिए, यह नहीं बतलाता उसका प्रयास निष्फल है। जो साहित्कार अपनी रचना में नीति और मर्यादा का ध्यान नहीं रखता वह किस प्रकार समाज का हित-साधन कर सकता है? इस प्रकार की साहित्य-रचना से किस लोकोपकार की सम्भावना की जा सकती है? कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार का साहित्य तो मानव-समाज को रसातल ले जायगा। विश्व में आज तक जिन साहित्यकारों की पूजा हो रही है, उन सभी के साहित्य में पूत भावनाएँ भरी हुई हैं। गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में नीति और मर्यादा का भव्य रूप मन को मुग्ध करने वाला है।

लोक-प्रिय साहित्य देश और काल का प्रतिनिधित्व भी करे वह सार्वभौमिक एवं चिरस्थायी हो, पर उसमें रचना-स्थल और रचना-काल की विशेषताएँ भी झलकें। दूसरे

शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि वह अन्तर्देशी होते हुए भी देशी हो तथा सर्वसामयिक होते हुए भी सामयिक हो। तभी वह समाज का ठीक चित्र उपस्थित कर सकता है। ऐसा न हो कि हमारे अठारहवीं शताब्दी के साहित्य में मोटर, बिजली का पंखा, टैलीफोन आदि का उल्लेख हो। हमारा शृङ्गारी साहित्य सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी की अकर्मण्यता का सच्चा और सजीव परिचय कराता है। हमारा वर्तमान साहित्य भारतवर्ष की दासता, बेकारी, फूट और सामाजिक कुरीतियां जन्य अशान्ति का दिग्दर्शन करा रहा है। उसमें राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक आन्दोलनों की छाया देखी जाती है। उसमें वेदना, करुणा, निराशा आदि की व्यञ्जना का प्राचुर्य है। यदि कोई कहता है—

सुरसरि औ अंत्यज दुहूँ, अच्युत-पद-संभूत,
भयौ एक क्यो छूत औ दूजौ रह्यौ अछूत ?

तो कोई कहता है—

अबला जीवन हाय ! तुम्हारी यही कहानी,
अंचल म है दूध और आँखों में पानी।

लोक-प्रिय साहित्य के लिए यह आवश्यक है कि उस पर सभ्यता एवं संस्कृति की छाप हो। जिस जाति से सम्बन्धित वह साहित्य हो उसी जाति की सभ्यता और संस्कृति के दर्शन उसमें हों, उसी की रहन-सहन, उसी की वेश-भूषा, उसी की रीति-नीति, उसी का धर्म, उसी का आचार, उसमें भरा हुआ हो। इस संबंध में इस बात का ध्यान रहे कि साहित्यकार जाति-विशेष के सामान्य जीवन के आधार पर सभ्यता का निरूपण करे, उसके किसी एक अङ्ग के जीवन के आधार पर नहीं।

जैसे भारतीय साहित्यकार यदि अपने साहित्य में सह-शिक्षा (Co-education) को स्थान दे तो यह भारतीय सभ्यता के विरुद्ध होगा, क्योंकि यद्यपि भारतीय समाज के शिक्षित वर्ग के एक भाग में यह प्रथा प्रचलित है, तथापि पूर्ण भारतीय समाज में प्रचलित नहीं। अतः इस प्रथा को भारतीय सभ्यता के विरुद्ध समझा जायगा। इसी प्रकार मिस्टर, मिसेज, मिस, प्रोफेसर, होस्टल, क्लब, ड्राइङ्ग रूम, टैनिस, मैच, सिनेमा, मोटर पर हवाखोरी इत्यादि से सम्बन्धित जीवन-चित्र सामान्य भारतीय जीवन से अलग हट कर बिल्कुल यूरोपीय रहन-सहन के साँचे में ढले हुए हैं। यह ठीक है कि अँग्रेजी सभ्यता के प्रभाव से एक बहुत छोटे से वर्ग के लोगों के जीवन का यह भी पक्ष हो गया है, पर यह सामान्य पक्ष नहीं है। इसीलिए भारतीय साहित्य में उक्त जीवन-चित्रों का समावेश देश के असली सामाजिक और घरेलू जीवन को दृष्टि से ओझल करके भारतीय सभ्यता पर कुठाराघात करेगा।

साहित्य के भाव और कल्पना दो मूल तत्व हैं। इनमें प्रधानता भाव की है। यदि हम चाहें तो भाव को साहित्य का प्राण कह सकते हैं। पर कल्पना भी आवश्यक है। लोक-प्रिय साहित्य में भाव और कल्पना दोनों का समुचित योग होना चाहिए। आजकल विलायती साहित्य में भाव को हटाकर कल्पना को प्रधान स्थान दिया जा रहा है। वहाँ उत्कृष्ट साहित्य वही समझा जाता है जिसमें कवि अपनी कल्पना द्वारा वस्तुओं का काल्पनिक चित्र खींच दे। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार का साहित्य अधिक दिन तक जीवित नहीं रह सकता और उसे लोक-

प्रियता का पद कदापि नहीं प्राप्त हो सकता। शेक्सपियर का साहित्य जो आज तक जन-समाज में आदर पा रहा है। इसका कारण यही है कि उसमें जीवन के विविध पक्षों का भावात्मक चित्र अंकित है। वह हृदय पर चोट करता है। उसमें कल्पना का भी उपयोग हुआ है, परन्तु वह भाव की सहायिका होकर आई है; अपनी स्वतन्त्र सत्ता प्रदर्शित करती हुई नहीं।

साहित्य को लोक-प्रिय होने के लिए वास्तविकता की रक्षा भी करनी चाहिए। उसे असलियत के क्षेत्र से बाहर नहीं निकलना चाहिए। असलियत से यह मतलब नहीं कि साहित्य एक प्रकार का इतिहास बन जाय और उसमें प्रत्येक बात की सत्यता का ध्यान रक्खा जाय। उसका अभिप्राय केवल यह है कि साहित्य निराधार न हो। उसमें जो कुछ कहा गया हो वह मानवीय मनोविकारों और प्राकृतिक नियमों के आधार पर कहा गया हो। स्वाभाविकता से उसका लगाव न छूटा हो क्यों स्वाभाविकता का ही प्रभाव पड़ता है, अस्वाभाविकता का नहीं। गर्ज यह कि साहित्य में असम्भव बातों को स्थान न दिया जाय जिससे वह जीवन क्षेत्र से अलग खड़ा हुआ तमाशा न हो जाय।

सादगी साहित्य को लोक-प्रियता प्रदान करने के लिए नितान्त आवश्यक है। सादगी से केवल यही अभिप्राय नहीं है कि साहित्य की भाषा सरल और सुबोध हो, वरन् उसके भाव एवं विचार भी सुस्पष्ट होने चाहिये। भाषा में क्लिष्टता और अटपटापन न हो। भाव और विचार ऐसे सूक्ष्म और दुरुह न हों कि उनका मतलब

समझ ही में न आवे अथवा कठिनाई से समझ में आवे। दुनियाँ में आज तक जितने अच्छे-अच्छे कवि हुए हैं, दुनियाँ में आज तक जिन कवियों का आदर है, उनकी साहित्य रचना सादगी के गुण से विभूषित देखी जाती है। वस्तुतः सादगी से मुख मोड़कर कोई साहित्य अपने उद्देश्य की पूर्ति में सफल नहीं हो सकता। यदि साहित्य को समाज का कल्याण करना है, यदि साहित्य को समाज की गंदगी का परिष्कार करना है, तो यह आवश्यक है कि उसकी आवाज मनुष्य-मनुष्य तक पहुँचे। यह तभी सम्भव है जब साहित्य सरल हो, जिससे प्रत्येक व्यक्ति उसको पढ़ सके और समझ सके।

उपर्युक्त बातों पर ध्यान रखकर जो साहित्य तैयार होगा वह अवश्य लोक-प्रिय होगा, वह अवश्य जन-समाज में आदर पायगा। उसका निर्माता अपना ही नहीं वरन् लोक का कल्याण करने में समर्थ होगा, इसमें संदेह नहीं।

बेसिक शिक्षा

(१) प्रस्तावना—वर्तमान शिक्षा-पद्धति से असन्तोष
(२) बेसिक शिक्षा का आविर्भाव
(३) बेसिक शिक्षा की प्रधान विशेषताएँ—
(क) अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा (ख) शिक्षा का माध्यम—हिन्दुस्तानी (ग) शिक्षा में घरेलू उद्योग-धन्धों को स्थान (घ) समन्वय (Correlation) के सिद्धान्त द्वारा शिक्षा-प्रदान (ङ) ग्रामीण और नागरिक शिक्षा की एकरूपता

(४) पाठ्यक्रम की कुछ उल्लेखनीय बातें—
(क) अँगरेजी का बहिष्कार (ख) नागरिक शास्त्र को स्थान
(ग) सामान्य विज्ञान को स्थान (घ) ललित कलाओं को स्थान

(५) उपसंहार—बेकारी और ग्रामीण अशिक्षा के निराकरण का अमोघ साधन

वर्तमान काल में हमारे देश में जिन अनेक बातों से असन्तोष फैला हुआ है उनमें एक शिक्षा-पद्धति भी है। आजकल हमारी शिक्षा-पद्धति के विरुद्ध देश के कोने-कोने में आवाज उठाई जा रही है। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि उससे समाज को कितनी हानि हुई है, इससे देश कितना अधःपतित हुआ है। शिक्षित बेकारों की भीषण समस्या का उत्तरदायित्व भी इसी पर है। इसके दो प्रधान दोषों ने भारतीय समाज का कलेवर खोखला कर दिया है। प्रथम दोष इसकी अव्यावहारिकता है। द्वितीय दोष इसके माध्यम का विदेशी तथा विजातीय होना है। वही शिक्षा जन-समाज में आदरणीय समझी जायगी जिसका जीवन से सम्बन्ध होगा, जो मनुष्य को जीवन के लिए तैयार करेगी, जो जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता—जीविका—की पूर्ति करेगी। जो शिक्षा जीवन से दूर खड़ी होकर केवल पुस्तकगत ज्ञान ही प्रदान करेगी वह कभी विद्यार्थी-वर्ग का हित न कर सकेगी। जब तक शिक्षा द्वारा जीविका का प्रश्न हल नहीं होता तब तक उसके अन्य गुण व्यर्थ हैं। अतः औद्योगिक शिक्षा शिक्षा का प्रधान अंग होना चाहिए। माध्यम-सम्बन्धी दोष भी कम हानिकारक नहीं है। इससे ज्ञान-प्रसार में तो रुकावट होती ही है पर सबसे बड़ी हानि यह होती है कि लोग अपनी सभ्यता एवं संस्कृति

से हाथ धो बैठते हैं और विदेशी सभ्यता एवं संस्कृति के अनुकरण में ही अपना अहोभाग्य समझते हैं। वर्तमान शिक्षा-पद्धति के उपर्युक्त दोषों से आज हमारा जीवन कटु तथा नीरस हो गया है और हम मानसिक दासत्व के गर्त में डूबे हुए हैं।

विश्व-वन्द्य महात्मा गांधी की दृष्टि इस कलुषित शिक्षा पर बहुत दिनों से पड़ रही थी। किन्तु वे उपयुक्त समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। कांग्रेस मंत्रि-मंडलों की स्थापना हो जाने पर महात्माजी ने अपने शिक्षा-सुधार-सम्बन्धी विचारों को 'हरिजन' नामक पत्र द्वारा जनता के सम्मुख उपस्थित करना आरम्भ किया। उन्हीं दिनों नवभारत विद्यालय, वर्धा की रजत-जयन्ती मनाने का आयोजन हुआ। इस सुअवसर पर विद्यालय की प्रबन्ध-समिति ने गांधीजी के शिक्षा-सम्बन्धी विचारों पर मनन करने के लिए एक अखिल भारतवर्षीय शिक्षा-सम्मेलन किया। यह सम्मेलन गांधीजी के सभापतित्व में २२ और २३ अक्टूबर १९३७ ई० को वर्धा में हुआ। इसमें देश के प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री तथा सात सूबों के कांग्रेसी शिक्षा-सचिव सम्मिलित हुए। फलतः एक शिक्षा-योजना का सूत्र-पात हुआ जिसे 'वर्धा-शिक्षा-योजना' कहते हैं। संयुक्त-प्रान्तीय सरकार ने इस शिक्षा-योजना के आधार पर अपने प्रान्त के लिए उपयुक्त शिक्षा-पद्धति की रूप-रेखा तैयार करने के लिए आचार्य नरेन्द्रदेव के सभापतित्व में एक कमेटी बनाई। इस कमेटी ने प्रान्तीय आवश्यकताओं के अनुसार इस शिक्षा-योजना में थोड़ा-बहुत उलट-फेर करके उसे संयुक्तप्रान्त के लिए स्वीकार किया और उसे 'बेसिक शिक्षा' के नाम से विभूषित किया।

बेसिक शिक्षा में घरेलू उद्योग-धंधों को ग्रहण किया गया है । सच पूछिए तो नवीन शिक्षा रूपी काया का मेरुदंड ही उद्योग को माना गया है । आजकल के शिक्षा-शास्त्री प्रारम्भिक शिक्षा में उद्योग को सर्वोच्च स्थान देते हैं । उनकी धारणा है कि बालकों के शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक विकाश के लिए इसका बड़ा महत्व है । यह तो हुआ उद्योग का शिक्षा-सम्बन्धी महत्व । अब जीविका-सम्बन्धी महत्व लीजिए । विभिन्न उद्योग-धंधों को सीखकर बालक बड़ा होने पर उन्हें जीविकोपार्जन का साधन बना सकता है । बेसिक शिक्षा में गृहीत उद्योग-धन्धे दो भागों में विभाजित किए गए हैं—अनिवार्य उद्योग और वैकल्पिक उद्योग । अनिवार्य उद्योगों के अन्तर्गत खेतीबारी और कताई को रक्खा गया है । वैकल्पिक उद्योगों के अन्तर्गत (१) गत्ते, लकड़ी और धातु का काम (२) चमड़े का काम (३) मिट्टी का काम (४) चटाई और टोकरी बनाने का काम (५) कागज बनाने का काम (६) सीना-पिरोना आदि गृहस्थी के काम (केवल बालिकाओं के लिए) इत्यादि धंधे रक्खे गए हैं । विद्यार्थियों को वैकल्पिक उद्योगों में से केवल किसी एक का ज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा । अनिवार्य उद्योगों का चुनाव मानव-जाति की प्रारम्भिक आवश्यकताओं का ध्यान रखकर किया गया है । मनुष्य मात्र को भोजन और वस्त्र की सबसे पहले आवश्यकता होती है । अतः खेती बारी और कताई का ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक बालक-बालिका के लिए अनिवार्य है । इसके अतिरिक्त भारत की समृद्धि की दृष्टि से भी उक्त धन्धे अत्यन्त आवश्यक हैं । ये हमारे देश के परम्परागत राष्ट्रीय धंधे हैं इन्हीं धंधों से एक दिन भारत की समृद्धि-पताका विश्व भर में फहरा रही थी ।

उद्योग-धंधों के ज्ञान के अतिरिक्त अन्य विषयों का उनके अनुबन्ध (Correlation) द्वारा पढ़ाना बेसिक शिक्षा की सबसे बड़ी विशेषता है। अनुबन्ध क्या है ? 'अनुबन्ध' का शाब्दिक अर्थ है 'बन्धन' या 'सम्बन्ध'। बेसिक शिक्षा में इसका यह अर्थ है कि बालक-बालिकाओं को उन उद्योग-धन्धों द्वारा गणित, भूगोल, इतिहास, भाषा आदि मानसिक विषयों का ज्ञान कराया जाय जिन्हें वे नित्यप्रति स्कूल में सीखते हैं। ऐसा करने की आवश्यकता है ? क्या इन उद्योगों को तथा गणित आदि मानसिक विषयों को पृथक् पृथक् नहीं पढ़ा सकते ? एक को दूसरे से सम्बन्धित करने की क्या आवश्यकता है ? बाल-मनोविज्ञान हमें यह बतलाता है कि बालक स्वभावतः ऐसे कार्य को पसन्द करता है जिसमें उसके हाथों का उपयोग हो और ऐसे कार्य से दूर भागता है जिसमें केवल मस्तिष्क का उपयोग हो, हाथों का नहीं। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि बालक उद्योगों में रुचि रखता है और मानसिक विषयों में अरुचि। परन्तु उसके समुचित एवं पूर्ण विकास के लिए मानसिक विषयों की नितान्त आवश्यकता है। ऐसी दशा में हम अनुबन्ध द्वारा ही मानसिक विषयों को रुचिकर रूप प्रदान करके बालक को उनका ज्ञान करा सकते हैं। यह किस प्रकार होगा, इसे समझने के लिए एक उदाहरण लेना उचित होगा। कताई के उद्योग में कातकर अटेरन पर सूत लपेट कर तार गिनवाना दो दिन के कते हुए तारों को जुड़वाना, दो दिन के कते हुए तारों का अन्तर निकलवाना आदि द्वारा गणित की प्रारम्भिक क्रियाएँ रोचक ढंग से सिखलाई जा सकती हैं। इसी प्रकार भाषा, भूगोल, इतिहास आदि विषयों का ज्ञान कराया जा सकता है।

उद्योग के अतिरिक्त बालक के घरेलू या सामाजिक वातावरण से भी अनुबन्ध किया जा सकता है। इस अनुबन्ध-पद्धति द्वारा शिक्षा-प्रदान में जहाँ बालक रोचकता का अनुभव करेगा, वहाँ वह जो कुछ सीखेगा उसे भली भाँति समझ जायगा और उसकी शिक्षा का सम्बन्ध उसके दैनिक जीवन से हो जायगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि आधुनिक शिक्षा का विद्यार्थी के दैनिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। विद्यार्थी स्कूल में जो कुछ सीखता है वह स्कूल की चहार दीवारी तक ही सीमित रह जाता है, दैनिक जीवन में उसका कुछ भी उपयोग नहीं होता। पहाड़ी के निकट का निवासी बालक भूगोल की पुस्तक में पहाड़ी की परिभाषा पढ़ लेने पर भी यह नहीं जान पाता कि वह स्वयं एक पहाड़ी के निकट रहता है।

बेसिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में अङ्गरेजी को कोई स्थान नहीं मिला है। अङ्गरेजी एक विदेशी एवं विजातीय भाषा है। प्रत्येक भारतीय को सर्वप्रथम अपनी मातृ-भाषा सीखनी चाहिए। तत्पश्चात् उसे राष्ट्रभाषा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। फिर यदि वह चाहे तो किसी विदेशी भाषा को सीख सकता है। पर अब तक मातृ-भाषा और राष्ट्रभाषा की शिक्षा की कुछ भी सुव्यवस्था न थी। उसका स्थान अङ्गरेजी ने हड़प लिया था। अतः बेसिक शिक्षा से अङ्गरेजी का बहिष्कार किया गया है। इसके अतिरिक्त एक क्लिष्ट विदेशी भाषा का बोझ बालकों पर लादना सर्वथा अनावश्यक है।

बेसिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में नागरिक शास्त्र की शिक्षा का भी विधान है। वास्तव में इसकी हमारे देश में सबसे

बड़ी आवश्यकता है । प्रचलित शिक्षा में यह सबसे बड़ी कमी है कि वह बालक-बालिकाओं को नागरिक के अधिकार एवं कर्तव्यों से कुछ भी परिचय नहीं कराती ।

सामान्य-विज्ञान का अध्ययन भी बेसिक शिक्षा की एक विशेषता है । विज्ञान की जो शिक्षा आजकल स्कूलों में दी जाती है उसका दैनिक जीवन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं, वह दैनिक जीवन की उपयोगिता के बाहर की वस्तु है । पर बेसिक शिक्षा का सामान्य विज्ञान जीवन में घुला-मिला विज्ञान है, जिसका ज्ञान विद्यार्थी उद्योगों अथवा घरेलू वातावरण द्वारा प्राप्त करते हैं ।

ललित कलाएँ बेसिक शिक्षा में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं । ये संगीतकला, चित्रकला, नृत्यकला, मूर्तिकला और वस्तुकला हैं । विद्यार्थी को इनमें से किसी एक का ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है । प्रत्येक नागरिक को किसी-न-किसी कला का ज्ञाता होना चाहिए क्योंकि मनोरंजनार्थ कला का ज्ञान अपेक्षित है ।

सारांश यह है कि पाठ्यक्रम की दृष्टि से, शिक्षा-प्रणाली की दृष्टि से, मनोविज्ञान की दृष्टि से, बेसिक शिक्षा सचमुच बड़ी ही अच्छी शिक्षा है । इससे बेकारी की भीषण समस्या तो सुलझेगी ही, साथ में ग्रामीण अशिक्षा का निराकरण भी होगा । प्रत्येक बालक कोई-न-कोई उद्योग सीख जायगा जिसे वह अपनी जीविका-उपार्जन का साधन बना सकेगा । आजकल ग्रामीण अशिक्षा का एक प्रधान कारण

यह है कि शिक्षा अरुचिकर है और उसके द्वारा ग्रामीण आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती। ग्रामीण जनता का मुख्य व्यवसाय कृषि है। बेसिक शिक्षा में कृषि को सर्व-प्रथम स्थान मिला है। अतः माता-पिता अपने बालकों को सहर्ष इस शिक्षा की प्राप्ति के लिए स्कूल भेजेंगे, क्योंकि उनके बालक पढ़कर उनके उद्योग को वैज्ञानिक ढङ्ग से कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त बालकों को हाथ के काम से प्रेम होने के कारण स्कूल घर के समान प्यारा लगेगा, आज-कल की भाँति कारागृह की भाँति नहीं जहाँ उन्हें डण्डों की मार खानी पड़ती है। अतः ऐसी उत्तम शिक्षा से हमें पूर्ण लाभ उठाना चाहिए और इसके प्रचार में तन, मन और धन से प्रयत्नशील होना चाहिए। महात्मा गांधी के प्रौढ़ मस्तिष्क से प्रसूत यह शिक्षा निस्सन्देह हमारे बालकों का कल्याण करेगी, निस्सन्देह हमारे देश को ऊँचा उठायेगी, निस्सन्देह हमें निरक्षरता के अभिशाप से मुक्त करेगी।

गांधीवाद की रूप-रेखा

(१) प्रस्तावना—गाँधीवाद का महत्व

(२) गाँधीवाद का साधनात्मक रूप

(क) सत्य (ख) अहिंसा (ग) ब्रह्मचर्य (घ) अस्तेय और अपरिग्रह (ङ) ईश्वर में अटल विश्वास (च) सेवा

(३) गाँधीवाद का व्यावहारिक रूप—

(क) स्वराज्य (ख) सत्याग्रह (ग) खादी (घ) सामाजिक भेद-भाव का निराकरण (ङ) धर्म और राजनीति का समन्वय

(४) उपसंहार—गाँधीवाद का भविष्य

आज जब विश्व में चारों ओर अशान्ति के बादल उमड़ रहे हैं, आज जब विश्व में चारों ओर हिंसा-दानवी का ताण्डव-नृत्य हो रहा है, आज जब विश्व में चारों ओर दीन-दुखियों को अत्याचार एवं अन्याय के कोल्हू में कुचला जा रहा है, गांधीवाद अपना निर्मल शुभ्र आलोक फैलाकर मानव-जाति को शान्तिदेवी के मन्दिर का मार्ग दिखला रहा है। केवल इतना ही नहीं, वह उसे ऊँचा उठाकर मुक्ति-पथ का पथिक भी बनाना चाहता है। आजकल भौतिकवाद का बोलबाला है। विशेषतः पाश्चात्य देश तो इसके प्रवाह में बेतरह प्रवाहित हो रहे हैं। वहाँ आत्मा भुला दी गई है। विज्ञान के दिन दूने रात चौगुने उत्थान ने आत्मा की विनाशकारी शक्तियों को जन्म दिया है। 'खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ' की ध्वनि से आज विश्व प्रति-ध्वनित हो रहा है। गांधीवाद को इसका प्रतिक्रिया स्वरूप समझना चाहिए। हम कहना चाहें तो उसे आत्मवाद का प्रतीक भी कह सकते हैं। उसका उद्देश्य मानव-जाति को उच्च नैतिक और आध्यात्मिक सतह पर ले जाना है। इस बीसवीं शताब्दी में गांधीवाद को एक नवीन युग का पथ-प्रदर्शक समझना चाहिए जिसमें मानव-जाति, मानव-जाति ही क्यों समस्त प्राणी-समाज, प्रेम के साथ सुख और शान्तिमय जीवन व्यतीत कर सकेगा। गांधीवाद की उत्पत्ति यद्यपि भारतवर्ष में हुई है, तथापि उसके प्रभाव से विश्व भर प्रभावित हो रहा है। यहाँ तो अधिकांश लोग अपने जीवन को तदनुसार गढ़ ही रहे हैं, अन्य देश भी शनैः शनैः उसका अनुकरण करते जा रहे हैं।

गांधीवाद के दो रूप हैं—साधनात्मक और व्यावहारिक। साधनात्मक रूप के छः प्रधान अंग हैं—सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ईश्वर में अटल विश्वास और सेवा। सत्य गांधीवाद के अनुसार एक दैवी-गुण है। वह न केवल मनुष्यों के शब्दों और कार्यों में प्रकट होना चाहिए, बल्कि अन्तरात्मा में भी उसका प्रकाश होना चाहिए। झूठ न बोलना ही सत्य पालन के लिए पर्याप्त नहीं, यद्यपि यह उसका एक आवश्यक अंग अवश्य है। सत्य ही ईश्वर है। सत्य के अतिरिक्त अन्य कोई ईश्वर नहीं। अतः सत्य की आराधना ईश्वर की आराधना है। मनुष्य-मात्र को सदैव मन, वचन और कर्म से सत्य की आराधना करनी चाहिए। क्षण भर भी सत्य से परे होने पर मनुष्य ईश्वर से दूर जा पड़ता है और परिणाम-स्वरूप उसका आत्मिक पतन होता है।

अहिंसा का साधारण अर्थ है, किसी जीव को कष्ट न देना। किन्तु गांधीवाद के अनुसार उसका अर्थ इससे विस्तृत तथा व्यापक है। अहिंसा केवल आचरण का स्थूल नियम नहीं है, बल्कि मन की एक वृत्ति है। जिस वृत्ति में द्वेष की कहीं गंध न हो उसे अहिंसा समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसके अन्तर्गत दूसरों के साथ हित करना भी सम्मिलित है। यदि कोई व्यक्ति हमारे साथ दुर्व्यवहार करता है तो उसके प्रति अपने हृदय में बुरी भावना न लाना ही अहिंसा नहीं है, वरन् अधिक से अधिक कष्ट उठाकर उसके हृदय पर आधिपत्य कर लेना भी अहिंसा है जिससे वह हमारे साथ दुर्व्यवहार करना छोड़ दे। इस प्रकार अहिंसा के अन्तर्गत प्रेम-व्यवहार भी आ

जाता है। वह केवल निवृत्ति अथवा निष्क्रिया नहीं, बल्कि प्रवृत्ति अथवा प्रक्रिया है। 'अहिंसा परमो धर्मः' एक प्राचीन पवित्र उक्ति है। निस्संदेह अहिंसा परम धर्म है। इसकी साधना से मन के विकार भस्म हो जाते हैं, मन पर अधिकार हो जाता है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है ब्रह्म अथवा परमेश्वर की ओर जाना अर्थात् अपने मन और इन्द्रियों को ईश्वर की ओर ले जाना। पर साधारण तौर पर इसका अर्थ है संभोग-लिप्सा पर विजय। वास्तव में वीर्य-रक्षा और काम-विजय द्वारा मनुष्य ईश्वरोन्मुख होता है। अतः दोनों अर्थों में कोई विशेष अन्तर नहीं है। गांधीवाद का विश्वास है कि ब्रह्मचर्य सत्य और अहिंसा के पालन में सहायता करता है। जो मनुष्य ब्रह्मचारी नहीं वह न तो अहिंसा धर्म का पालन कर सकता है और न सत्य व्रत का। सत्य साध्य है और अहिंसा एवं ब्रह्मचर्य उसके साधन हैं। इन दोनों से मन तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की जाती है और मन तथा इन्द्रियों की विजय से सत्य रूप परमेश्वर की प्राप्ति होती है। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए जिह्वा पर अधिकार करना होगा, स्वाद पर विजय प्राप्त करनी होगी। इस व्रत के व्रती को आहार केवल शरीर-रक्षा की दृष्टि से करना चाहिए स्वादेन्द्रिय की परितृप्ति के लिए नहीं। गांधीवाद के अनुसार ब्रह्मचर्य कायिक ही नहीं, मानसिक भी होना चाहिए। अर्थात् यही पर्याप्त नहीं है कि मनुष्य संभोग-कार्य से शरीर को तो बचाए, पर मन में विषय-चिन्तन करे। उसे तो पाखंडी कहा जायगा। आवश्यकता इस बात की है कि ब्रह्मचारी अष्ट मैथुनों से

सदैव बचे। विवाहित स्त्री-पुरुष दोनों एक दूसरे के इच्छानुसार केवल संतानोत्पत्ति के लिए ही भोग करें, अन्यथा पूर्ण संयम से रहें।

अस्तेय भी गांधीवाद का एक तत्व है। इससे अभिप्राय यह है हम केवल उतनी ही वस्तुओं का उपभोग करें जितनी हमारे लिए नितान्त आवश्यक हैं। उनसे अधिक पर हमारा कोई अधिकार नहीं है, चाहे वे हमारी ही क्यों न हों। अधिक पर अधिकार समझना चोरी है। अपरिग्रह अस्तेय से मिलता जुलता है। दोनों में थोड़ा भेद है। अपरिग्रह का अभिप्राय है कि जो आज हमारे लिए आवश्यक नहीं है उसका भविष्य की चिन्ता रखकर संग्रह नहीं करना चाहिए। जिस वस्तु की जब निश्चित रूप से आवश्यकता होगी तब वह अवश्य प्राप्त हो जायगी। पर अपरिग्रह का यह अर्थ लेना गलत है कि मनुष्य अपने पास आई हुई वस्तुओं का परित्याग कर दे। प्रत्युत् वह उनकी रक्षा करे और जिन्हें उनकी आवश्यकता हो उन्हें उनका उपयोग करने दे।

गांधीवाद का ईश्वर में अटल विश्वास है। उसके निकट ईश्वर एक परम महत्व और वास्तविकता की वस्तु है जिसके बिना हम क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकते। इस सम्बन्ध में गांधीजी ने स्वयं जो कहा है उसे देखिए -

"यह युक्ति या तर्क का विषय कभी नहीं बन सकता। यदि आप मुझे औरों की युक्ति द्वारा विश्वास करा देने को कहें तो मैं हार मानता हूँ, परन्तु मैं आपसे

इतना कहे देता हूँ कि आप और मैं इस कमरे में बैठे हैं, इस सचाई से भी अधिक मुझे उसकी सत्ता का निश्चय है। मैं यह भी कहता हूँ कि मैं बिना हवा और पानी के जी सकता हूँ; परन्तु उसके बिना नहीं। आप मेरी आँखें निकाल लें, मैं मरूँगा नहीं। आप मेरी नाक काट लें, मैं मरूँगा नहीं। परन्तु ईश्वर में मेरे विश्वास को उड़ा दें तो मैं मरा ही पड़ा हूँ।"

इस प्रकार की अटूट भक्ति होने के कारण उन्होंने उपासना पर भी जोर दिया है।

गांधीवाद में सेवा का महत्वपूर्ण स्थान है। गांधीजी ने कहा है, "मेरे लिए मुक्ति का मार्ग तो अपने देश और मनुष्य-मात्र की निरन्तर सेवा करते रहना ही है।" गांधीवाद मानव-जीवन का साफल्य मनुष्य-मात्र की सेवा में समझता है। मनुष्य की उत्पत्ति इसीलिए नहीं हुई है कि वह अपना ही हित-साधन करे, औरों के लिए कुछ न करे। उसका कर्तव्य है कि वह दीन-दुखियों, पीड़ितों और अनाथों की सेवा करे और उनकी दशा सुधारे। यही उसके लिए मुक्ति का मार्ग है, क्योंकि मनुष्य-मात्र की सेवा ईश्वर की सेवा ही है। गांधीजी के जीवन पर दृष्टि-पात करने से ज्ञात होता है कि वह सेवा का एक वृहत् इतिहास है। उनका जीवन तो मनुष्य-मात्र की सेवा पर उत्सर्ग हो गया था।

यहाँ तक तो गांधीवाद के साधनात्मक रूप की चर्चा हुई। अब उसके व्यावहारिक रूप की ओर आइए। इसके

अन्तर्गत स्वराज्य, सत्याग्रह, खादी, सामाजिक भेद-भाव का निराकरण और धर्म तथा राजनीति का समन्वय है। गांधीवाद की दृष्टि में स्वराज्य का अर्थ है राम-राज्य अर्थात् धर्म का राज्य जिस पर सबका अधिकार हो। उसमें एक ओर अगणित सम्पत्ति और दूसरी ओर करुणाजनक दारिद्र न होगा। उसमें कोई भूखा न मरेगा। उसका आधार पशु-बल न होगा, वरन् नैतिक बल होगा। वह प्रेम और न्याय पर अवलम्बित होगा। उसमें जनता स्वाधीनता के साथ जीवन व्यतीत करेगी। भारतवर्ष में इसी प्रकार के राज्य की स्थापना के लिए गांधीजी प्राणपण से प्रयत्नशील थे।

इसके लिए उन्होंने सत्याग्रह का सहारा लिया था। गांधीवाद के अनुसार सत्याग्रह अत्याचार एवं अन्याय के दमन का अमोघ अस्त्र है। सत्याग्रह का अर्थ है सत्य का आग्रह करते हुए अधर्म का विरोध करना। समस्त विश्व सत्य की सुदृढ़ नींव पर ठहरा हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में सत्य विराजमान है। सत्याचरण द्वारा सुषुप्त सत्य जाग्रत किया जा सकता है। सत्य के जाग्रत होने पर अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है और वह अधर्म का अन्त करता है। कैसा ही स्वार्थान्ध, कैसा ही अधम, कैसा ही क्रूर मनुष्य क्यों न हो सत्याग्रह के समक्ष उसकी स्वार्थान्धता, अधमता और क्रूरता चूर-चूर हो जायगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि सत्याग्रह स्वतः अहिंसात्मक है। हिंसा द्वारा सत्य का आग्रह कैसा? पशु-बल द्वारा हृदय परिवर्तन कैसा? युद्ध के इतिहास में सत्याग्रह ने नवीन युग का सूत्रपात्र किया है। अब तक कहीं-कहीं कतिपय लोगों ने निजी

जीवन में ही इसका भला प्रयोग किया हो, किन्तु राजनैतिक क्षेत्र मे तो यह एक नवीन वस्तु है, जिसको विश्व भर टकटकी लगाकर देख रहा है। गांधीजी ने इस अमोघ अस्त्र द्वारा ब्रिटिश शासन को जर्जरित करके उसका अन्त कर डाला।

गांधीवाद खादी का उपासक है। उसकी दृष्टि में खादी वह रसायन है जिसके सेवन से भारत-माता पुष्टता प्राप्त करेगी। यह दरिद्रता के लिए रामवाण है, आर्थिक पराधीनता के लिये तीक्ष्ण छैनी है, बेकारी के लिए दुधारी तलवार है। यह आर्थिक शोषण का अन्त करनेवाली विष-वटी है। यह भारतीय स्वाधीनता का प्रतीक है। भारतीय गुलामी का उत्तरदायित्व मशीनों द्वारा हमारे घरेलू उद्योग-धन्धों का गला घुटने पर है। मशीनों ने गरीबों का रक्त चूसा है और पूंजीपतियों की तिजोरियां भरी हैं। एक समय था जब यहाँ बढ़िया कपड़ा तैयार होता था, अच्छे से अच्छे खिलौने बनते थे, सुन्दर से सुन्दर चित्रकारी होती थीं। एक समय था जब यहाँ दूध-घी की नदियाँ बहती थीं, धन-धान्य से प्रत्येक घर भरा-पूरा था। पर आज यह सब नहीं है। आज तो चारों ओर दाने-दाने को तरसने वाले दिखलाई पड़ते हैं। खादी ही उनकी पोषिका है, खादी ही उनकी अन्नपूर्णा देवी है।

गाँधीवाद प्रेम और समानता की नींव पर खड़ा हुआ है। समाज में किसी प्रकार का भेद-भाव वह नहीं चाहता। वह चाहता है कि स्त्रियों को उठाकर पुरुषों के बराबर पर लाया जाय, राष्ट्र को टुकड़े-टुकड़े करने वाले हिन्दू-

मुस्लिम धार्मिक द्वेषों का अन्त किया जाय और हिन्दू-धर्म को अस्पृश्यता के सामाजिक कलंक से मुक्त किया जाय।

गाँधीवाद में धर्म और राजनीति का सुन्दर समन्वय है। साधारणतः राजनीति धर्म से पृथक्, पृथक् ही नहीं, विरुद्ध समझी जाती है। राजनीतिज्ञ लोग प्रायः धर्म की गहराई में नहीं जाते, क्योंकि राजनीतिज्ञों के सामने राजनैतिक आधिपत्य और निर्धन तथा निर्बल मनुष्यों का आर्थिक शोषण आदि जो लक्ष्य रहते हैं वे धार्मिक लक्ष्यों से इतने भिन्न हैं कि वे लोग उनका चिन्तन ही नहीं कर सकते। पर गांधीजी का जीवन तो धर्म की दृढ़ भित्ति पर खड़ा हुआ था। उनकी धार्मिक भावना ही ने उन्हें राजनीति की ओर प्रेरित किया उन्होंने स्वयं लिखा है—

"जिसे सत्य की सर्वव्यापक विश्व-भावना को अपनी आँख से प्रत्यक्ष देखना हो उसे निम्नतम प्राणी को आत्मवत् प्रेम कर सकना चाहिए। और जिस व्यक्ति को यह महत्वाकांक्षा होगी वह जीवन के किसी भी क्षेत्र से अपने को पृथक् नहीं रख सकेगा। यही कारण है कि मेरी सत्य-भक्ति मुझे राजनीति के क्षेत्र में खींचलाई है, और मैं बिना तनिक भी संकोच के तथा पूर्ण नम्रता से कह सकता हूँ कि जो लोग यह कहते हैं कि धर्म का राजनीति से कुछ सम्बन्ध नहीं, वे नहीं जानते कि धर्म का अर्थ क्या है। राजनीति धर्म की सेविका है, धर्म-रहित राजनीति मृत्यु का जाल है, क्योंकि उससे आत्मा का हनन होता है।"

सारांश यह है कि गांधीवाद आदि से अन्त तक धर्म-

प्राण है। उसका साध्य सत्य है जिसकी साधना के समस्त मार्ग पुनीत, निर्मल एवं उच्च हैं। आज गांधीजी हमारे बीच नहीं है, यह हमारा दुर्भाग्य है। पर उनके सिद्धांत हमारी अमूल्य निधि हैं। वे सदैव इसमें दिव्य शक्ति का संचार करते रहेंगे। वे सदैव हमारा पथ प्रदर्शन करते रहेंगे। गांधीवाद का भविष्य बड़ा उज्ज्वल है। उसने सारे विश्व में एक क्रान्ति मचादी है। उसका प्रभाव विश्वव्यापी है। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि गान्धीवाद एक सुवर्ण युग का निर्माण करेगा जिसमें प्रेम समानता और सेवा का साम्राज्य होगा, जिसमें मानवता का कंकाल पुनः पुष्ट हो कर दिव्य प्रभा से भर जायगा, जिसमें अहिंसा का मंजु घोष घर-घर फैल जायगा।

भारतवर्ष की आर्थिक उन्नति में कलों का योग

(१) प्रस्तावना—भारतवर्ष की प्राचीन और अर्वाचीन आर्थिक दशा
(२) कलों द्वारा भारतीय आर्थिक दशा में सुधार
(३) स्वदेशी वस्तुओं के प्रेम के अभाव के कारण भारतीय आर्थिक उन्नति में कमी
(४) स्वदेशी वस्तुओं को सरकार का संरक्षण प्राप्त न होने का भारतीय आर्थिक दशा पर प्रभाव
(५) कलों के प्रचार से घरेलू उद्योग-धन्धों पर कुठाराघात
(६) उपसंहार—सारांश

भारतवर्ष का अतीत अत्यन्त उज्ज्वल है। क्या लौकिक, क्या पारलौकिक, दोनों क्षेत्रों में हमारा देश उन्नति के शिखर

पर आरूढ़ था। धन धान्य की प्रचुरता के कारण यह सोने की चिड़िया कहलाता था और इसमें दूध-घी की नदियाँ बहती थीं। फ्रांसीसी यात्री वर्नियर ने प्राचीन भारत की समृद्धि के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—"यह हिन्दुस्तान एक ऐसा अथाह गड्ढा है जिसमें संसार का अधिकांश सोना और चाँदी चारों ओर से अनेक मार्गों से आ-आकर इकट्ठा होता है और जिससे बाहर निकलने का उसे एक भी रास्ता नहीं मिलता।" इससे प्राचीन भारत की आर्थिक स्थिति का, प्राचीन भारत की समृद्धि का, प्राचीन भारत के वैभव का, पता चलता है। निस्संदेह प्राचीन भारत संसार में सब से अधिक धनाढ्य था। यहाँ बहुत से उद्योग-धन्धे प्रचलित थे जिनके द्वारा विदेशों का धन इस देश में खिंचा चला आता था। एक वह समय था और एक यह समय है जब यहाँ से उद्योग धन्धों की कमी के कारण देश का अधिकांश धन विदेशों को चला जाता है। एक वह समय था जब इस देश में इतना बारीक कपड़ा हाथ से बनता था कि उसका थान का थान अँगूठी में होकर निकल सकता था। एक वह समय था जब हमारी सभी आवश्यक वस्तुएँ इसी देश में तैयार हो जाती थीं, हमें कभी किसी वस्तु के लिए विदेशों का मुँह नहीं ताकना पड़ता था। प्रत्युत् अन्य देश हमारा ही मुँह ताकते थे। पर आज तो महान अन्तर देखा जाता है आज तो हमारे अनेक भाई दाने-दाने को तरसते हैं। यद्यपि विज्ञान की उन्नति से हमारे देश में कलों का प्रचार हो गया है और प्रायः सभी क्षेत्रों में उनका प्रसार बढ़ता जा रहा है, तथापि देश की आर्थिक स्थिति पहले जैसी नहीं हो पाई है। हाँ, उसमें कुछ सुधार अवश्य हुआ है।

जब तक भारतवर्ष में मशीनों का प्रचार नहीं हुआ था और यहाँ के निवासी घरेलू उद्योग-धन्धों को भूले हुए थे तब तक हमारी प्रायः सभी आवश्यकताओं की पूर्ति विदेशी वस्तुओं द्वारा होती थी। देश की आर्थिक दशा बहुत बिगड़ गई थी। प्रतिवर्ष देश के करोड़ों रुपये विदेशों में चले जाते थे। जब से कलों का प्रचार हुआ है तब से भारतवर्ष की आर्थिक दशा में सुधार होना आरम्भ हो गया है। देश का अधिक रुपया देश में ही रहने लगा है। कलों द्वारा धीरे-धीरे हमारी सभी आवश्यक वस्तुओं के निर्माण का प्रबन्ध होता जा रहा है। जिस दिन हमारा देश अपनी खपत की वस्तुओं के लिए विदेशों का दरवाज़ा न खटखटायगा, उस दिन भारत की लक्ष्मी पुनः भारत को लौट आयँगी, उस दिन पुनः देश धन-धान्य सम्पन्न हो जायगा।

कलों से भारतवर्ष की जो आर्थिक उन्नति हुई है यह और भी कहीं अधिक होती, यदि यहाँ के निवासी स्वदेशी वस्तुओं के प्रेमी होते। हममें से अधिकांश स्वदेशी वस्तुओं के स्थान पर विदेशी वस्तुओं को अपनाते हैं, विदेशी वस्तुओं का खरीदना अधिक पसन्द करते हैं। क्यों? कारण या तो यह होता है कि स्वदेश निर्मित वस्तु विदेश निर्मित वस्तु की अपेक्षा अधिक मूल्यवान होती है अथवा देखने में कम सुन्दर लगती है, अथवा प्रयोग में कम उत्तम होती है। ऐसे लोग इन तुच्छ बातों का तो ध्यान रखते हैं पर राष्ट्र का हित नहीं देखते। वे यह नहीं सोचते कि विदेशी वस्तुओं को अपनाकर हम अपना रुपया, अपनी लक्ष्मी स्वयं देश के बाहर भेजते हैं, हम अपने आप अपने पैर

कुल्हाड़ी मारते हैं। यदि ऐसे लोग सद्बुद्धि से काम लें और सोचें कि स्वदेशी वस्तुओं को अपनाने से अपना धन अपने देश में ही रहेगा और हमारे भाइयों का पेट पलेगा, तो फिर देश का कल्याण न हो जाय, तो फिर देश की आर्थिक उन्नति में आशातीत वृद्धि न हो। भारतवर्ष के अतिरिक्त शायद ही कोई अन्य देश ऐसा हो जहाँ के निवासी अपने थोड़े से स्वार्थ में अंधे होकर स्वदेश-निर्मित वस्तुओं का निरादर करें। यह हमारे लिए कितने दुःख और लज्जा की बात है। यह देखा जाता है कि एक इँगलैण्ड निवासी इँगलैण्ड की बनी हुई वस्तुएँ खरीदता है और एक जापान-निवासी जापान की बनी हुई। इसी मनोवृत्ति के कारण अँगरेजों और जापानियों ने अपने-अपने देश को समृद्ध बना लिया है। क्या हम भारतीयों को इन लोगों के उदाहरण से शिक्षा नहीं ग्रहण करनी चाहिए? क्या हम लोगों को इनका अनुकरण नहीं करना चाहिए।

भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति सुधारने में कलों से और भी अधिक सहायता प्राप्त होती, यदि हमारी सरकार आयात और निर्यात पर ऐसा कर लगाती जो हमारे देश के लिए हितकर होता। यदि हमारी सरकार स्वदेशी माल को संरक्षण प्रदान करे तो फिर कोई कारण नहीं कि यहाँ विदेशी माल की खपत हो, क्योंकि फिर विदेशी माल प्रतियोगिता में ठहर ही नहीं सकेगा। जब स्वदेशी माल की अपेक्षा विदेशी माल का मूल्य अधिक होगा तब फिर उसे कौन खरीदना चाहेगा? फलतः स्वदेशी माल की खपत में वृद्धि हो जायगी और इस प्रकार देश की लक्ष्मी

की रक्षा हो सकेगी। पर क्या विदेशी सरकार से यह आशा की जा सकती है ?

वर्तमान स्थिति में भी कलों से भारतवर्ष की आर्थिक उन्नति हो रही है और भविष्य में भी होगी, इसमें संदेह नहीं। परन्तु क्या यह आर्थिक उन्नति सार्वजनिक है ? क्या इससे देश के समस्त निवासियों को लाभ पहुँचा है ? क्या कलों ने धनवान और दरिद्र दोनों प्रकार के व्यक्तियों को सुख पहुँचाया है ? क्या दरिद्र भारतीयों की दशा किसी प्रकार भी कलों से सुधरी है ? कहने की आवश्यकता नहीं कि कलों ने पूँजीपतियों की ही हित-साधना की है, उन्हीं के कोश को भरा है। उन्होंने अपनी पूँजी की सहायता से बड़े-बड़े कारखाने खोलकर जनता के धन का अपहरण किया है, सार्वजनिक सम्पत्ति को लूटा है। बेचारे गरीबों की तो कलों ने रोटियाँ छीन ली हैं। उनके प्रचार से भारतवर्ष में दरिद्रों और बेकारों की संख्या में पर्याप्त अभिवृद्धि हुई है। कलों के प्रयोग से पूर्व गरीब मनुष्य कुछ-न-कुछ उद्योग करके अपना पेट पालते थे। कोई चरखा चलाकर अपनी जीविका उपार्जन करता था तो कोई कपड़ा बुनकर। कोई तेल-इत्र बनाकर अपने परिवार का खर्च चलाता था तो कोई खिलौने बनाकर। कोई कागज बनाकर अपनी रोटी की समस्या हल करता था तो कोई तरह तरह के रंग बनाकर। कोई गाड़ियों से बोझा ढोकर अपने परिवार का पालन-पोषण करता था तो कोई गुड़-खाँड़ बनाकर। पर आजकल कलों के कारण ये सब धन्धे छूट गए हैं। कलें एक मनुष्य की अपेक्षा कई गुना कार्य कर डालती हैं। अतः कल-निर्मित वस्तुएँ हाथ-निर्मित

वस्तुओं की अपेक्षा बहुत सस्ती पड़ती हैं फिर हाथ की बनी हुई वस्तुओं को कौन खरीदे ? यही कारण है कि गरीब लोगों को अपने घरेलू धन्धे छोड़ देने पड़े हैं और वे भूखे मर रहे हैं। यह देखा जाता है कि आजकल सड़कों पर जल छिड़कने के लिए म्यूनिसिपैलिटियाँ मोटर रखती हैं। एक मोटर सारे नगर की सड़कों पर जल छिड़कने के लिए पर्याप्त होती है। पहले जल छिड़कने का कार्य बैलगाड़ियाँ करती थीं और नगर के विस्तार के अनुसार बीस से पच्चीस तक मनुष्यों की जीविका चलती थी। इसी प्रकार मोटर लौरियों के अभाव में पहले अनेक इक्के-ताँगेवालों का पेट पलता था। आटा पीसनेवाली बिजली की चक्कियों के अभाव में अनेक विधवाओं तथा गरीब स्त्रियों को रोटियाँ मिलती थीं। गर्ज यह कि दरिद्र बनाने अथवा बेकार करने का उत्तरदायित्व बहुत कुछ कलों पर है। हम यह कह सकते हैं कि कलों ने गरीबों की जेबों से रुपये निकाल कर अमीरों की जेबों में भर दिये हैं, और इस प्रकार गरीबों का जीवन दुःखी बना दिया है। कुछ लोग कहेंगे कि कलों ने अनेक भूखों को कार्य देकर सुखी भी बनाया है। ठीक है, पर उन लोगों की अपेक्षा जिन्होंने कलों से जीविका प्राप्त की है उन लोगों की संख्या बहुत अधिक है जिनकी जीविका कलों ने छीन ली है।

सारांश यह है कि कलों के प्रचार से भारतवर्ष की आर्थिक उन्नति तो हुई है, देश का बहुत-सा रुपया बाहर जाने से रुक गया है, पर इस आर्थिक उन्नति का सम्बन्ध पूँजीपतियों से है, सर्व साधारण से नहीं। धनिकों को

कलों से लाभ पहुँचा है और गरीबों को हानि। धनिकों को कलों से जीवन-दान मिला है और गरीबों को मृत्यु-दण्ड। धनिकों को कलों से समृद्धि का शिखर प्राप्त है और गरीबों को आपत्ति का अंधकूप।

हिन्दी पर विदेशी भाषाओं का प्रभाव

(१) प्रस्तावना—जातियों के सम्पर्क से भाषाओं पर प्रभाव
(२) मुसलमानों के सम्पर्क का हिन्दी पर प्रभाव
(३) फारसी का हिन्दी-साहित्य के भाव-क्षेत्र पर प्रभाव—
(क) नाजुकता की प्रवृत्ति (ख) दूर की सूझ (ग) वीभत्सता का समावेश
(४) सूर और तुलसी का इस प्रभाव से मुक्त रहना
(५) फारसी का हिन्दी-भाषा पर प्रभाव
(६) फारसी का हिन्दी के छन्द-विधान पर प्रभाव
(७) फारसी का हिन्दी की रचना-शैली पर प्रभाव
(८) अँगरेजों के सम्पर्क का हिन्दी-गद्य पर प्रभाव—
(क) नाटक (ख) उपन्यास (ग) कहानी और (घ) समालोचना
(९) अँगरेजी का हिन्दी-पद्य पर प्रभाव
(१०) अँगरेजी का हिन्दी-भाषा पर प्रभाव
(११) उपसंहार—कुप्रभाव को रोकने की आवश्यकता

जब दो जातियों का सम्पर्क होता है तब उनमें पारस्परिक आदान-प्रदान होने लगता है। एक जाति की संस्कृति, सभ्यता, रहन-सहन, भाषा, साहित्य आदि का दूसरी जाति

की संस्कृति, सभ्यता, रहन-सहन, भाषा, साहित्य आदि पर प्रभाव पड़ता है। इतिहास इस कथन की पुष्टि करता है। मुसलमानों और अँग्रेजों के संसर्ग से हिन्दुओं पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। मुसलमानों से जहाँ हमने पायजामा पहिनना तथा आदावअर्ज करना सीखा और पर्दे की कुप्रथा को ग्रहण किया है वहाँ उनकी भाषा फारसी और उसके साहित्य से भी बहुत कुछ लिया है। अँग्रेजों से जहाँ हमने कोट-पैण्ट पहिनना और चाय पीना सीखा है वहाँ उनकी भाषा अँग्रेजी उसके साहित्य की बहुत-सी विशेषताओं को भी अपना लिया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मुसलमान और अँगरेज भी हमसे प्रभावित हुए हैं और हो रहे हैं। इस प्रकार प्रभाव-चक्र सदैव घूमता रहता है।

मुसलमानों के आक्रमण के समय मध्यदेश की भाषा शुद्ध हिन्दी थी उसमें जहाँ तहाँ प्राकृत एवं अपभ्रंश की भी छाप रहती थी। मुसलमानों के यहाँ आ बसने पर हिन्दी भाषा एवं साहित्य दोनों पर गहरा प्रभाव पड़ा। फारसी ने हिन्दी को खूब प्रभावित किया; क्या भाव, क्या भाषा, क्या रचना-शैली सभी फारसी रंग में रँग गए।

भाव-क्षेत्र में फारसी-प्रभाव ने तीन प्रधान रूप धारण किए। हिन्दी-काव्य के कोमलता के भाव ने नाजुकता का रूप धारण किया। कोमलता की पराकाष्ठा को नाजुकता कहते हैं। नाजुकता का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि हिन्दी के कवियों ने बुरी तरह उसका पल्ला पकड़ा। आज तक वही प्रभाव चला आ रहा है। जायसी, बिहारी-मैथिलीशरण गुप्त आदि अनेक कवियों ने बहुत सुन्दर ढंग

से इस भाव का अभिव्यंजन किया है । जायसी का एक नमूना देखिये—

मकरि क तार तेहि कर चीरू ।
सो पहिरै छिरि जाइ सरीरू ॥

इस उक्ति को कुछ लोग कदाचित् अस्वाभाविक कहेंगे क्योंकि मकड़ी के तार से बने हुए वस्त्र से शरीर कभी नहीं छिल सकता । ठीक है, परन्तु उन्हें यह न भूल जाना चाहिए कि कविता रस के उद्रेक के लिए अतिरंजना का सहारा लेती है । कवि के 'मुखचन्द्र' कहने पर भी तो उस पर यही दोष लगाया जा सकता है । मुख वस्तुतः चन्द्रमा कभी नहीं हो सकता । अतः स्पष्ट है कि कवि कुछ-न-कुछ अतिरंजना अवश्य करता है। काव्य का इसी में महत्व है । हाँ एक बात है, कवि की अतिरंजना मजाक की हद तक न पहुँच जाय । विहारी का भी इस भाव का एक नमूना लीजिए—

छाले परिबे के डरन सकै न हाथ छुवाइ ।
झिझकत हिये गुलाब के झवा झवावति पाइ ॥

वर्तमान कवि मैथिलीशरणजी गुप्त 'साकेत' में सीताजी का चित्रण करते हुए कहते हैं—

रुकने झुकने में ललित लंक लच जाती ।
पर अपनी छवि में छिपी आप बच जाती ॥

'लंक का लच जाना' नाजुकता की ओर संकेत करता है। सीताजी सरीखी सती साध्वी महिला को साधारण नायिका के रूप में चित्रित करना उचित नहीं है ।

फारसी-प्रभाव का दूसरा रूप दूर की सूझ है । फारसी साहित्य में दूर की सूझ बहुत पाई जाती है, जमीन और

आसमान के कुलाबे मिलाए जाते हैं। वियोगिनी की आहों से आकाश का नीला हो जाना, वियोगिनी के आँसुओं से समुद्र का खारा हो जाना, विरह की अग्नि से सुलगते हुए शरीर के धुँए से कौओं का काला हो जाना इत्यादि भावनाएँ फारसी साहित्य की हैं जिनको हिन्दी-वालों ने अपना लिया है। जायसी की नागमती भौंरे अथवा कौवे से अपने प्रियतम के पास समाचार भेजती हुई कहती है—

पिउ सों कहेहु सँदेसड़ा, हे भौंरा हे काग।
सो धनि विरहै जरि मुई तेहि के धुआँ हम लाग॥

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की उक्तियों में सच्चे काव्य के दर्शन नहीं हो सकते, इसमें अस्वाभाविकता ने मजाक का रूप धारण कर लिया है, काव्य को विकृत कर दिया है। बिहारी ने भी विरह-वर्णन में दूर की सूझ का बहुत प्रयोग किया है। जायसी में तो यह प्रवृत्ति अधिक नहीं पाई जाती। यत्र तत्र ही उन्होंने इस भद्दी रुचि का परिचय दिया है, पर बिहारी का तो विरह-वर्णन इससे ओत-प्रोत है। देखिए—

इत आवत चलि जात उत, चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे सी रहै, लगी उसासनि साथ॥

एक स्थान पर तो बिहारी माह के महीने में वियोगिनी की आहों से लू तक चला देते हैं।

फारसी का तीसरा प्रभाव वीभत्सता का समावेश है। फारसी-साहित्य में कोमल भावनाओं के साथ वीभत्सता का संसर्ग खटकता है। जैसे—शृङ्गार-रस के वर्णन में नायिका की नजर से नायक के शरीर में घाव हो जाना अथवा नायक के वियोग में नायिका का सूखकर हड्डियों की ठठरी

बन जाना । इस प्रकार की उक्ति से प्रेम की कोमल भावना पर एकदम कुठाराघात होता है । अच्छा हुआ वीभत्सता का प्रभाव हिन्दी के अधिक कवियों पर नहीं पड़ा । कुछ थोड़े से कवियों की रुचि ही इस कुरुचि-पूर्ण प्रवृत्ति की ओर गई । जायसी तो मुसलमान थे ही । अतः वे इससे बच ही न सके । उन्होंने इसको अपने काव्य में कई जगह स्थान दिया है । जैसे—

हाड़ भए सब किंगरि, नसें भईं सब ताँति ।

यहाँ पर हाड़ों का किंगरि हो जाना या नसों का ताँत हो जाना वीभत्सता का संचारक है ।

हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों—सूर और तुलसी—पर फारसी की उक्त प्रवृत्तियों का कुछ भी प्रभाव न पड़ा । उनकी रचनाओं में कहीं भी नाजुकता, दूर की सूझ अथवा वीभत्सता का नमूना देखने को नहीं मिलता । कहना न होगा कि सूर और तुलसी का हृदय हिन्दू-संस्कृति में पूर्णतः रँगा हुआ था । उन पर और कोई विदेशी रंग नहीं चढ़ सकता था । यही कारण है कि उनके काव्य की अन्तरात्मा शुद्ध भारतीय है । हाँ, काव्य के बाह्यरूप पर अवश्य विदेशी प्रभाव पड़ा था या यह कहना अधिक बुद्धि-संगत होगा कि उन्होंने जान-बूझकर अपनी कविता के बाहरी रूप में फारसी झलक दिखलाई, उसमें फारसी शब्दों को प्रयुक्त किया । ऐसा करना उस समय की दशा के अनुसार आवश्यक था । जिस समय सूर और तुलसी का आविर्भाव हुआ उस समय हिन्दी-भाषा बहुत कुछ फारसी साँचे में ढल चुकी थी । मुसलमानों के शासन के कारण फारसी मिश्रित हिंदी का जन-समुदाय में प्रचार था । शुद्ध हिंदी

को समझने या बोलनेवाले थोड़े थे। इन महात्माओं का उद्देश्य अपनी वाणी को प्रत्येक मनुष्य के हृदय तक पहुँचाना था। अतः ये फारसी मिश्रित बोलचाल का रूप लेकर आगे बढ़े।

जिस प्रकार फारसी का हिंदी-साहित्य के भाव-क्षेत्र पर प्रभाव पड़ा है उसी प्रकार भाषा पर भी उसका गहरा प्रभाव पड़ा है। हिन्दी के पद्य-साहित्य में तो भाषात्मक प्रभाव शब्दों तक ही परिमित रहा है पर गद्य-साहित्य में वह वाक्य-विन्यास में भी प्रविष्ट हो गया है। कुछ कवियों ने अपनी रचनाओं में फारसी के शब्दों का पर्याप्त प्रयोग किया है। पद्माकर की कविता का यह नमूना देखिए—

> गुलगुली गिलमैं, गलीचा है, गुजीजन है,
> चाँदनी है, चिक है, चिरागन की माला है।

इस प्रकार फ़ारसी-शब्दों के बाहुल्य से भाषा का स्वरूप विकृत हो गया है। गद्य में जहाँ तशरीफ, जिंदगी कौम, मकसद आदि शब्दों का प्रयोग होने लगा है वहाँ 'क्या पड़ी है आपको', 'नौकर से कहा उसने,' 'जाइए आप' सरीखे वाक्य भी देखने को मिलते हैं।

भाषा के अतिरिक्त फारसी के बह्रों का भी हिन्दी-ने सहारा लिया है। खुसरो, नजीर (अकबराबादी), इंशाअल्लाखाँ, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आदि ने फारसी के छन्दों में रचनाएँ की हैं। नजीर का कृष्णलीला का यह पद्य देखिए—

वाँ कृष्ण मदनमोहन ने जब सब ग्वालों से यह बात कही।
औ पापी से झठ गेंद डँडा उस कालीदह में फेंक दई॥
यह लीला है उस नन्दललन मनमोहन जसुमति-छैया की।
रख ध्यान सुनो दंडवत करो, जय बोलो कृष्ण कन्हैया की॥

भारतेन्दुजी से लेकर आज तक कविगण बह्रों का प्रयोग करते चले आ रहे हैं।

रचना-शैली में जो चुलबुलाहट, विनोद, व्यंग्य और वक्रता आजकल के कतिपय लेखकों में मिलती है उसका बहुत कुछ श्रेय फारसी को है। फारसी या उर्दू के संसर्ग के ही कारण हिन्दी में ये विशेषताएँ आई हैं। प्रायः देखा जाता है कि जो लेखक उर्दू या फारसी-साहित्य का ज्ञान रखते हैं उनकी हिंदी में ये गुण विद्यमान रहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि क्या भाव, क्या भाषा, क्या छंद, क्या रचना शैली, हिन्दी के सभी अंगों पर फारसी का गहरा प्रभाव पड़ा है।

हिंदी पर अँगरेजी का भी कम प्रभाव नहीं पड़ा है। अँगरेजों के प्रोत्साहन और सहायता से हिन्दी-गद्य का विकास हुआ है। उसने अँगरेजी-गद्य का अनुसरण करके उसी के अनुरूप शरीर-रचना की है।

पहले नाटक को लीजिए। गद्य के इस अंग पर अँगरेजी का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। हमारे यहाँ नाटकों में रस को प्रधानता दी गई थी। अँगरेजी नाटकों में अंतः

प्रकृति के विश्लेषण द्वारा चरित्र-चित्रण को प्रधानता दी गई है । आजकल के हिन्दी-नाटक अँगरेजी के नाटकों की इस प्रवृत्ति से प्रभावित देखे जाते हैं उनमें रस के साथ साथ मानव-प्रकृति को भी समान स्थान दिया जाने लगा है । बाबू जयशङ्कर 'प्रसाद' के नाटक इसके ज्वलंत उदाहरण हैं । इसके अतिरिक्त हमारे प्राचीन नाटक सुखान्त होते थे, दुःखान्त नहीं । सुख-दुःख के घात प्रतिघात अवश्य दिखाए जाते थे, परन्तु उन सबका अवसान आनन्द में हो जाया करता था । पर आजकल अँगरेजी नाटकों के अनुकरण पर दुःखान्त नाटक भी हिन्दी में लिखे जाने लगे हैं । इसके अतिरिक्त अब हिन्दी-नाटकों में नान्दी, मंगलाचरण, प्रस्तावना, गर्भाङ्क, विष्कंभक, प्रवेशक आदि भी नहीं होते । यह भी पाश्चात्य प्रभाव है । अँगरेजी साहित्य के अनुकरण पर ही अब हमारे यहाँ एकांकी नाटकों की रचना होने लगी है ।

उपन्यास-क्षेत्र में भी अँगरेजी का बहुत प्रभाव देखा जाता है । संस्कृत के 'कादम्बरी', 'दशकुमार-चरित' आदि पुराने कथात्मक गद्य-प्रबन्धों की भाँति के उपन्यासों का आजकल अभाव है । आजकल के उपन्यासों का ढाँचा बिल्कुल अँगरेजी ढंग का है । इसके अतिरिक्त वे भारतवर्ष के वास्तविक और स्वाभाविक जीवन को चित्रित नहीं करते वरन् अँगरेजी शिक्षित छोटे से समाज के ही जीवन का रूप हमें दिखाते हैं । यह अच्छा नहीं है । हिन्दी के उपन्यासों को अँगरेजी से प्रभावित होकर इस प्रकार भारतीय संस्कृति का गला नहीं घोंटना चाहिए । नाटक की भाँति 'वास्तविकतावाद' की लहर उपन्यास को भी स्पर्श कर रही है ।

कहानी नामक गद्य के अंग का विकास भी अँगरेजी कहानियों के आधार पर हुआ है, संस्कृत के 'हितोपदेश' अथवा 'राजतरंगिणी' के ढंग पर नहीं। आजकल की कहानियों में प्रायः सादे ढंग को कुछ घटनाएँ पाठक के सम्मुख रक्खी जाती हैं जैसा कि अँगरेजी कहानियों में होता है।

निबन्ध लिखना तो हमने बहुत कुछ अँगरेजी-साहित्य से ही सीखा है। अँगरेजी-साहित्य निबन्धों से भरा-पूरा है। हिन्दीवालों ने इससे बहुत लाभ उठाया है। अब धीरे-धीरे हमारे यहाँ भी अच्छे-अच्छे निबन्ध लिखे जाने लगे हैं। स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल एक प्रौढ़ निबन्ध-लेखक थे। उनके निबन्ध अँगरेजी के उत्कृष्ट निबन्धों से टक्कर लेने योग्य हैं।

समालोचना भी अँगरेजी की देन है। पहले हमारे यहाँ समालोचना का प्रचार न था। संस्कृत के आचार्य किसी पुस्तक की समालोचना न देकर लक्षण-ग्रन्थों में श्रेष्ठ काव्य-रचनाओं को रस, अलंकार, ध्वनि आदि के उदाहरणों के रूप में और निकृष्ट रचनाओं को दोष के उदाहरणों में दे दिया करते थे। कभी-कभी किसी कवि या लेखक की प्रशंसा एकाध श्लोक द्वारा भी कर दी जाती थी। पुस्तकाकार समालोचना का चलन हमारे यहाँ न था। अँगरेजी में इस प्रकार की आलोचना का रिवाज है। अतः अँगरेजी के सम्पर्क में आने पर उसकी इस विशेषता का हिन्दी पर खूब प्रभाव पड़ा। आजकल हिन्दी में भी पुस्तकाकार समालोचनाएँ बहुत देखी जाती हैं। यह

अँगरेजी का ही प्रसाद है कि आज हिन्दी में कवि या लेखक की अन्तःप्रकृति की छान-बीन करनेवाली समालोचनाओं का भी सूत्रपात हो गया है ।

अब पद्य को लीजिए । अँगरेजी कविता की प्रवृत्तियों से हमारी आधुनिक कविता पूर्णतः प्रभावित हुई है । आजकल अँगरेजी में प्रायः प्रगीतात्मक शैली में कविता हो रही है । हिन्दी में भी कविता के लिए वर्तमान काल में यही शैली अपनाई जा रही है । पं० सुमित्रानंदन पंत, पं० सूर्यकान्त निराला, श्रीमती महादेवी वर्मा प्रभृति कवि इसी शैली में रचना करते हैं । इसके अतिरिक्त अँगरेजी कविता अभिव्यंजनावाद के प्रवाह में प्रवाहित हो रही है । उसी की नकल करती हुई हिन्दी कविता भी अभिव्यंजनावादी हो रही है। 'कला कला ही के लिए' वाद को भी अँगरेजी-कविता से हिन्दी कविता ग्रहण कर रही है । छायावाद भी अँगरेजी कविता की देन है । हिन्दीवालों ने इसे बँगलावालों से और बँगलावालों ने इसे अँगरेजी कविता से लिया है । हिन्दी की प्राचीन कविता में 'रहस्यवाद' का मौलिक एवं स्वतंत्र रूप मिलता है, परन्तु आजकल का छायावाद उससे भिन्न है । अँगरेजी-कविता की भाँति हिन्दी-कविता भी छन्द-बन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न कर रही है और अब वह प्रगतिवाद के प्रवाह में बहने लगी है ।

हिन्दी भाषा पर भी अँगरेजी का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है । अँगरेजी के अगणित शब्द हिन्दी ने पचा लिए हैं । शब्दों ही तक न रहकर हिन्दी के लेखक तथा कवि अँगरेजी की लाक्षणिक पदावलियों का भी अक्षरशः अनु-

वाद करके अपनी भाषा में रखने लगे हैं। यह प्रवृत्ति अच्छी नहीं है। ऐसा करने से हमारी भाषा की स्वाभाविकता नष्ट हो जायगी। वास्तव में किसी भी भाषा के मुहावरे या लाक्षणिक पद किसी अन्य भाषा में अनुवादित नहीं हो सकते। 'Dreamy splendour' का अनुवाद 'स्वप्निल आभा' और 'Golden dream' का अनुवाद 'स्वर्ण स्वप्न' करके इन्हें हिन्दी में खपाने का प्रयत्न कभी सफल नहीं हो सकता। भाषा इन शब्दों को कभी नहीं पचा सकती।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी-भाषा और उसके साहित्य पर फारसी तथा अँगरेजी का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। इन दोनों भाषाओं के अतिरिक्त अरबी, तुर्की, पुर्तगीज, फ्रैंच आदि भाषाओं का भी उस पर प्रभाव पड़ा है। पर यह प्रभाव शब्दों की संख्या परिवर्द्धित करने तक ही सीमित रहा है। विदेशी प्रभाव के सम्बन्ध में इतना जान लेना चाहिए कि हम सदैव नीर-क्षीर विवेक से किसी विदेशी भाषा की अच्छाइयों को ग्रहण करने और बुराइयों को अपनी भाषा में प्रविष्ट न होने देने के लिए सतर्क रहें। तभी हमारी भाषा और साहित्य का कल्याण हो सकता है, तभी हमारा साहित्य संसार में उच्च स्थान पाने का अधिकारी हो सकता है।

विद्यार्थी जीवन और संयम

(१) प्रस्तावना—विद्यार्थी-जीवन का महत्व
(२) विद्यार्थी-जीवन में संयम की आवश्यकता और उसके भेद—

(क) शारीरिक संयम (ख) मानसिक संयम

(३) विद्यार्थी-जीवन में संयम-प्राप्ति के साधन—

(४) विद्यार्थी-जीवन में संयम की महत्ता—

(क) शारीरिक स्वास्थ्य की उपलब्धि (ख) मानसिक स्वास्थ्य की प्राप्ति (ग) ज्ञानोपार्जन में सहायता (घ) आत्म-संस्कार का श्रीगणेश

(५) उपसंहार—भारतीय विद्यार्थियों में असंयम

विद्यार्थी-जीवन वह साँचा है जिसमें नागरिक ढलते हैं। यह वह जीवन है जिसमें मानसिक और आत्मिक उत्थान का सूत्रपात होता है। यह वह जीवन है जिसमें सुधार एवं संस्कृति का श्रीगणेश होता है। यह वह जीवन है जिसमें भावी जीवन के लिए सम्बल एकत्रित किया जाता है। मानव-जीवन का अन्य कोई अंग इसकी समता नहीं कर सकता। इसका महत्व, इसका गौरव, कौन नहीं जानता? इसकी महत्ता के कारण ही प्राचीन काल में विद्यार्थियों का बड़ा सम्मान होता था। राजा-महाराजा तक उनको मस्तक नवाते थे और उन्हें आता हुआ देखकर उनके अभिनंदनार्थ सिंहासन छोड़ देते थे। धन-धान्य से विद्यार्थियों की सहायता की जाती थी। वर्तमान काल में भी विद्यार्थी-जीवन को आदर की दृष्टि से देखा जाता है, उसके महत्व को स्वीकार किया जाता है। आजकल धनिकों और सरकार की ओर से विद्यार्थियों के लिए छात्र-वृत्ति की व्यवस्था की जाती है. समाज में भी उनका आदर होता है और उन्हें समाज के प्राण समझा जाता है।

ऐसे महत्वपूर्ण विद्यार्थी-जीवन की सफलता के लिए संयम नितान्त आवश्यक है। संयम के अभाव में विद्यार्थी के लिए आगामी-जीवन का मार्ग परिष्कृत करना कठिन ही नहीं, असंभव है। उसके बिना मानसिक तथा आत्मिक उत्थान का स्वप्न स्वप्न ही रह जाता है। उसके बिना सच्ची विद्या नहीं प्राप्त की जा सकती। उसके बिना नागरिकता के गुणों की प्राप्ति टेढ़ी खीर है। संयम के दो अङ्ग हैं--शारीरिक संयम और मानसिक संयम। शारीरिक संयम से तात्पर्य खान-पान, आहार-विहार, निद्रा-जागरण सम्बन्धी नियंत्रण है। मानसिक संयम का अभिप्राय चित्तवृत्तियों, इच्छाओं और वासनाओं का निरोध है।

शारीरिक संयम की प्राप्ति के लिए विद्यार्थी का अपने शरीर पर अधिकार होना चाहिये, जिह्वा आदि इन्द्रियों पर अधिकार होना चाहिए। वह रसना का दास बनकर मिर्च-मसालेदार एवं चटपटे खाद्य पदार्थों का सेवन न करे और न मिष्टान्न तथा पक्वान्न का ही आश्रय ग्रहण करे, वरन् शीघ्र पचनेवाला पुष्टिकर और सादा भोजन करे। मस्तिष्क की शक्ति और रुधिर की समुचित वृद्धि के लिए रोटी, दाल, भात, शाक, फल और दुग्ध से बढ़कर लाभदायक अन्य भोजन नहीं है। शाक पत्तोदार हो तो अत्युत्तम है। खटाई, लाल मिर्च और मसालों का जहाँ तक हो सके कम प्रयोग किया जाय। शराब, अफीम, भाँग चाय आदि मादक वस्तुओं से सर्वदा बचा जाय। सारांश यह है कि स्वाद के चक्कर में पड़कर उत्तेजक पदार्थों का सेवन न किया जाय, प्रत्युत् सात्विक

भोजन किया जाय जिससे शरीर में उत्तेजना उत्पन्न न हो। इसके अतिरिक्त विद्यार्थी को अल्पाहारी भी होना चाहिए। जिह्वा के संयम का एक दूसरा पहलू भी है, जिसका तात्पर्य वाचनिक संयम है। विद्यार्थी को चाहिए कि वह मिष्टभाषी हो, अध्यापकों के प्रति विनम्र तथा सम्मान-सूचक वाणी का प्रयोग करे और किसी को अपशब्द न कहे। जिह्वा के साथ-साथ विद्यार्थी का निद्रा पर भी आधिपत्य हो। उसकी निद्रा श्वान-निद्रा हो। उसमें इच्छानुसार जगने और सोने की शक्ति हो। वह कम सोने वाला हो तभी वह विद्योपार्जन में सफल हो सकेगा।

शारीरिक संयम के लिए समय का प्रतिपालन नितान्त आवश्यक है। समय के प्रतिपालन बिना जीवन नियमित नहीं बनाया जा सकता। जीवन के नियमित बिना शारीरिक संयम की प्राप्ति आकाश-कुसुम ही है। जो व्यक्ति कभी १० बजे भोजन करता है और कभी १२ बजे, कभी सायंकाल ५ बजे शौच को जाता है और कभी ७ बजे, कभी रात्रि को ६ बजे सो जाता है और कभी १२ बजे, कभी प्रातःकाल ४ बजे सोकर उठता है और कभी ७ बजे वह कैसे संयमी हो सकता है? अतः विद्यार्थी को समय के प्रतिपालन का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

अब मानसिक संयम को लीजिए। इसकी प्राप्ति के लिए एक साधन तो यह है कि विद्यार्थी अपने मस्तिष्क को सदैव किसी न किसी कार्य में संलग्न रक्खे; शून्य मस्तिष्क विकारों की ओर उन्मुख होता है। कहा भी

है—An idle mind is a devil's work-shop अर्थात् शून्य मस्तिष्क शैतान की कार्यशाला है। दूसरा साधन है सत्संग। सत्संग की महिमा अपार है। पारस पत्थर का सत्संग लोहे को भी स्वर्ण में परिवर्तित कर देता है सत्संग से वासनाओं का दमन होता है। तीसरा साधन है एकाग्रता। इससे चित्त को किसी एक ही स्थान पर स्थिर करने की शक्ति प्राप्त होती है। जो विद्यार्थी पुस्तकों के मनन द्वारा एकाग्रता के गुण को प्राप्त कर लेता है वह स्वतः ही मानसिक संयम की ओर अग्रसर होता है। पर जो विद्यार्थी अपने मन पर नियंत्रण नहीं रखता, जो विद्यार्थी अपने मन को नहीं रोक सकता वह विद्या नहीं प्राप्त कर सकता। जो कभी इच्छा होने पर सिनेमाहॉल जायगा, कभी मेले की सैर करने दौड़ेगा, कभी नाच देखने जायगा, कभी ताश, शतरंज आदि खेलों में भाग लेगा, कभी गप-शप उड़ायगा, कभी तमाशा देखने जायगा, वह क्या पढ़ेगा? कहने का तात्पर्य यह नहीं कि विद्यार्थियों को उक्त बातों से कोई सम्बन्ध ही नहीं रखना चाहिए, बल्कि यह है कि उन्हें इन बातों में अपना कम से कम समय लगाना चाहिए, जिससे विद्याध्ययन में बाधा न उपस्थित हो।

संयम की प्राप्ति से विद्यार्थियों को बहुत लाभ पहुँचेगा। उन्हें शारीरिक स्वास्थ्य उपलब्ध होगा, उनके शरीर में कोई रोग घर न कर सकेगा। प्रायः देखा जाता है कि उन्हीं मनुष्यों के शरीर रुग्ण होते हैं जो खान-पान, आहार-विहार और निद्रा-जागरण में असंयम रखते हैं अथवा समय का पालन करते हुए नियमित

जीवन नहीं व्यतीत करते । अतः जो विद्यार्थी शारीरिक
संयम का तिरस्कार करेगा वह सदैव रोगाक्रान्त रहेगा
और विद्योपार्जन करना उसके लिए टेढ़ी खीर हो जायगा।

'Sound mind in a sound body' के अनुसार शारीरिक स्वास्थ्य मानसिक स्वस्थता का उत्पादक होता है । जिसका शरीर नीरोग होगा उसका मस्तिष्क भी ठीक कार्य करेगा । अर्थात् शारीरिक संयम से मस्तिष्क का भी हित होता है । पर वस्तुतः मानसिक कल्याण की पूर्णता मानसिक संयम से ही संभव है । मानसिक संयम द्वारा विद्यार्थी अपने मन पर विजय प्राप्त कर सकेगा । फिर उसका मन बुरी बुरी बातों की ओर उन्मुख न होगा । फिर उसमें कुविचार उत्पन्न न होंगे । फिर उसका मस्तिष्क उत्थान की ओर अग्रसर होगा । फिर उसकी बुद्धि निर्मल हो जायगी ।

विद्यार्थी-जीवन में संयम से ज्ञानोपार्जन में भी सहायता मिलती है । जिस विद्यार्थी का स्वास्थ्य ठीक हो, जिस विद्यार्थी का मस्तिष्क भला-चंगा हो, वह क्या कारण है कि ज्ञानोपार्जन में सफल न हो ? संयमी विद्यार्थी के लिए विश्व में ज्ञानोपार्जन के अतिरिक्त अन्य कोई आकर्षण नहीं होता । वह योगी की भाँति विद्या-प्राप्ति के व्रत में व्रती होकर सांसारिक सम्बन्धों को ठुकरा देता है । वह भगवती वीणापाणि के प्रसादार्थ निद्रा का त्याग करके पुस्तकों की आराधना में संलग्न रहता है । उसका एक मात्र लक्ष्य होता है ज्ञान का संयम । उसके लिए वह जीवन के सुखों का उत्सर्ग कर देता है और जहाँ-जहाँ उसे ज्ञान

की किरणें मिलने की आशा होती है वहाँ-वहाँ वह आलस्य का परित्याग करके उसी प्रकार दौड़ता हुआ जाता है जिस प्रकार एक क्षुधित व्यक्ति भोजन-प्राप्ति के स्थान पर। जिस विद्यार्थी में संयम नहीं होता वह न तो सुचारु रूप से विद्या प्राप्त कर सकता है और न विद्या का ठीक ठीक उपयोग कर सकता है।

संयम से आत्म-संस्कार का भी श्रीगणेश होता है। जब शरीर और मन संयमित होगा तब आत्मा स्वतः उन्नता की ओर अग्रसर होगी। विद्यार्थी-जीवन में संयम का पालन करते रहने से आत्मा निरंतर शुद्ध होती चली जाती है। कोई विद्यार्थी प्रारम्भ में कैसा ही दुष्ट क्यों न हो, कैसा ही पतित्त क्यों न हो, कैसा ही दुराचारी क्यों न हो, संयम के प्रताप से सुधरे विना नहीं रह सकता। संयम ऐसा जादू डालता है कि उसकी आत्मा आपसे आप निर्मल होने लगती है। जिस प्रकार अग्नि की ताप से शुद्ध होकर स्वर्ण का रूप निखर आता है उसी प्रकार संयम से हृदय की कालिमा नष्ट होकर उसका भव्य स्वरूप झलकने लगता है। संयमी विद्यार्थी आत्मसंस्कार रूपी सम्बल से युक्त होकर जब गार्हस्थ्य-जीवन में प्रवेश करता है तब वह सर्वदा शान्तिमय रहता है और उसके हृदय को वास्तविक आनन्द की अनुभूति होती है। आगे चलकर जब उसकी यह जीवन-यात्रा समाप्त होती है तब वह स्वर्गीय जीवन-यात्रा में भी उसी सम्बल को अक्षय निधि के सदृश जीवन-साथी पाता है।

कितने खेद की बात है कि संयम के इतने महत्वपूर्ण होने पर भी भारतीय विद्यार्थी उसका आश्रय ग्रहण नहीं करते। जो संयम तिमिराच्छन्न हृदय में आलोक का प्रसार करता है, जो संयम शरीर और मन की रक्षा करके ज्ञानोपार्जन का मार्ग परिष्कृत करता है, हमारे विद्यार्थियों को आकृष्ट नहीं करता। न उनमें जिह्वा का संयम देखा जाता है और न क्षुधा का। न उनमें शरीर का संयम देखा जाता है और न मन का। कहना न होगा कि हमारे विद्यार्थी तो संयम के उल्लंघन में अपनी शान समझते हैं। जहाँ जापानी विद्यार्थी उसके पालन में अपना गौरव समझते हैं वहाँ हमारे विद्यार्थी उसके पालन में अपनी हेटी समझते हैं। स्कूल से छुट्टी होने पर सड़क पर जाते हुए जापानी विद्यार्थियों को देखिये। यहाँ की सी धक्का-मुक्की, हू-हुल्लड़ और गाली-गलौज का वहाँ नाम-निशान भी नहीं मिलेगा। यहाँ तो क्लास से एक मिनट के लिए भी अध्यापक बाहर चला जाता है तो क्लास में तूफान आ जाता है। छोटी-छोटी बातों पर बिगड़कर विद्यार्थी हड़ताल कर देते हैं और अपने अध्यापकों से टक्कर लेने में इन्हें तनिक भी हिचकिचाहट नहीं होती। आए दिन उनकी उच्छृङ्खलता की कहानियाँ समाचार-पत्रों में प्रायः देखने को मिलती है। अभी कुछ दिन हुए गणित के क्लिष्ट पर्चे से क्रुद्ध होकर लाहौर के परीक्षार्थी परीक्षा के समय परीक्षा-भवन को छोड़कर पंजाब-विश्वविद्यालय-भवन पर घिर आए और पत्थर बरसाकर खिड़कियों को तोड़-फोड़ डाला। क्या शिक्षित कहलानेवाले व्यक्तियों का यह कार्य किसी प्रकार भी उचित कहा जा सकता है? क्या यह कार्य सभ्यता

की किसी भी कोटि में आ सकता है ? क्या भारत को इन भावी आशाओं से देश का कल्याण हो सकेगा ?

वस्तुतः भारतीय विद्यार्थी असंयम की साक्षात् मूर्ति बने हुए हैं। नियन्त्रण की भावना उन्हें स्पर्श तक नहीं कर रही है। उनके तथा राष्ट्र के हित में यह वांछनीय है कि वे संयम की उपासना करें। संयम अमृत है, असंयम विष। संयम से उत्थान होता है असंयम से पतन। संयम से सुख मिलता है, असंयम से दुःख। संयम से ईश्वर की प्राप्ति होती है, असंयम से नरक की विभीषिकाओं को।

'स्वावलम्ब की एक झलक पर न्योछावर कुबेर का कोष'

(१) प्रस्तावना—स्वावलम्बन की महत्ता
(२) स्वावलम्बन से लाभ—
(क) उन्नति (ख) सुख, संतोष और शान्ति (ग) आत्म-संस्कार (घ) गौरव तथा यश
(३) स्वावलम्बन से देश तथा समाज का हित
(४) कतिपय स्वावलम्बी आत्माएँ
(५) उपसंहार—हमे स्वावलम्बी होना चाहिए।

सचमुच स्वावलम्बन वह अद्वितीय सम्पत्ति है जिसके समक्ष कुबेर का कोष भी तुच्छ है। स्वावलम्बन वह स्वर्गीय शक्ति है जिसके सम्मुख कठिनाइयों के पर्वत चूर-चूर हो जाते हैं। स्वावलम्बन वह दिव्य गुण है जिसके सामने सफलता-देवी हाथ जोड़े हुए खड़ी रहती है। जिसमें यह

दैवी गुण है वह जल में तूँबी के सदृश सब के ऊपर रहता है। शरीर-बल, परिवार-बल, प्रभुता-बल, धन-बल, विद्या-बल, प्रभृति जितने बल हैं वे स्वावलम्बन के बल के सामने श्रीहीन हो जाते हैं। रूस, इँगलैण्ड, अमरीका आदि देश जिनके भाग्य का सितारा आज सातवें आसमान पर चमक रहा है, जो आज मनुष्य जाति के सिरताज हो रहे हैं, स्वावलम्बन के कारण ही इतने ऊँचे उठे हैं। इनके अभ्युत्थान का रहस्य स्वावलम्बन ही है। भारतवर्ष की वर्तमान अधोगति का मूल कारण स्वावलम्बन का अभाव है। हम भारतीयों में अपने पैरों पर खड़े होने की भावना ही नहीं रह गई है। आजकल हम अकर्मण्य बनकर परमुखापेक्षी हो गए हैं।

स्वावलम्बन उन्नति का सच्चा रहस्य है, अभ्युदय की दृढ़ भित्ति है, उत्थान का मूलमन्त्र है, अभिवृद्धि की अद्वितीय कुंजी है। जो मनुष्य स्वयं अपने हाथों से अपना कार्य करता है वह अवश्य ऊँचा उठता है। जो मनुष्य अन्य किसी व्यक्ति की सहायता की अपेक्षा नहीं करता, वरन् एक मात्र अपनी शक्ति एवं बल पर निर्भर होकर कर्तव्य पथ पर आरूढ़ होता है उन्नति स्वयं परिचारिका बनकर उसका मार्ग परिष्कृत करती है। "God helps those who help them-selves" के अनुसार ईश्वर भी उन्हीं की सहायता करता है जो अपनी सहायता आप करते हैं, जो निःशंक होकर भव-सागर में जीवन-नौका अपनी आप खेते हैं। इसके विपरीत जो भाग्य का आश्रय ग्रहण करते हैं और स्वयं अपने हाथ-पैर नहीं हिलाते, वे ईश्वरीय सहायता से वंचित रहते हैं। ऐसे लोग कायर मन वाले तथा आलसी

होते हैं जैसा कि लक्ष्मणजी ने इन पंक्तियों में कहा है—

कादर मन कर एक अधारा ।
दैव दैव आलसी पुकारा ॥

ऐसे लोग अपनी दशा में कुछ भी सुधार नहीं कर सकते । उन्नति का स्वप्न देखना इनके लिए व्यर्थ है । नियति ने पहले ही से इनके लिए अधःपतन का गर्त तैयार कर दिया है । उन्नति तो स्वावलम्बी व्यक्ति के ही इशारे पर नाचती है । संसार में ऐसा कौनसा कार्य है जिसे वह न कर सके ? संसार में ऐसी कौन-सी वस्तु है जिसे वह उपलब्ध न कर सके ?

जब स्वावलम्बन उन्नति की योजना करता है तब उसके द्वारा सुख की योजना होना अवश्यम्भावी है । जहाँ उन्नति होगी वहाँ सुख अवश्य रहेगा । दोनों का घनिष्ट सम्बन्ध है । स्वावलम्बन के सहारे जब किसी कार्य में सफलता प्राप्त होती है तब हृदय की कली-कली खिल जाती है, हृदय उल्लास से परिपूर्ण हो जाता है । यद्यपि सफलता मात्र आनन्द का आविर्भाव करती है, तथापि स्वावलम्बन-जन्य सफलता से जो आनन्द उत्पन्न होता है वह पहले प्रकार के आनन्द से मात्रा में कहीं अधिक और विशेषता में कहीं भिन्न होता है । वह आनन्दानुभूति अनूठी होती है जो हृदय में उत्साह का संचार करती हुई आत्मनिर्भरता की चेतना का पोषण करती है, उसे उद्दीप्त करती है । दो विद्यार्थियों को देखिए जो गणित के एक ही प्रश्न को हल करने में संलग्न हैं । पहिला किसी अन्य विद्यार्थी की सहायता से उस प्रश्न के हल करने में सफल होता है ।

दूसरा अकेला ही उसके हल में संलग्न होता है और बार-बार असफल होने पर भी उत्साह-भंग न होकर उसे हल करके ही छोड़ता है। उन दोनों के आनन्द में स्पष्ट अन्तर दृष्टिगत होगा, इसमें सन्देह नहीं। स्वावलम्बी व्यक्ति को यदि कभी असफलता का भी सामना करना पड़ता है तो उसे दुःख नहीं होता, क्योंकि उसे इस बात का सन्तोष रहता है कि उसने शक्ति भर अपना कर्तव्य किया और प्रयत्न तथा परिश्रम से मुख नहीं मोड़ा। यही आत्म-संतोष उसे शान्ति प्रदान करता है और उसकी वृत्तियों को संकुचित नहीं होने देता। जो स्वावलम्बन की शरण लेता है उसे जीवन की आवश्यकताएँ भी नहीं सतातीं। उसे न भोजन की समस्या सताती है और न वस्त्रों की। जो अपने पैरों पर खड़ा होगा, जो अपने हाथों से खूब काम करेगा, वह क्या कभी भूखा या नंगा रह सकता है? दुःखी तो वही रहेगा जो दूसरों का मुँह ताकेगा, जो अपने हाथ-पैर नहीं हिलाएगा।

स्वावलम्बन आत्म-संस्कार, आत्मशुद्धि, की सीढ़ी है। स्वावलम्बन की साधना से आत्मा इस प्रकार निखर जाती है जिस प्रकार अग्नि के ताप से स्वर्ण। 'Work is worship' के अनुसार परिश्रम ईश्वर की उपासना है। कहने की आवश्यकता नहीं कि परिश्रम और स्वावलम्बन में पारस्परिक सम्बन्ध है। स्वावलम्बन के अभाव में परिश्रम का अस्तित्व संभव नहीं, और न परिश्रम के अभाव में स्वावलम्बन का अस्तित्व ही संभव है। अतः स्वावलम्बन भी ईश्वर की उपासना ठहरता है फिर इससे आत्मा का मैल क्यों न कटेगा? आत्म-निर्भरता से

आत्म-दमन, अध्यवसाय, दृढ़ता, धैर्य, सन्तोष आदि उत्कृष्ट गुणों की प्राप्ति होती है जिससे मनुष्य अपनी आत्मा का उत्तरोत्तर विकास करता हुआ अपना कल्याण करता है। इसके विरुद्ध अकर्मण्य बने रहकर दूसरों का मुँह ताकने से आत्मा निर्बल हो जाती है, क्योंकि ऐसा करने से आत्म-सम्मान नहीं रह जाता और अपने को तुच्छ समझने की भावना पैदा होती है।

स्वावलम्बी व्यक्ति को विश्व में गौरव मिलता है, संसार में उसकी प्रशंसा होती है। वह कठिन से कठिन कार्य सम्पादन करने में कृत-कार्य होता है। अतः दुनिया उसका लोहा मानती है। वह अपने बाहु-बल एवं कार्य-साधना से अनुपम उन्नति कर दिखलाता है। इससे जन-समाज पर बड़ा प्रभाव पड़ता है और उसका चारों ओर आदर होने लगता है। माता-पिता अपने बालकों को उसका अनुकरण करने की शिक्षा देते हैं। आजीवन तो वह प्रशंसा का पात्र रहता ही है, मृत्यु पश्चात् भी उसकी यश-चन्द्रिका विश्व में अपना निर्मल तथा सुशीतल प्रकाश छिटकाती रहती है।

यह नहीं कि स्वावलम्बन से मनुष्य अपना ही भला कर सकता हो, अपना ही हित-साधन कर सकता हो, वरन् वह देश और समाज की दशा भी सुधार सकता है, देश तथा समाज का मुख भी उज्ज्वल कर सकता है। पर जो मनुष्य अपना ही हित नहीं कर सकता वह समाज अथवा देश का हित क्या करेगा? प्रत्येक देश की उन्नति का श्रेय उस देश की स्वावलम्बी आत्माओं को रहा है

और सदैव रहेगा । ये आत्माएँ ही समाज की कुरीतियों का निराकरण करती हैं, धार्मिक अन्ध-विश्वासों का अन्त करती हैं, राष्ट्र की संरक्षा के साधन जुटाती हैं । बड़े-बड़े वैज्ञानिक कौन पैदा करता है ? बड़े-बड़े सुधारक कौन उत्पन्न करता है ? बड़े-बड़े विद्वानों को कौन जन्म देता है ? बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों का जनक कौन है ? स्वावलम्बन स्वावलम्बन, स्वावलम्बन । कहने की आवश्यकता नहीं कि इन्हीं के द्वारा समाज और देश उन्नत एवं समृद्धिशाली बनते हैं। रूस, अमरीका, इँगलैण्ड आदि देश इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं ।

विश्व का इतिहास स्वावलम्बी आत्माओं की गौरव-गाथाओं से जगमगा रहा है । नैपोलियन के नाम को कौन नहीं जानता ? कैसी निम्न स्थिति से ऊपर उठकर वह महान् विजयी हुआ ! यूनान में क्लिन्थिस नामक एक अत्यन्त गरीब विद्यार्थी मजदूरी करके अपना निर्वाह करता था और पाठशाला की फीस भरता था । किसी से सहायता लेना उसे स्वीकार नहीं था । वह एक माली के बगीचे में पानी खींचता था और एक बुढ़िया के घर आटा पीसता था । रैमजे मैकडानल्ड भी मजदूर से इँगलैण्ड का प्रधान मंत्री बन गया । हिटलर ने स्वावलम्बन के महामंत्र से अभिमंत्रित होकर बड़ी-बड़ी शक्तियों से लोहा लिया । हमारे देश में भी छत्रपति शिवाजी ने अपने ही पैरों पर खड़े होकर मुगल-सम्राट् औरङ्गजेब को नाक चने चिनवा दिए । महात्मा गांधी को देखिए । आत्म-निर्भरता के प्रबल प्रताप से उन्होंने विश्व को हिला दिया । स्वावलम्बन की शक्ति से अद्वितीय उन्नति करके उन्होंने सारे संसार को

चकित कर दिया है। अखिल विश्व की आँखें उसकी ओर लगी हुई हैं।

सारांश यह है कि स्वावलम्बन एक महत्वपूर्ण गुण है। वह बल, गौरव, समृद्धि, सुख, शान्ति, आत्मोत्थान आदि के भवन का प्रवेश-द्वार है। हम लोगों में इस दिव्य गुण का अभाव है। हम अपने आप अपने पैरों पर नहीं खड़े होते, हम अपने आप अपनी सहायता नहीं करते। हमें सदैव दूसरों की सहायता प्राप्त करने की आकांक्षा रहती है। हमारे विद्यार्थी-गण पुस्तकों के अध्ययन में स्वयं अपनी शक्तियों का उपयोग न करके इधर-उधर नोटों (notes) और सहायक पुस्तकों का आश्रय ग्रहण करते हैं। हमारे नवयुवकों में अपने हाथ-पैरों से जीविका उपार्जन करने की भावना नहीं होती। वे अपनी जीवन-यात्रा के लिए माता-पिता से सम्पत्ति की आशा रखते हैं। हमें अकर्मण्य और आलसी बने रहकर जीवन व्यतीत करना रुचता है। संसार के मध्य अपना मार्ग आप निकालने की प्रवृत्ति हम में नहीं है। हमारा न कोई व्यक्तित्व है और न कोई उपादेयता। हमारी वर्तमान दुर्गति इसी का परिणाम है। यही कारण है कि हम पराधीन हैं, हम दरिद्र हैं। न हममें बल है और न हममें शक्ति। क्या हमारे लिए यह उचित नहीं है कि हम अब भी चेतें और अकर्मण्यता तथा दैवाधीनता का परित्याग करके स्वावलम्बन का महामंत्र जपें, जिससे हमारा देश बल, विद्या और धन से सम्पन्न हो और हम अपनी उन्नति करके स्वतन्त्र वायुमण्डल में साँस लें?

अहिंसा का आदर्श और राष्ट्र की रक्षा

(१) प्रस्तावना—विश्व में हिंसा का ताण्डव नृत्य
(२) अहिंसा की महत्ता
(३) अहिंसा का आदर्श
(४) अहिंसा से आन्तरिक अशान्ति के समय राष्ट्र की रक्षा की संभावना
(५) अहिंसा से बाह्य आक्रमणों के समय राष्ट्र की रक्षा की संभावना
(६) उपसंहार—सारांश

आज विश्व में हिंसा का ताण्डव नृत्य हो रहा है। आज संसार में रण-चण्डी विकराल रूप धारण करके रक्त से सनी हुई जिह्वा चारों ओर लपलपा रही है। आज नर संहार बर्बरता की चरम-सीमा तक पहुँच गया है। आज महाकाल की ध्वंस-लीला हो रही है। आज दिगन्त-व्यापी समर प्रलय-कालीन दृश्य उपस्थित कर रहा है। आज नर-पिशाच मानव-जाति के भवन को रुधिर के प्रवाह में बहा रहे हैं। आज विश्व के कुरुक्षेत्र में असंख्य परिवारों का अस्तित्व मिट रहा है, असंख्य स्त्री-पुरुषों की जीवन लीला समाप्त हो रही है, अनेक देश पद-दलित हो रहे हैं, अनेक राष्ट्र मिट्टी में मिल रहे हैं। आज हिंसा का अखंड साम्राज्य है, आज हिंसा की दुंदुभी दिशा-विदिशाओं को प्रतिध्वनित कर रही है। इस समय अहिंसा की आवाज कौन सुनता है? उसकी शक्ति में किसे विश्वास है? आजकल तो उसका क्षीण स्वर नक्कार-खाने में तूती की आवाज हो रहा है।

पर इससे अहिंसा की महत्ता, अहिंसा का गौरव,

कम नहीं हो सकता। भले ही वर्तमान मानव-समाज उसकी उपासना न करे, भले ही खून के प्यासे नर-वेशी दानव उसको पैरों से ठुकरा दें, पर वह अपना शुभ्र आलोक सदैव विश्व में फैलाती रहेगी, वह अपना पवित्र संदेश जन-जन तक पहुँचाती रहेगी, वह मानव-जाति के उद्धार के लिए अपना कोमल कर सर्वदा आगे बढ़ाती रहेगी। 'अहिंसा परमो धर्मः' 'महाभारत' का यह सर्व विदित वाक्य है। वस्तुतः अहिंसा धर्म का सर्वोत्कृष्ट अंश है। संसार में आज तक कोई ऐसा धर्म नहीं चला है जिसने अहिंसा को अपने सिद्धान्तों में स्थान न दिया हो। क्या ईसाई-धर्म, क्या बौद्ध-धर्म, क्या जैन-धर्म, क्या वैदिक-धर्म सभी अहिंसा पर अत्यधिक जोर देते हैं; क्योंकि यह ईश्वर-प्राप्ति का सच्चा मार्ग है। ईश्वर ने सभी जीवधारियों को उत्पन्न किया है। हमें क्या अधिकार है कि अपने स्वार्थ-वश उन्हें कष्ट दें, उनकी हत्या करें? क्या हमारे इस कुकर्म से ईश्वर प्रसन्न होगा? सचमुच हिंसा करना सृष्टि-कर्ता परमात्मा को अप्रसन्न करना है। मनुष्यता की दृष्टि से इससे नीच कार्य और क्या हो सकता है कि हम निरीह, निर्दोष एवं शान्त प्राणियों का वध करें? हिंसा के तुल्य घोर पाप और क्या है? हमारी मनुष्यता इसी में है कि हम समस्त जीवधारियों के साथ प्रेम से हिल-मिलकर रहें और किसी को किसी प्रकार का कष्ट न दें। अहा! देखिए किसी ने कैसा अच्छा कहा है—

> विधि के बनाये जेते जीव हैं, जहाँ के तहाँ,
> खेलत फिरत तिन्हें खेलन फिरन देहु।

यह अहिंसा का स्थूल स्वरूप है। इसके अन्दर कर्म-

सम्बन्धी अहिंसा ही आती है। पर अहिंसा का आदर्श कर्म के अतिरिक्त मन और वचन की अहिंसा भी चाहता है। हमें आदर्श अहिंसावादी होने के लिए यही आवश्यक नहीं है कि हम अपने हाथ से किसी प्राणी को कष्ट न पहुँचावें, किसी जीवधारी के प्राण न लें. वरन यह भी आवश्यक है कि हमारे मन में किसी प्राणी के अहित की भावना न हो और हम किसी प्राणी के प्रति कटु शब्दों का प्रयोग न करें। यह देखा जाता है कि कभी कभी वाणी की हिंसा कर्म की हिंसा से कहीं आगे बढ़ जाती है, वाक्-बाण सामान्य बाण से अधिक कसक उत्पन्न कर देता है। फिर वाणी की अहिंसा के बिना अहिंसा की रक्षा कैसे हो सकती है ? विचार-सम्बन्धी अहिंसा के अभाव में भी अहिंसा का संरक्षण टेढ़ी खीर है। प्रत्येक कार्य की प्रेरणा मन से होती है। हमारा मन ही हमारे समस्त कार्यों का नियामक होता है। अतः जब तक मानसिक अहिंसा न होगी तब तक व्यावहारिक अहिंसा कहाँ से संभव होगी ? अहिंसा निष्क्रिय ही न हो, सक्रिय भी हो। यही नहीं कि हम हिंसा से केवल दूर रहें, बल्कि यह भी कि हम भलाई करते रहें। अहिंसा के प्रतीक महात्मा गांधी कहते हैं—"यदि मैं अपने विरोधी को मारूँ तो वह तो हिंसा है ही; परन्तु सच्चा अहिंसक बनने के लिए मुझे उससे प्रेम करना चाहिए और वह मुझे मारे तो भी उसके लिए प्रार्थना करनी चाहिए।" आदर्श अहिंसा की यही कसौटी है।

इस प्रकार की अहिंसा व्यक्तिगत जीवन के लिए वांछनीय है और आत्मोद्धार की साधना में संलग्न महान्

आत्माओं के लिए संभव भी है। किन्तु क्या राष्ट्र के जीवन में भी इसकी कोई उपयोगिता है ? क्या राष्ट्र की रक्षा इसके द्वारा संभव है ? गांधीवादियों का उत्तर है, "हाँ"। उनकी धारणा है कि क्या आन्तरिक अशान्ति, क्या वाह्य आक्रमण दोनों के समय अहिंसा ही किसी राष्ट्र की सच्ची रक्षा कर सकती है। प्रायः साम्प्रदायिक तथा औद्योगिक झगड़े और लूट-खसोट ही राष्ट्र में आन्तरिक अशान्ति फैला सकते हैं। सच्चे अहिंसात्मक शासन में प्रथम तो लूट-मार और पारस्परिक झगड़ों की संभावना ही नहीं, पर यदि थोड़ी देर के लिए इनका अस्तित्व मान भी लिया जाय तो अहिंसात्मक कार्य-क्रम द्वारा इनका शीघ्र अन्त हो जायगा। हमें लूट-मार रोकने के लिए पुलिस की व्यवस्था करनी होगी। किन्तु वह पुलिस वर्तमान पुलिस से सर्वथा भिन्न होगी। उसे पुलिस न कहकर सेवा-समिति कहें तो उचित होगा। वह जनता की सेवा करेगी, आजकल की भाँति जनता पर शासन नहीं। उसका कार्य सुधार करना होगा, आजकल की भाँति दंड प्रदान करना नहीं। वह जनता की सहायता तथा सहयोग से लुटेरों और डाकुओं का शीघ्र पता लगा सकेगी। फिर अहिंसात्मक कार्य-प्रणाली द्वारा उनको सद्व्यवसाय में संलग्न किया जायगा। साम्प्रदायिक झगड़ों का अन्त करने के लिए आदर्श अहिंसावादियों की सहायता ली जायगी। वे गुण्डों के सम्पर्क में आकर अपने आचरण तथा निःस्वार्थ सेवा से उन्हें सभ्य नागरिक बना सकेंगे। इसी प्रकार पारस्परिक सहानुभूति एवं मित्र-भाव उत्पन्न करके पूँजीपतियों और श्रमजीवियों के औद्योगिक झगड़ों का निपटारा किया जायगा।

पर क्या उक्त साधनों से आन्तरिक अशान्ति दूर हो जायगी ? क्या उक्त साधन शान्ति स्थापना में सफलता प्राप्त कर सकेंगे ? हाँ, यदि संसार ऊँचे धरातल पर पहुँच जाय और अधिकांश मनुष्य अहिंसा के उपासक बन जाँय तो हम अहिंसा द्वारा अशान्ति के निराकरण की आशा कर सकते हैं, क्योंकि उस दशा में साम्प्रदायिक तथा औद्योगिक झगड़े स्वयं मिट जायँगे। किन्तु वर्तमान हिंसावादी मानव-समाज में इस प्रकार की आशा दुराशा ही है। भले और बुरे तत्वों से प्रत्येक राष्ट्र का निर्माण होता है। बुरे तत्वों का दमन भय बिना नहीं हो सकता और अहिंसा के मार्ग में भय का कोई स्थान नहीं है, अतः अहिंसात्मक शासन में बुरे तत्वों का विरोध न होने से आन्तरिक अशांति का बहिष्कार कठिन ही नहीं, वरन् असंभव होगा।

अब बाह्य आक्रमणों से राष्ट्र की रक्षा की बात लीजिए। गांधीवादी महानुभाव शत्रु के आक्रमणों के उपचार के लिए भी अहिंसा की शरण लेने के पक्ष में हैं। उनके अनुसार युद्ध-काल में भी मानव-समाज के कल्याण का एक मात्र उपाय अहिंसा ही है। आक्रमणकारी शत्रु की अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित सेना के समक्ष लोहा लेने के लिए अहिंसा के अमोघ-शस्त्र से सुसज्जित सेना होनी चाहिए जो युद्ध की अभिनय-स्थली पर शत्रु की तलवार के सामने अपना सीना खोल दे, जिसके वीर बन्दूकों और मशीनगनों की बौछारों के सामने अटल खड़े रहें और अहिंसात्मक प्रतिरोध करते रहें। इस प्रकार के सत्याग्रह से बहुत संभव है कि निर्दोष और निहत्थे व्यक्तियों की हत्या देखकर

आक्रमणकारी शत्रु की मूलभूत मानव-भावना जाग्रत हो जाय और वह आक्रमण से निरस्त हो जाय, बहुत संभव है, कि बलिदान की दिव्य शक्ति के सन्मुख हिंसा की दानवी-शक्ति फीकी पड़ जाय और धर्म अधर्म का गला घोंटने में समर्थ हो। यदि ऐसा न भी हो और शत्रु विजयी होकर राष्ट्र का स्वामी बन बैठे तो, अहिंसावादियों का कथन है कि, जनता को उसके विरुद्ध असहयोग-आन्दोलन करना होगा। इसमें चाहे कितना ही कष्ट क्यों न उठाना पड़े, चाहे कितनों को ही फांसी पर लटकना पड़े, पर अन्त में इसके द्वारा शत्रु की पराजय अवश्यम्भावी है। जब तक शत्रु को जनता स्वीकार न करेगी तब तक वह उसे हिंसा के आधार पर किस प्रकार गुलाम बना सकेगा ? बन्दूकें और तलवारें राष्ट्र की आत्मा को नष्ट नहीं कर सकतीं। किसी राष्ट्र को कुचलकर थोड़े से समय के लिए भले ही गुलाम बना लिया जाय, किन्तु स्थायी रूप से उसे अनुशासित नहीं किया जा सकता स्वतन्त्रता की जीवित भावना पुनः सशक्त होकर उपयुक्त अवसर मिलने पर प्रज्ज्वलित हो उठेगी और अवरोधात्मक शक्तियों को चूर-चूर कर देगी।

हां, यह ठीक है पर इस प्रकार राष्ट्र की रक्षा होने में चिरकाल लगेगा और यदि आक्रमणकारी बर्बरता की मूर्ति हुआ तो राष्ट्र को अपनी स्वाधीनता से हाथ धोना ही पड़ेगा, चाहे उसकी रक्षा के लिए कितने ही अहिंसावादी माई के लाल अपने प्राण न्यौछावर क्यों न कर दें। ऐसी दशा में हिंसा-मार्ग का अवलम्बन वांछनीय है। आत्म-रक्षा के लिए यह कहीं भी वर्जित नहीं, अत्याचार के दमन

के लिए इसका कहीं भी निषेध नहीं। शास्त्र भी ऐसी अवस्था में इसका समर्थन करते हैं। पर प्रश्न उठ सकता है कि क्या हिंसा बर्बरता के आक्रमण को रोक सकती है ? क्या पोलैण्ड, फ्रांस, बेलजियम, हालैण्ड, नार्वे आदि राष्ट्र हिंसा का आश्रय-ग्रहण करने पर भी अपनी रक्षा कर सके ? यदि आक्रमणकारी अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली हुआ तो हिंसा से भी स्वाधीनता की रक्षा नहीं हो सकेगी। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि हिंसा भी अहिंसा के समान ही सर्वदा राष्ट्र-रक्षा के अनुपयुक्त होगी। अहिंसा के पुजारी शक्तिशाली राष्ट्र की स्वाधीनता तो उससे कम शक्तिवाले शत्रु के हाथ भी छिन सकती है, परन्तु हिंसावादी राष्ट्र के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता।

सारांश यह है कि अहिंसा धीमी प्रगति का पौधा है और हिंसा द्रुत प्रगति का। अहिंसा से राष्ट्र की रक्षा हो तो सकती है, किन्तु इस कार्य के सम्पादन के लिए बहुत समय और धैर्य की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति का अहिंसा में दृढ़ विश्वास भी अपेक्षित है। अहिंसा का मार्ग एक नवीन मार्ग है, एक नया प्रयोग है। भविष्य ही इसकी सफलता का निर्णायक होगा। हिंसा का मार्ग पुराना है। अतीत काल से इसके द्वारा राष्ट्र अपनी रक्षा करते आए हैं। हां, इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि यह मार्ग मनुष्यत्व से परे है। इससे हिंसा की वृद्धि होती है, प्रतिहिंसा की भावना जाग्रत होती है और बड़े-बड़े अनर्थ होते हैं। अनेक घर-बार उजड़ जाते हैं, अनेक स्त्रियां विधवा हो जाती हैं, अनेक बालक

अभिभावक-विहीन हो जाते हैं, अनेक निरीह व्यक्ति मारे जाते हैं, अनेक घायल हो जाते हैं। ऐसी दशा में क्या अहिंसा के प्रतीक महात्मा गांधी के पथप्रदर्शन में भारतीय राष्ट्र को नवीन ज्योति मिलेगी और वह उसके सहारे स्वरक्षा का मार्ग खोज निकालेगा ? यदि यह संभव हो गया तो विश्व-शांति का नया मार्ग निकल आवेगा जो विश्व-इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात करेगा।

साहित्य में आदर्शवाद और यथार्थवाद

(१) प्रस्तावना—आदर्शवाद और यथार्थवाद का अर्थ
(२) साहित्य और उसका उद्देश्य
(३) साहित्य के उद्देश्य की आदर्शवाद द्वारा पूर्ति
(४) प्राचीन भारतीय साहित्य का पूर्णतः आदर्शवादी होना
(५) अर्वाचीन भारतीय साहित्य का विदेशी प्रभाव के फल-स्वरूप यथार्थ-वाद की ओर झुकाव
(६) उपसंहार—सारांश

इधर कुछ समय से साहित्य-क्षेत्र में एक विवाद चल पड़ा है। कुछ साहित्यिकों की धारणा है कि साहित्य आदर्शवादी होना चाहिए और कुछ चाहते हैं कि वह यथार्थवादी हो। आदर्शवादियों का कथन है कि साहित्य में जीवन और जगत में जो कुछ अच्छा है उसी को स्थान मिलना चाहिए, साहित्य-निर्माता को जीवन के कलुषित अंगों का, समाज के गर्हित रूप का, चित्रण नहीं करना चाहिए।

यदि वह ऐसा करे भी तो अंत में उसे सत् द्वारा असत् का दमन, सत् की असत् पर विजय दिखलानी चाहिए जिससे जगत में नीति और मर्यादा का अस्तित्व बना रहे। यथार्थवादियों का कहना है कि जीवन और जगत का वास्तविक स्वरूप ही अंकित होना चाहिए। साहित्यकार का कर्तव्य है कि वह अपनी कृति में जीवन का वही सामान्य रूप चित्रित करे जो संसार में देखा जाता है, एक काल्पनिक और जगत से परे रूप खड़ा करके मानव समाज को जीवन की वास्तविकताओं से पृथक् न करे। यह देखा जाता है कि सांसारिक जीवन में निराशा, कष्ट एवं पाप का साम्राज्य रहता है। फिर साहित्यकार क्यों उसमें आशा, सुख तथा पवित्रता का संचार करे ?

पूर्व इसके कि आदर्शवाद और यथार्थवाद के प्रश्न पर विचार किया जाय हमें साहित्य और उसके उद्देश्य को समझ लेना चाहिए। साहित्य जीवन की आलोचना है। उसमें जीवन का उत्थान-पतन, जीवन की अच्छाइयाँ-बुराइयाँ प्रदर्शित करके जीवन-निर्वाह के सिद्धांत निर्धारित किए जाते हैं जिससे जन-समाज का पथ-प्रदर्शन हो सके। पर कुछ लोग साहित्य को जीवन का दर्पण मानते हैं। उनके अनुसार दर्पण की भाँति साहित्य भी जीवन के सामान्य और यथार्थ स्वरूप को ही हमारे सम्मुख प्रस्तुत करे। उसमें समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों का जीवन अपने असली रूप में देखा जाय। पर इस प्रकार के साहित्य सृजन से क्या लाभ ? यदि साहित्य का जीवन से सम्बन्ध है तो फिर जीवन-निर्वाह के प्रश्न से भी उसका सम्बन्ध होना चाहिए। यदि साहित्य जीवन को लेकर चलता है तो उसे

जीवन के सिद्धांतों को भी लेकर चलना चाहिए, अन्यथा वह 'सत्यं शिवं सुन्दरम्, नहीं हो सकेगा। क्या ऐसा साहित्य सत्य हो सकता है जो जीवन के पापमय स्वरूप का चित्रण करे? क्या ऐसा साहित्य शिव हो सकता है जो कलुषित और नीति-रहित जीवन का प्रतिपादन करे? क्या ऐसा साहित्य सुन्दर हो सकता है जो हृदय तथा मन के पवित्र भावों तथा विचारों से मुख मोड़ ले? इसमें सन्देह नहीं कि जीवन के दो पक्ष हैं—उत्कृष्ट पक्ष एवं निकृष्ट पक्ष। जीवन में आशा और निराशा, सुख और दुःख, पाप और पुण्य दोनों का स्थान है और जीवन का पूर्ण रूप देखने के लिए साहित्य में इन दोनों को ही स्थान मिलना चाहिए, परन्तु लोक-कल्याण के लिए यह नितांत आवश्यक है कि साहित्य-निर्माता पहले की दूसरे पर विजय दिखलाए। यह ठीक है कि संसार में साधारणतः ऐसा नहीं देखा जाता। हम देखते हैं कि प्रायः पापी को जीवन में सफलता मिलती है और पुण्यात्मा को असफलता, दुष्ट मौज उड़ाते हैं और सज्जनों पर दुःख के पहाड़ टूटते हैं, धूर्त समृद्धि के शिखिर पर चढ़ जाते हैं और सदाचारी योग्यता होते हुए भी अवनति के गर्त मे पड़े रहते हैं। किन्तु यह शाश्वत और पूर्ण सत्य नहीं है। साहित्य में तो शाश्वत और पूर्ण सत्य की ही रक्षा होनी चाहिए। इसी में विश्व का कल्याण है।

अतः साहित्य सदैव आदर्श की ओर झुके। उसमें नीति और मर्यादा का बोल बाला हो। उसमें मानव-जीवन का आदर्शमय लोकोपयोगी भव्य रूप खड़ा किया जाय। उसमें आत्मा को उत्तरोत्तर उच्चता की ओर अग्रसर

करने के साधन जुटाए जायँ। उसमें अनुकरणीय सिद्धान्तों की उद्भावना की जाय। उसमें आचार की गंगा बहाई जाय। परन्तु यह सब किया जाय समाज के कलुषित रूप के साथ द्वन्द्व द्वारा। तभी सर्व-साधारण पर पर्याप्त प्रभाव डाला जा सकता है। तभी सर्व-साधारण के लिये मंगल की पीयूषधारा प्रवाहित की जा सकती है। पवित्रता की आलोचना करती है मलिनता। नीति की आलोचना करती है अनीति। पुण्य का आलोचक है पाप। सदाचार का आलोचक है दुराचार। दूसरे बिना पहले की महत्ता सम्यक् रूप से प्रतिपादित नहीं की जा सकती। अतः लोकोपयोगी साहित्य-निर्माता सदैव के इन दो रूपों की विवेचना करता है। वह 'रामत्व' और 'रावणत्व' का पारस्परिक द्वन्द्व दिखलाता हुआ 'रामत्व' का झंडा ऊँचा उठाता है और जन-समाज के हृदय का उसके साथ सामंजस्य स्थापित करता है। इस प्रकार वह अपना उद्धार तो करता ही है पर साथ में समाज का भी उद्धार करता है। जिस कार्य के सम्पादन करने में सहस्रों उपदेशक कृतकार्य नहीं हो सकते उसे वह अकेला ही पूरा कर देता है।

हमारे पूर्वज इसी प्रकार के साहित्य-निर्माता थे। वे सर्वदा आदर्शवादी साहित्य का सृजन करते थे। सृष्टि में जो कुछ हो रहा है वही उनकी रचनाओं में स्थान नहीं पाता था, बल्कि कैसी परिस्थित में क्या होना चाहिये इस बात की ओर उनका विशेष ध्यान रहता था। उनकी कृतियाँ इसी जगत की होती हुई भी स्वर्ग की ओर संकेत करती थीं। उनकी वाणी इस संसार से सम्बन्ध रखती हुई भी स्वर्गीय गान गाती थी। साहित्य ही क्या हमारे यहाँ की

प्रत्येक कला आदर्शवाद की स्वर्गीय दुनिया में विचरण करती रही है। प्राचीनता के पृष्ठ-पोषक गुप्तजी ने ठीक ही कहा है—

हो रहा है जो जहाँ, सो हो रहा,
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा,
किन्तु होना चाहिये कब क्या कहाँ,
व्यक्त करती हैं कला ही यह यहाँ,

गोस्वामी तुलसीदास प्रणीत 'रामचरितमानस' को देखिए। उसमें मानव-जीवन का सर्वोत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है। उसमें कला का नीति और मर्यादा के साथ सुन्दर समन्वय है। इसके लिए मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान राम के आदर्श चरित्र से बढ़कर और आलंबन हो ही क्या सकता था? इसी आदर्श चरित्र के भीतर गोस्वामीजी ने अपनी अलौकिक प्रतिभा से मानव-हृदय की पवित्र से पवित्र वृत्ति, आचरण का उत्कृष्ट से उत्कृष्ट रूप और मर्यादा का भव्य से भव्य स्वरूप उद्घाटित किया है। उन्होंने कृपा क्षमा, सत्य, नम्रता, सुशीलता, उदारता, कृतज्ञता, वीरता, धीरता, गंभीरता, आदि गुणों का अस्तित्व राम में दिखलाया है। राम ने किस प्रकार परशुरामजी और समुद्र को क्षमा किया, किस प्रकार पवनसुत के प्रति कृतज्ञता स्वीकार की, किस प्रकार विभीषण और सुग्रीव पर कृपा की, किस प्रकार परशुरामजी के समक्ष विनम्र वचन कहे, किस प्रकार धीरता और गंभीरता के साथ वन के दुःख सहे, किस प्रकार बालि को मारकर मर्यादा की रक्षा की, किस प्रकार वीरता से दुर्धर्ष राक्षसों का वध किया, यह जानकर मन का मैल कटता है और उसमें सद्भावनाओं का संचार होता है।

राम के अतिरिक्त भरत, सीता, दशरथ, लक्ष्मण, हनुमान आदि के चरित्र भी उच्चता की ओर अग्रसर करने वाले हैं। भरतजी त्याग और भ्रातृ-प्रेम के ज्वलंत उदाहरण हैं। सीताजी पतिव्रत धर्म की जीती-जागती मूर्ति हैं। दशरथजी सत्यव्रत के साक्षात रूप हैं। लक्ष्मणजी सेवा भाव के अवतार हैं। हनुमानजी आज्ञा-पालन के पुजारी हैं। एक ओर जहाँ 'रामचरित्रमानस' में इस आदर्श समाज की प्रतिष्ठा हुई है वहाँ दूसरी ओर राक्षसी समाज का चित्र भी अंकित हुआ है। दोनों का द्वन्द्व उपस्थित करके और प्रथम द्वारा द्वितीय का सर्वनाश दिखलाकर कवि ने आदर्शवाद का नग्न रूप प्रस्तुत किया है। इससे हिन्दू-जाति का जो उपकार हुआ है उसे अंकित करना लेखनी की शक्ति के बाहर है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारा प्राचीन साहित्य आदर्शवाद की गोद में खेलता रहा है। यहाँ तक कि हमारे आचार्यों ने आदर्शवाद की योजना के लिए ये दो प्रधान नियम बना दिए थे कि काव्य का नायक उत्कृष्ट गुणवाला महान् व्यक्ति हो और काव्य का अन्त नायक की कार्य-सिद्ध के साथ हो। कहने की आवश्यकता नहीं कि उत्कृष्ट नायक का कार्य भी उत्कृष्ट होगा और उसकी सिद्धि से समाज में सत् का संचार होगा।

पर हमारा आर्वाचीन साहित्य आदर्शवाद से मुख मोड़ रहा है। विदेशी प्रभाव फलस्वरूप वह यथार्थवाद की ओर झुक रहा है। हमारे आजकल साहित्यकार जहाँ पाश्चात्य साहित्य की अन्य बातों की नकल कर रहे हैं वहाँ यथार्थवाद की भी नकल कर रहे हैं। क्या नाटक, क्या उपन्यास, क्या कहानी, क्या कविता, साहित्य के सभी अंग

इससे प्रभावित हो रहे हैं । कविता की अपेक्षा कहानी, नाटक और उपन्यास पर यथार्थवाद का अधिक प्रभाव दृष्टिगत् हो रहा है । 'संन्यासी' (पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र कृत) सरीखे नाटक और 'कंकाल' (श्री जयशङ्करप्रसाद कृत) सरीखे उपन्यास निकल रहे हैं । नकल की झोंक में हमारे साहित्कारों को यह नहीं सूझता कि यथार्थवादी साहित्य से समाज का कितना अहित होगा, समाज कितना अधःपतित होगा । नकल करना बुरा नहीं, पर नकल सर्वदा उत्कृष्ट बातों की करनी चाहिए, निकृष्ट बातों की नहीं । जिस आदर्शवाद के कारण भारतीय साहित्य को विश्व में उच्च स्थान मिला है, जिस आदर्शवाद ने हमारे साहित्य को गौरवान्वित किया है, उसका परित्याग अच्छा नहीं ।

सारांश यह है कि आदर्शवाद प्रत्येक साहित्य के लिए जीवन और शक्ति-प्रदान करने वाला रसायन है । उसके बिना साहित्य प्राण-रहित शरीर ही है । आदर्शवाद से पुष्ट होकर ही साहित्य 'सत्यं-शिवं सुन्दरम्' बनता है और लोक-हित-साधन करता है । वह मानव-समाज को जीवन-यात्रा के लिए नीति और मर्यादा के रूप में अक्षय सम्बल प्रदान करता है । अतः साहित्य और आदर्शवाद का अटूट सम्बन्ध होना चाहिए । इसी में समाज का कल्याण है ।

कविता में भाव और कल्पना का स्थान

(१) प्रस्तावना—कविता की उपयोगिता ।
(२) कविता के मूलाधार—भाव और कल्पना ।

(३) भाव का लक्षण ।
(४) कल्पना का लक्षण ।
(५) भाव और कल्पना दोनों के संयोग से कविता की उत्पत्ति ।
(६) केवल एक से सफल कविता की उत्पत्ति में बाधा ।
(७) उपसंहार—सारांश ।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है । वह सर्वदा समाज में ही रहना चाहता है । समाज से पृथक् होकर वह कदापि जीवित नहीं रह सकता । तब यह स्वाभाविक ही है कि वह अपने भावों, विचारों एवं आकांक्षाओं से समाज को प्रभावित करे और स्वयं समाज से प्रभावित होता रहे । इस प्रकार पारस्परिक विचार-विनिमय से ही साहित्य की उत्पत्ति होती है । साहित्य में कविता का सर्वोच्च स्थान है । यह वह साधन है जिसके द्वारा भिन्न-भिन्न हृदयों में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित किया जाता है, भिन्नता में एकता का समावेश होता है । इसके द्वारा ही समाज की स्थिति-रक्षा होती है । कविता मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-सम्बन्धों के संकुचित घेरे से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है । इस भूमि पर पहुँचा हुआ मनुष्य अपनी सत्ता को लोकसत्ता में लीन किए रहता है, उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है। इस अनुभूति के अभ्यास से हमारे मनोविकारों का परिष्कार होता है और शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह होता है ।

कविता के मूलाधार हैं भाव और कल्पना । दोनों के संयोग बिना कविता का जन्म ही नहीं हो सकता ।

पर इन दोनों में प्रधान स्थान किसका है और गौण किसका, यही हमें देखना है।

भाव क्या है ? सुख और दुःख की मूल अनुभूति ही विषय-भेद के अनुसार प्रेम, हास, उत्साह, आश्चर्य, क्रोध, भय, करुणा, घृणा इत्यादि मनोविकारों का जटिल रूप धारण करती है। जैसे यदि शरीर में कहीं सुई चुभने की पीड़ा हो तो सामान्य दुःख होगा, किन्तु यदि साथ ही यह ज्ञान हो जाय कि सुई चुभानेवाला कोई व्यक्ति है तो उस दुःख की भावना कई मानसिक और शारीरिक वृत्तियों के साथ संश्लिष्ट होकर उस मनोविकार की योजना करेगी जिसे 'क्रोध' कहते हैं। इसी प्रकार जिस पर अपना वश न हो ऐसे कारण से पहुँचने वाले भावी अनिष्ट के निश्चय से जो दुःख होता है उसको 'भय' संज्ञा है। हृदय भावों का अक्षय भंडार है। प्रत्येक भाव हृदय में छिपा रहता है और उपयुक्त अवसर पाकर ही हृदय-क्षीरसागर से नवनीत रूप में प्रकट होता है। हम एक दुखिया को देखते हैं और करुणा से पिघल जाते हैं। हम अपने घर में सर्प को देखकर भयभीत हो जाते हैं। हम एक फैशनेबिल बाबू को ठोकर खाकर गिरते देखकर खिलखिलाने लगते हैं। इस प्रकार जीवन में सर्वदा प्रतिक्षण हमारे हृदय में भावों की लहरें उठती और विलीन होती रहती हैं। भाव-रहित हृदय सम्भव नहीं है। हाँ, यह हो सकता है कि एक हृदय में उद्भूत भाव दूसरे हृदय में उद्भूत भाव से अधिक या कम तीव्र हो। कविता भावों को तीव्र बनाती रहती है। इस कार्य के लिए उसे कल्पना का भी सहयोग प्राप्त करना पड़ता है।

कल्पना क्या है ? कल्पना मस्तिष्क की एक क्रिया है। यह वह शक्ति है जिसके द्वारा मनुष्य किसी घटना का मानसिक चित्र नेत्रों के सम्मुख उपस्थित करता है। कल्पना-जगत में उड़ता हुआ मनुष्य भी संभव है, चलता हुआ पर्वत भी संभव है। कल्पना के संसार में पुष्प हँसते हैं, नदियाँ रोती हैं, ओसकण मोती हो जाते हैं। इस प्रकार असंभव और संभव सभी घटनाएँ कल्पना के क्षेत्र में अपना अस्तित्व रखती हैं। मानव-जीवन में कल्पना का उच्च स्थान है। ज्ञान के विकास में इससे बहुत सहायता मिलती है। जब तक किसी घटना या वस्तु का कल्पना द्वारा मानसिक चित्र नहीं उपस्थित किया जाता तब तक उसके विषय में विचार करना कठिन है। मस्तिष्क किसी वस्तु पर विचार करने के लिए कुछ ढाँचा चाहता है। जैसे गणित के प्रश्नों को हल करने के लिए कभी-कभी विद्यार्थी पहले उत्तर की कल्पना कर लिया करते हैं। जैसे, कल्पना किया धन 'अ' है। वायुयान के आविष्कर्ता ने उड़ती हुई चिड़ियों को देखकर वायुयान की पहले कल्पना कर ली थी। जमीन के अन्दर पुल बनाने वाले ने पहले एक कीड़े को दीवार फोड़कर उस प्रकार का घर बनाते देखा था। अतः स्पष्ट है कि कल्पना ज्ञान-प्रसार में योग देती है।

अब हमें देखना है कि किस प्रकार भाव कल्पना की सहायता से कविता को जन्म देते हैं। कविता के शरीर के लिए, बाहरी रूप के लिए, केवल भाषा की आवश्यकता होती है। उसका प्राण, उसकी आत्मा, रस है, जो भाव और कल्पना के संयोग से उत्पन्न होता है।

'रसात्मकं वाक्यं काव्यं' कहने का अभिप्राय यही है कि काव्य की आत्मा रस है । अब यह जानने के लिए कि रस की उत्पत्ति किस प्रकार भाव एवं कल्पना से होती है, हमें रस-सामग्री पर दृष्टि डालना आवश्यक है । आचार्यों ने 'स्थायी-भाव' 'विभाव' 'अनुभाव' और 'संचारी-भाव' ये रस के चार अङ्ग बतलाए हैं । स्थायी भाव से तात्पर्य उस स्थायी मनोविकार से है जो विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से पुष्ट होकर रस अवस्था को प्राप्त होता है । ये हृदय के मुख्य भाव होते हैं । विभाव स्थायी भाव के उत्पादक कारण होते हैं । अनुभाव स्थायी-भाव की स्थिति का अनुभव कराने वाली चेष्टाएँ कहलाती हैं । संचारी भाव स्थायी भाव के रसावस्था को पहुँचने तक जल में बबूलों की भाँति संचरित होते रहते हैं । ये हृदय के साधारण भाव होते हैं । उदाहरणार्थ शृङ्गार-रस में रति स्थायीभाव, नायक-नायिका तथा एकान्त स्थानादि-विभाव, पारस्परिक चितवन आदि अनुभाव और चिंता आदि संचारी-भाव हैं ।

किसी रस का उद्रेक करने के लिए यह आवश्यक है कि कवि उस रस की सम्पूर्ण सामग्री अपनी कविता में जुटा दे, अन्यथा इसकी उद्भावना नहीं हो सकती । इस कार्य के सम्पादन के लिए कवि के पास दो साधन हैं—भाव और कल्पना । वह जिस भाव को चाहे अपने हृदय से निकाल कर कविता में बैठा सकता है, क्योंकि हृदय भावों का अक्षय भंडार होता है । कल्पना के सहयोग से विभाव एवं अनुभावों की सृष्टि की जा सकती है । जैसे, यदि वह भयानक रस का उद्रेक करना चाहता

है तो उसे कल्पना द्वारा ऐसी घटना का आरोप करना पड़ेगा जिससे रस की उत्पत्ति हो सके। वह कदाचित् विभाव रूप में सिंह को देखता हुआ एक मनुष्य उपस्थित करेगा और अनुभाव रूप में उस मनुष्य का भागना दिखाएगा। इसी प्रकार वह करुण रस की उत्पत्ति के लिए विभाव रूप में प्रिय की मृत्यु और अनुभाव रूप में विलाप दिखा सकता है। रौद्र रस के विभाव रूप में आक्रमणकारी की उपस्थिति और अनुभाव रूप में मुख तथा आँखों की लाली, होंठों का फड़कना, भौंहों का चढ़ाना आदि दिखाया जा सकता है।

अतः स्पष्ट है कि रसोत्पादन के लिए भाव के साथ-साथ कल्पना का भी होना आवश्यक है। केवल भाव से इसकी उत्पत्ति असम्भव है। विना कल्पना की सहायता से भाव उतना हृदयस्पर्शी प्रभाव डालने में असमर्थ है, क्योंकि विना किसी घटना का आरोप किए वह पाठक या श्रोता के नेत्रों के सम्मुख कोई चित्र उपस्थित नहीं कर सकेगा और घटना का आरोप करना कल्पना का काम है। किन्तु यह समझना भूल होगा कि कल्पना के अभाव में भाव कुछ भी प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकता। प्रभाव अवश्य पड़ेगा, पर वह उतना स्थायी तथा हृदय-स्पर्शी न होगा। कल्पना भाव से पृथक् होकर कोई भी प्रभाव नहीं डाल सकती। वह कविता कविता नहीं है जिसमें केवल कल्पना ही कल्पना हो। उसे हम सूक्ति कह सकते हैं, दूर की सूझ कह सकते हैं। उसको सुन-कर या पढ़कर उक्ति के अनूठेपन के कारण हम वाह-वाह कह सकते हैं, खिल-खिला सकते हैं, पर भाव-सागर

में निमग्न नहीं हो सकते । उदाहरणार्थ बादल के टुकड़े के ऊपर निकले हुए चन्द्रमा को देखकर यदि कोई कहे, "ऊँट की पीठ पर घंटा रक्खा हुआ है" तो श्रोता के हृदय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, उसके हृदय में किसी भाव का संचार नहीं होगा । हाँ, वह इस विलक्षण उक्ति पर वाह-वाह अवश्य कहेगा । अतएव यह उक्ति कविता के नाम से विभूषित न हो सकेगी, सूक्ति कहलायगी । इसी प्रकार—

"चढ्यो गगन तरु धाइ, दिनकर-बानर अरुण मुख ।
कीन्हों झुकि झहराइ, सकल तारका कुसुम बिन ।।"

को कविता के नाम से परिगणित नहीं किया जा सकता । यहाँ केशवदासजी ने निकलते सूर्य का कल्पना-रंजित वर्णन किया है ।

सारांश यह है कि कविता में भाव और कल्पना दोनों का होना आवश्यक है । कल्पना रहित काव्य गन्ध-रहित पुष्प के समान है । जिस प्रकार गन्ध-रहित पुष्प का भी अस्तित्व है, उसी प्रकार कल्पना-रहित कविता का भी अस्तित्व है । कविता का उद्देश्य मनोरंजक एवं प्रभावोत्पादक ढंग से जीवन की व्याख्या करना है, मार्मिक रूप में नीति का पाठ पढ़ाना है । इस उद्देश्य की सुचारु रीति से पूर्ति भाव कल्पना से मुख मोड़कर नहीं कर सकता ।

समालोचना के सिद्धान्त

(१) प्रस्तावना—साहित्य के लिए समालोचना की आवश्यकता

(२) समालोचना के सिद्धान्त

(क) साहित्यकार के समस्त ग्रंथों का अध्ययन

(ख) ग्रंथों के अध्ययन में निर्माण-काल का ध्यान

(ग) साहित्यकार के जीवन से परिचय

(घ) तुलनात्मक प्रणाली का प्रयोग

(ङ) साहित्यकार के प्रति सहानुभूति

(च) साहित्यकार की अंतरात्मा का विश्लेषण

(छ) समालोचना की व्याख्या की ओर उन्मुखता

(३) उपसंहार—सारांश

संसार में न जाने कितनी विभूतियाँ हैं, न जाने कितनी सुन्दर सुन्दर वस्तुएँ हैं जो मनुष्य के हृदय में शान्ति एवं आनन्द का उद्रेक करती हैं। पर सबका अस्तित्व प्रकाश से है। यदि प्रकाश न हो, प्रातःकाल के सूर्य की मनोहर किरणें उन पर न पड़ें, उन्हें आलोकित न करें, उन्हें मानव-चक्षुओं के समक्ष उपस्थित न करें, तो वे समस्त विभूतियाँ अंधकार के परदे में छिपी रहें, आँखों को उनका ज्ञान ही न हो, उनमें सुन्दरता के गुण विद्यमान होते हुए भी उनका परिचय किसी को न मिले। सूर्य की रश्मिमाला ही उनके विलक्षण सौंदर्य, गुण और शक्तियों को प्रकाश में लाती है। इसी प्रकार समालोचना रूपी सूर्य साहित्य की अनन्त बिखरी हुई विभूतियों की सुन्दरता को प्रकाशित करता है, उनके गुणों का अनुभव कराता है, उनकी विशेषताओं का देदीप्यमान चित्र नेत्रों के सम्मुख

खींच देता है। बिना समालोचना के काव्य के गुण-दोषों का पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं हो सकता। बिना समालोचना के लेखक या कवि की अन्तरात्मा में प्रवेश नहीं किया जा सकता और न उसके भाव-रत्नों का सच्चा मूल्य ही निर्धारित किया जा सकता है।

जब तक समालोचना का हिंदी-साहित्य में प्रवेश नहीं हुआ था तब तक हम अपने साहित्य के अनूठे एवं अमूल्य रत्नों और मणियों के महत्व का सम्यक् ज्ञान प्राप्त न कर सके। सत्रहवीं शताब्दी में भी तुलसीदासजी के 'राम-चरितमानस' को हिंदू अत्यन्त प्रेम से पढ़ते थे, उनके मानस से अपने मानस का सम्बन्ध स्थापित करते थे और धर्म के उस रसायन का सेवन करके अपने को कृतकृत्य समझते थे सूरदासजी के पदों की माधुर्य-लहरी में डूब जाते थे। किन्तु उन्हें यह नहीं पता था कि तुलसी एवं सूर की रचनाओं में कौनसी ऐसी विशेषताएँ हैं जो उनके हृदय को आकर्षित करती हैं और उन पर मोहिनी डालती हैं। यह समालोचना का ही प्रसाद है जो आज हम सूर एवं तुलसी की अन्तरात्मा की छान-बीन में समर्थ हुए हैं। आज हम समालोचना के कारण ही इन महाकवियों की रचनाओं की विलक्षण विशेषताओं का परिज्ञान प्राप्त करके यह ज्ञान गए हैं कि क्यों ये महानुभाव अक्षय यश के भागी हो सके।

अब प्रश्न उठता है कि जिस समालोचना ने हमारे साहित्य को जगमगा दिया है, जो उसके अंधकार-विलीन रत्नों को प्रकाश में लाई है, उसके सिद्धान्त क्या हैं? सबसे पहला सिद्धांत यह है कि कवि या लेखक की

आलोचना करने के पूर्व उसके समस्त ग्रन्थों का अध्ययन किया जाय। उसके थोड़े से ग्रन्थों का अध्ययन करके हम उसके विषय में पूरी पूरी जानकारी नहीं प्राप्त कर सकते। उसकी प्रतिभा का पूर्ण चित्र उपस्थित करने के लिये यह आवश्यक है कि उसकी सभी रचनाओं का अध्ययन किया जाय। उसके मस्तिष्क के क्रमिक विकास, उसके स्वभाव उसके विचार, उसकी आकांक्षाओं का ज्ञान बिना समस्त ग्रन्थों के अध्ययन के नहीं हो सकता। कतिपय ग्रन्थों के अध्ययन के आधार पर उसकी आलोचना करना उसके साथ अन्याय करना होगा। बहुत सम्भव है कि हम उस-सम्बन्धी बहुत सी बातें जानने से वंचित रह जायँ। उदाहरण स्वरूप यदि कोई समालोचक गोस्वामी तुलसीदासजी की 'गीतावली' का ही अध्ययन करके उनकी समालोचना करे तो वह अपूर्ण होगी। वह तुलसीदासजी की अनेक विशेषताओं का, जैसे प्रबन्ध-पटुता, चरित्र-चित्रण, अवधी भाषा पर अधिकार, जिनका परिचय उसे उनके अन्य ग्रन्थों के अध्ययन से मिलता, दिग्दर्शन नहीं करा सकेगा।

अध्ययन के लिए ग्रन्थों के निर्माण-कालानुसार बढ़ना चाहिए, जिससे ग्रन्थकार के क्रमिक मानसिक विकास और कला-कौशल का सर्वाङ्गपूर्ण और स्पष्ट चित्र हमारे नेत्रों के सम्मुख उपस्थित हो सके। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार के अध्ययन से इस कवि अथवा लेखक की प्रतिभा के विकास का स्पष्ट रूप से ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं; साथ ही हम यह भी जान सकते हैं कि विभिन्न परिस्थितिओं ने उसे कहाँ तक प्रभावित किया, उसके विचारों में कैसे परिवर्तन हुए, उसने किस प्रकार प्रौढ़ता प्राप्त की।

साहित्यकार की समीक्षा में उसके जीवन-चरित्र का महत्व अतुलनीय है। बिना जीवन-चरित्र जाने हम उसकी यथार्थ समालोचना नहीं कर सकते। जीवन की परिस्थितियाँ मनुष्य के विचारों एवं भावों को बहुत प्रभावित करती हैं। अतः विचारों एवं भावों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए वे परिस्थितियाँ आधार का काम करती हैं।

साहित्य की आलोचना में तुलनात्मक प्रणाली का भी आश्रय लेना उचित है। समकालीन अथवा अन्यकालीन उन कवियों या लेखकों की कृतियों के साथ जिन्होंने समान विषयों पर लेखनी चलाई हो उसकी रचनाओं की तुलना की जाय। इस प्रकार के अध्ययन से हमें साहित्यकार के गुण-दोषों की माप का अच्छा अवसर मिलता है। जैसे तुलसीदासजी और केशवदासजी का तुलनात्मक अध्ययन हमको बतलाता है कि जहाँ तुलसीदासजी मानव-हृदय के पारखी हैं वहाँ केशवदासजी की इस क्षेत्र में कुछ भी पहुँच नहीं। जहाँ तुलसीदासजी प्रकृति के विविध अङ्गों के साथ हृदय का सामंजस्य स्थापित करते हैं वहाँ केशवदासजी अलंकारों का चमत्कार दिखाते हुए प्राकृतिक वस्तुओं का परिगणन-मात्र कर चलते हैं।

समालोचना करते समय कवि या लेखक के प्रति सहानुभूति का होना परमावश्यक है। यदि पहले से ही हम किसी कवि को घृणा की दृष्टि से देखते हैं तो हम कभी उसके साथ न्याय नहीं कर सकते, हमारी समालोचना कभी निष्पक्ष नहीं हो सकती। सहानुभूति द्वारा हम कवि

के हृदय तक पहुँच सकते हैं, अन्यथा नहीं। सहानुभूति के अभाव में हिंदी साहित्य के अच्छे-अच्छे कवियों को भी समालोचकों ने निम्न स्थान दे डाला। यह मनोवैज्ञानिक नियम है कि सहानुभूति के अभाव में मनुष्य स्वतः ही दोष ढूँढ़ने में संलग्न होता है, गुणों की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता।

समालोचना में सबसे आवश्यक बात यह है कि समालोचक कवि या लेखक की अंतरात्मा में प्रवेश करे, बाहरी बातों की ओर अधिक ध्यान न दे। यह सच है कि काव्य की बाह्यात्मा उपेक्षणीय नहीं, परन्तु वह अंतरात्मा का स्थान नहीं ग्रहण कर सकती। जिस रचना की अंतरात्मा कुछ अच्छी नहीं वह प्राण-रहित शरीर ही है। अतः समालोचक को रचयिता के हृदय-मानस में गोते लगाकर छिपे हुए रत्नों एवं मणियों को प्रकाश में लाना चाहिए। तभी वह सच्चा समालोचक हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि समालोचना में रचयिता के हृदय का विश्लेषण एवं छानबीन करके उसकी विशेषताओं का अन्वेषण होना चाहिए, निरी बाहर की बातों——अलंकार, छन्द, शब्द-चयन आदि पर ही अधिक ध्यान नहीं देना चाहिए। इन बातों का स्थान गौण है। हाँ, समालोचना में यह अवश्य बताया जाय कि किसी कवि या लेखक ने भाषा, शब्दों, मुहावरों और अलंकारों का कैसा प्रयोग किया है।

सत्समालोचना वह है जिसमें समालोचक का ध्यान व्याख्या की ओर रहे, निर्णय की ओर नहीं। उसके और

न्यायाधीश के कार्य में अंतर है। जहाँ न्यायाधीश का कार्यपक्ष और विपक्ष दोनों की बातें सुनकर न्याय करते हुए अपना निर्णय देना है वहाँ समालोचक का कार्य रचना में छिपी हुई विशेषताओं को प्रकाश में लाना है। उसका कार्य रचना का मूल्य-निर्धारण करना नहीं। निर्णयात्मक समालोचनाएँ भी देखने को मिलती हैं, पर समालोचना-क्षेत्र में उनका स्थान निम्न कोटि का है।

यहाँ समालोचना के प्रधान सिद्धान्तों पर ही प्रकाश डाला गया है, समस्त सिद्धान्तों का निर्धारण नहीं किया गया है। प्राचीन समय में समालोचकों ने उपर्युक्त सिद्धान्तों की अवहेलना करके किसी रचना में रस, अलंकारादि का दिग्दर्शन कराने में ही अपने कार्य की इतिश्री समझ ली थी। फलतः हमारे यहाँ अच्छी समालोचनाओं का अभाव सा रहा। पर आजकल इस अभाव की पूर्ति हो रही है। आज हमारे साहित्य में ऐसी समालोचनाएँ उपलब्ध हैं जिनमें कवि या लेखक की अंतरात्मा की छानबीन एवं विशेषताओं का उद्घाटन पाया जाता है और जिनके कारण हमारा समालोचना-क्षेत्र जगमगा उठा है।

उपन्यास-रचना

(१) प्रस्तावना—लक्षण और महत्व
(२) रचना-तत्व
  (क) वस्तु (ख) पात्र (ग) कथोपकथन (घ) देशकाल (ङ) उद्देश्य (च) शैली

(३) नाटक से भेद
(४) आख्यायिका से भेद
(५) उपसंहार—आख्यायिका के बढ़ते हुए प्रचार का उपन्यास पर प्रभाव

उपन्यास गद्य—साहित्य का एक प्रधान अङ्ग है जिसमें मानव-जीवन का चित्र विस्तृत रूप से चित्रित किया जाता है। इस गद्य-काव्य में जीवन की समस्याओं का विवेचन होता है और मानव-प्रकृति का विश्लेषण किया जाता है। सामाजिक जीवन के दोषों के उद्घाटन तथा सामाजिक कुरीतियों के निराकरण में उपन्यास महत्त्वपूर्ण योग देता है। सुधार का सूत्रपात करने में जहाँ कविता और नाटक-हाथ बटाते हैं, वहाँ उपन्यास भी पीछे नहीं रहता। वह मनोरंजन की भी योजना करता है। साहित्य के इस अंग को जन-साधारण बड़े चाव से पढ़ते हैं। इसको पढ़कर लोग अपना मन बहलाते हैं। पुस्तकालयों में इसकी बहुत माँग रहती है। वास्तव में उपन्यास एक लोक-प्रिय गद्य-काव्य है।

उपन्यास के रचना तत्व हैं—वस्तु, पात्र, कथोपकथन, देशकाल, उद्देश्य, और शैली। सर्व प्रथम 'वस्तु' को ही लीजिए। प्रत्येक उपन्यास का सम्बन्ध घटनाओं और व्यापारों से अर्थात् उन बातों से होता है जो सहन या सम्पादित की जाती हैं। उन्हीं को हम उपन्यास की वस्तु कहते हैं। वस्तु में प्रधान एवं मर्मस्पर्शी घटनाओं का ही समावेश हो, तुच्छ, साधारण और रूखी घटनाओं को उसमें नहीं घुसेड़ना चाहिए। उसका विकास स्वाभाविक एवं मनोमुग्ध कारी हो। उपन्यासकार वस्तु का उपयोग तीन प्रकार से

करता है। पहले में तो वह इतिहासकार का स्थान ग्रहण करके और वर्णनीय कथा से अपने को पृथक् रखकर अपने वस्तु विधान का क्रमशः उद्घाटन करता है। दूसरे ढंग में वह नायक का आत्मचरित उसके मुँह से अथवा कभी कभी किसी गौण पात्र के मुँह से कहलाता है। तीसरा ढंग वह है जिसमें प्रायः पत्रों द्वारा कथा का उद्घाटन किया जाता है। अधिकतर प्रथम ढंग का ही अनुसरण होता है। इसके अतिरिक्त विन्यास के विचार से भी वस्तु के दो भेद हो जाते हैं। एक में भिन्न भिन्न घटनाओं का एक प्रकार से असम्बन्ध रहता है उनमें न कोई किसी के आश्रित रहती है और न कोई किसी का परिणाम होती है। उनको एक सूत्र में पिरोनेवाला नायक होता है। दूसरे में घटनाएँ आपस में एक दूसरी से नथी रहती हैं।

घटनाएँ और व्यापार कुछ मनुष्यों के आश्रित रहते हैं। ये मनुष्य ही उपन्यास में 'पात्र' कहलाते हैं। पात्रों के विषय में यह जान लेना आवश्यक है कि वे वास्तविकता के परिधान से वेष्टित करके उपस्थित किए जाय, अन्यथा उपन्यास का कुछ भी महत्त्व नहीं रह जायगा। पात्रों के चरित्र पर उपन्यासकार का विशेष ध्यान रहे। वे उत्तरोत्तर अपने चरित्र का विकास करें। उनके पूर्ण चरित्र का परिज्ञान पाठक को एक ही स्थल पर न हो जाय। चरित्र-चित्रण में प्रायः दो साधनों का अवलम्बन लिया जाता है। एक को विश्लेषात्मक या साक्षात और दूसरे को अभिनयात्मक या परोक्ष कहते हैं। पहले में उपन्यासकार स्वयं पात्र का चरित्र-चित्रण अपने शब्दों में करता है। दूसरे में पात्र के अपने कथन और व्यापार से तथा

उसके सम्बन्ध में दूसरे पात्रों की टीका-टिप्पणी और सम्मति से चरित्र-चित्रण किया जाता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि दूसरा ढंग उपन्यास के महत्व में अधिक वृद्धि करता है।

पात्र आपस में कुछ वार्तालाप करते हैं। यह वार्तालाप ही 'कथोपकथन' कहलाता है। कथोपकथन का उद्देश्य वस्तु का विकास करना और पात्रों के चरित्र-चित्रण में योग देना है। अतएव ऐसा होना चाहिए। जिससे कथा का प्रभाव आगे बढ़े और साथ ही पात्रों की व्यक्तिगत विशेषताओं पर भी प्रकाश पड़ता चले।

उपन्यास में वर्णित घटनाएँ एवं व्यापार किसी देश विशेष तथा किसी समय विशेष से सम्बन्धित होते हैं। इसी को उपन्यास में 'देशकाल' कहा जाता है। देशकाल का पालन उपन्यास में भली भाँति होना चाहिए। जिस काल अथवा देश की घटनाओं और समाज का चित्र उपन्यास में खींचा गया हो उसी काल अथवा देश की रीति रिवाज, आचार-विचार, रहन-सहन और परिस्थिति आदि का ठीक ठीक चित्रण होना चाहिए, अन्यथा उपन्यास अस्वभाविक होने के कारण किसी काम का न रह जायगा।

उपन्यासकार का कुछ–न–कुछ उद्देश्य उपन्यास की रचना में अवश्य अन्तर्निहित रहता है। वह मानव-जीवन-सम्बन्धी अपने विचारों को परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप में प्रकट करता ही है। वह जीवन के किसी-न-किसी अङ्ग-सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन अपनी रचना में करता

ही है। कुछ लोगों का कथन है कि उपन्यास में जीवन के सिद्धान्तों को स्थान नहीं मिलना चाहिए। उपन्यास का उद्देश्य तो खाली समय मे जी वहलाना मात्र है। इसके अतिरिक्त उसका कोई दूसरा उद्देश्य नहीं। पर यह कथन भ्रमपूर्ण है काव्य और मानव-जीवन का घनिष्ट सम्बन्ध है। जो काव्य मानव-जीवन की उपेक्षा करता हुआ चलता है उसका कुछ भी महत्व नहीं। उसके द्वारा 'रागात्मक सम्बन्ध' की रक्षा असम्भव है। अतः एक सफल उपन्यास में नैतिक सिद्धान्तों का होना सर्वथा वांछनीय है। हाँ, वे अपरोक्ष रूप से उसमें विद्यमान रहें, ओत-प्रोत रहें।

अब 'शैली' को लीजिए। शैली से अभिप्राय उस रचना-चमत्कार से है जिसके द्वारा उपन्यासकार अपनी कृति को सुन्दर एवं मनोमुग्धकारी बनाता है। शैली के विषय में कोई नियम निर्धारित नहीं किए जा सकते। 'Style is the man himself' के अनुसार शैली व्यक्ति का स्वरूप ही है। हाँ, इस वात का ध्यान अवश्य रक्खा जाय कि शैली द्वारा अधिक से अधिक प्रभाव डाला जा सके।

उपन्यास और नाटक में यह भेद है कि नाटक दृश्य-काव्य है और उपन्यास श्रव्य-काव्य। नाटक की रचना रंग मंच पर अभिनय के लिए होती है और उपन्यास की पढ़ने के लिए। यद्यपि नाटक का पठन भी किया जाता है, तथापि वह अपना पूर्ण प्रभाव अभिनय द्वारा ही डाल सकता है। अभिनय नाट्यकला का प्राण

है। उपन्यास को एक अँग्रेजी विद्वान् ने 'pocket theatre' अर्थात् 'जेबी रंग मंच' कहा है। वस्तुतः नाटक और उपन्यास में रंग मंच के अतिरिक्त कोई प्रधान विभेद नहीं है।

पर उपन्यास और आख्यायिका में कई बातों में भेद है। आख्यायिका में जीवन के किसी एक अंग का चित्रण संक्षिप्त रूप से किया जाता है। पर उपन्यास में जीवन का पूर्ण चित्र विस्तृत रूप से खींचा जाता है। आख्यायिका एक छोटा-सा गद्य-कथानक होता है जो एक ही बैठक में पढ़ा जा सके, पर उपन्यास आख्यायिका से बहुत बड़ा होता है। आख्यायिका में चरित्र-चित्रण के विकास का अभाव सा रहता है। उसके संकुचित क्षेत्र में चरित्र-चित्रण के लिए स्थान ही कहाँ ? पर उपन्यास में चरित्र-चित्रण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसके बिना उपन्यास का कुछ भी मूल्य नहीं। प्रत्येक विषय पर आख्यायिका लिखी जा सकती है। पर प्रत्येक विषय पर उपन्यास नहीं लिखा जा सकता। उसके लिए मर्मस्पर्शी वस्तु चाहिए। आख्यायिका के लिए उसकी आवश्यकता नहीं।

आजकल हिंदी-साहित्य में आख्यायिकाओं की संख्या द्रुतगति से बढ़ रही है। मासिक पत्र-पत्रिकाओं में इनकी खूब धूम रहती है। इनके बढ़ते हुए प्रचार को देखकर कतिपय लोगों की तो यह धारणा हो चली है कि कुछ दिनों में आख्यायिकाएँ उपन्यासों का स्थान हड़प लेंगी, क्योंकि वे अधिक लोक-प्रिय होती जा रही हैं। किन्तु यह सम्भव नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि उपन्यासों

की अपेक्षा आख्यायिकाएँ अधिक मनोरंजन करती हैं। पर उपन्यासों की अपनी उपयोगिता है। आख्यायिकाएँ उनका कार्य करने में असमर्थ हैं। जब तक जीवन की जटिलताएँ रहेंगी और जब तक लोगों में सूक्ष्म से भी सूक्ष्म बातें जानने की रुचि रहेगी, तब तक उपन्यासों का स्थान आख्यायिकाएँ नहीं ले सकतीं। उपन्यासों द्वारा ही जीवन की जटिल समस्याएँ समझाई जा सकती हैं। उपन्यासों द्वारा ही मानव-प्रकृति का सूक्ष्म विश्लेषण सम्भव है। अतः उपन्यास और आख्यायिका दोनों प्रकार के गद्य-काव्य मानव-समाज के लिए आवश्यक हैं। जब किसी मनुष्य को इच्छा होगी तब वह आख्यायिका की ओर हाथ बढ़ाएगा और जब जीवन की समस्याओं से अवगत होना चाहेगा तब वह उपन्यास का अवलोकन करेगा।

हास्यरस की जीवन में उपयोगिता

(१) प्रस्तावना—घटनाओं का चित्तपर प्रभाव
(२) हास्यरस द्वारा मनोरंजन
(३) हास्यरस द्वारा स्वास्थ्य-लाभ
(४) हास्यरस द्वारा सुधार
 (क) व्यक्तिगत (ख) सामाजिक
(५) हास्यरस के साहित्य की हमारे यहाँ कमी
(६) उपसंहार—हास्यरस के सुरुचिपूर्ण साहित्य के प्रोत्साहन की आवश्यकता

सिनेमा के चित्रपट की भाँति बाह्य जगत की घटनाएँ चित्त पर अंकित होती रहती हैं और उनके विविध प्रभाव

उस पर पड़ते रहते हैं। फल-स्वरूप मानव-प्रकृति में परिवर्तन होता रहता है। कभी हम भूख से छटपटाती हुई गरीब बुढ़िया को देखते हैं तो करुणार्द्र हो जाते हैं। कभी हम निराश्रित अबला को चंगुल में फँसानेवाले दुष्ट को देखते हैं तो क्रोध से भर जाते हैं। कभी हम जंगल में आते हुए सिंह को देखते हैं तो भयभीत हो जाते हैं। कभी हम मल-मूत्र से सने हुए बालक को देखते हैं तो नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं। कभी हम धराशायी भवन के नीचे दबे हुए व्यक्ति को जीवित बाहर निकलता हुआ देखते हैं तो आश्चर्य-सागर में निमग्न हो जाते हैं। कभी हम अमराई में कूकती हुई कोयल की मधुर ध्वनि सुनते हैं तो हमारे मन की कली-कली खिल जाती है। कभी हम फेशनेबिल बाबू को रपटकर गिरते देखते हैं तो खिलखिलाने लगते हैं। इस प्रकार मानव-हृदय सागर को भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ मथकर उसमें भाव-तरंगें उत्पन्न करती रहती हैं।

मानव-जीवन में हास-परिहास का महत्वपूर्ण स्थान है। इससे जीवन में मधुरिमा का संचार होता है। जब हमारी मानसिक वृत्तियों का संकोचन होता है तब हास्य उन्हें स्वस्थता प्रदान करता है। जब हम परिश्रम से उकता जाते हैं तब हँसी-मजाक द्वारा हमारा मन हलका होता है। जब हम दुःख में डूबने लगते हैं तब मित्र हितैषी भाँति-भाँति की युक्तियों से हँसाकर हमारा मनोरंजन करते हैं। यदि हमें हास्य से वंचित कर दिया जाय, यदि हमें जीवन में हँसने के अवसर न प्राप्त हों तो हमारा जीवन भार-स्वरूप हो जाय और उसमें कटुता आ जाय। अतः हास्य-गर्भित साहित्य की जीवन में अत्यन्त उपयोगिता है।

हास्य-रस के कुछ उदाहरण लीजिए और देखिए उनसे हमारे मन पर क्या प्रभाव पड़ता है—

"दोउ भुज पकरि कह्यो, कित, जैहो माखन लेउँ मँगाई।
तेरी सौं मैं नेकु न चाख्यौ, सखा गये सब खाई॥"

(सूरदास)

माखन-चोरी में गिरफ्तार बालकृष्ण का यह उत्तर कितना मनोरंजक है!

"पुनि-पुनि मुनि उकसहिं अकुलाहीं।
देखि दशा हरगन मुसकाहीं॥"

(तुलसीदास)

कामांध नारदजी की यह चेष्टा कितनी हास्यास्पद है!

"पुनि आयुब एहि बिरिआँ काली।
अस कहि मन बिहँसी एक आली॥"

(तुलसीदास)

में सखी ने सीताजी की मीठी चुटकी ली है। शिष्ट हास्य का यह अत्युत्तम उदाहरण है।

"सीटी देकर पास बुलावै।
रुपया ले तो निकट बिठावै॥
ले भागै मोहिं खेलहि खेल।
क्यों सखि सज्जन नहिं सखि रेल॥"

(भारतेन्दु)

इस मुकरी में हास्य का कैसा अच्छा रूप है! इसके अतिरिक्त भारतेन्दुजी का 'चूरन का लटका' बड़ा मनोरंजक है।

"दाढ़ी-नाक थाक माँ मिलिगै बिन दाँतन मुँहु अस पोपलन।
दाढ़ी पर वहि वहि आवत है कवौं तमाखू की फोंकन॥
वारि पाकिगै रीढ़ौ झुकिगै मूढ़ौ सासुर हालन लाग।
हाथ पाँव कछु रहे न आपन केहि के आगे दुख रोवन॥"
(प्रतापनारायण मिश्र)

वृद्धावस्था-सम्बन्धी इन पंक्तियों से कितना मनोरंजन होता है।

कुछ कवियों ने पैरौडी (Parody) द्वारा हास्यरस का वहुत मनोरंजक रूप उपस्थित किया है। एक उदाहरण देखिए—

'आगे चले वहुरि रघुराई।
पीछे लरिकनि धूरि उड़ाई॥"

मनोरंजन के अतिरिक्त हास्य से स्वास्थ्य-सुधार भी होता है। चिकित्सा-शास्त्रवेत्ताओं का मत है कि हँसने से फेंफड़ों का व्यायाम होता है। नित्य कम से कम तीन बार अवश्य खिलखिलाकर हँसना चाहिए। 'Laughing thrice a day keeps the doctor away' के अनुसार प्रतिदिन तीन बार हँसनेवाले को कभी डाक्टर का दरवाजा नहीं खटखटाना पड़ता। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो विदित होगा कि फेंफड़े के व्यायाम के अतिरिक्त हँसने से, प्रसन्न रहने से, मनुष्य नीरोग रहता है और यदि वह किसी रोग से आक्रान्त हुआ तो उसका रोग आधा रह जाता है। क्यों? मन का प्रभाव शरीर पर पड़ता है, रक्त के श्वेत कीटाणुओं (white corpuscles) पर

पड़ता है। उसकी प्रसन्नता से श्वेत कीटाणुओं की संख्या वृद्धि होती है और वे रोग के कीटाणुओं पर आक्रमण करके उन्हें भक्षण करके, मनुष्य को स्वस्थता प्रदान करते हैं। इसके विपरीत मन की उदासी से श्वेत कीटाणु मरने लगते हैं और उनकी संख्या कम हो जाती है। फिर वे रोग के कीटाणुओं से लोहा नहीं ले सकते। फलतः मनुष्य दिन प्रतिदिन रोग में फँसता जाता है। प्रायः यह देखा गया है कि हँसी-दिल्लगी द्वारा प्रसन्न-चित्त रहनेवाले व्यक्ति हृष्ट-पुष्ट होते हैं। अतः यह आवश्यक है कि मनुष्य हास्यरस की पुस्तकों को पढ़ता हुआ अपने स्वास्थ्य को ठीक रक्खे।

हास्यरस से व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार के सुधार का सूत्रपात होता है। पहले व्यक्तिगत सुधार को लीजिए। मान लीजिए कोई पुरुष कृपण है। उसे चाहे कितना उपदेश दीजिए, निष्फल होगा। पर यदि कविता में उसका मजाक उड़ाया जाय, उसका खाका खींचा जाय, तो उस पर बहुत प्रभाव पड़ेगा और वह कृपणता छोड़ बैठेगा। देखिए बेनी कवि ने निम्नलिखित पंक्तियों में दयाराम नामक व्यक्ति के दिए हुए आमों का उपहास करके उसकी कृपणता की कैसी खिल्ली उड़ाई है—

चींटी की चलावै को ? मसा के मुख आपु जाय,
स्वास की पवन लागे कोसन भगत है।
ऐनक लगाए मरु-मरु के निहारे जात,
अनु परमानु की समानता खगत है॥
बेनि कवि कहै हाल कहाँ लौं बखान करौं,
मेरी जान ब्रह्म को बिचारि वो सुगत है।

ऐसे आम दीन्हे दयाराम मन मोद करि,
जाके आगे सरसों सुमेर सो लगत है ॥"

भला इन्हें पढ़कर या सुनकर दयाराम पर कोई प्रभाव न पड़ा होगा ?

अब सामाजिक सुधार की ओर आइए । इस कार्य में भी हास्यरस बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है । कुरीतियों तथा सामाजिक जीवन के दोषों के बहिष्कार में उसने बहुत योग दिया है । इसके लिए कहीं-कहीं व्यंग्य को भी सहायता ली गई है । स्व० बदरीनाथ भट्ट ने अपने 'विवाह-विज्ञापन' प्रहसन में विवाह के पीछे दीवानों की खूब हसी की है । उनकी 'चुँगी की उम्मेदवारी' में वोट की भिक्षा का खूब मजाक उड़ाया गया है । अन्नपूर्णानन्दजी की 'मेरी हजामत' में ब्राह्मणों के पेटूपन का कैसा उपहास किया गया है, देखिए—

"दावा बहुत है इलम रियाजी में आपको।
ब्राह्मन का पेट आके जरा नाप लीजिए ॥"

हास्यरस की इतनी उपयोगिता होने पर भी हमारे हिन्दी-साहित्य में उसकी कमी है । यद्यपि यत्र-तत्र उसके दर्शन हो जाते हैं तथापि उसकी मात्रा बहुत कम है । कारण यह है कि जब से हिन्दी-साहित्य का सृजन आरंभ हुआ तब से हमारी जाति परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ी रही । परतन्त्र जाति को रोने से ही फुरसत नहीं मिलती, क्योंकि उस पर तरह-तरह के अत्याचार होते रहते हैं । फिर भला उसका हँसना कैसा ? अब ईश्वर की कृपा से

हमें स्वतन्त्र वायुमण्डल में सांस लेने का सुअवसर मिला है। परन्तु इस समय भी परिस्थितियाँ हमें दुःखी बनाए हुए हैं। एक ओर शरणार्थियों की दुःखद समस्या है तो दूसरी ओर काश्मीर का जटिल प्रश्न। एक ओर हैदराबाद की विषम परिस्थिति है तो दूसरी ओर कम्यूनिस्टों का उत्पात। किन्तु आशा है कि शीघ्र ही इन सारे बवंडरों पर हमारी राष्ट्र-नौका विजय प्राप्त करेगी।

हास्यरस की जो कुछ सामग्री हमारे साहित्य में उपलब्ध है उसमें अधिकांश सुरुचिपूर्ण नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि हमारे साहित्यकार परिमार्जित तथा उच्च कोटि का हास्यरस जनता के समक्ष प्रस्तुत करें, जिससे उसकी रुचि विकृत न होने पावे। यह हर्ष की बात है कि आजकल के कुछ साहित्य-निर्माता हास्यरस का उत्कृष्ट रूप स्थापित करने लगे हैं। हास्यरस की जीवन में बहुत उपयोगिता है, जैसा कि ऊपर स्पष्ट हो चुका है। अतः उसे प्रोत्साहन मिलना चाहिए। हमारे साहित्यकारों को अपनी रचनाओं में उसे अवश्य स्थान देना चाहिए, जिससे मनोरंजन के साथ-साथ समाज-सुधार की योजना हो सके।

उच्च शिक्षा का जीवन में उपयोग

(१) प्रस्तावना—मानव जीवन का उद्देश्य
(२) उच्च शिक्षा द्वारा उस उद्देश्य की पूर्ति में योग
(क) मानसिक विकास द्वारा (ख) आत्मिक उन्नति द्वारा

(३) उच्च शिक्षा द्वारा जीवन में सरसता का संचार
(४) उच्च शिक्षा द्वारा लोक व्यवहार का ज्ञान
(५) उच्च शिक्षा का सामाजिक जीवन में उपयोग
(६) उच्च शिक्षा से सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा
(७) उच्च शिक्षा और जीविकोपार्जन
(८) उपसंहार—सारांश

मानव-जीवन का उद्देश्य है समाज सेवा करते हुए मोक्ष-प्राप्ति। मनुष्य को इसी साध्य की साधना में संलग्न रहना चाहिए। 'साधन धाम मोक्ष कर द्वारा' के अनुसार तुलसीदासजी शरीर को उपयोगिता ही इसलिए मानते हैं कि इसके द्वारा मनुष्य आवागमन के बन्धन से मुक्त हो सकता है। पर इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कितने व्यक्ति अग्रसर हैं ? प्रायः सभी भौतिकता के भँवर में फँसे हैं।

पर उच्च शिक्षा इस उद्देश्य की पूर्ति में कहाँ तक सहायता प्रदान करती है, यही हमें देखना है। उच्च शिक्षा से ज्ञान प्रसार होता है। उससे हमारा मानसिक विकास होता है, हमारे मस्तिष्क की शक्तियाँ सशक्त होती हैं, हमारा मस्तिष्क प्रौढ़ता प्राप्त करता है। जीवन में प्रौढ़ मस्तिष्क की कितनी आवश्यकता है, कहने की आवश्यकता नहीं। क्या स्वार्थ, क्या परमार्थ, दोनों की सिद्धि के लिए मस्तिष्क की प्रौढ़ता नितान्त आवश्यक है। विश्व में ज्ञान और विज्ञान की जितनी उन्नति हुई है उसका श्रेय प्रौढ़ मस्तिष्क को ही है। अन्धकार में आलोक का किसने प्रसार किया है ? नए-नए आविष्कार किसकी उत्पत्ति है ? चिकित्सा के नए-नए साधन किसके परिणाम हैं ? यात्रा के सुगम, सुखद

और शीघ्रगामी नए-नए साधन किसके प्रसाद हैं ? मनोरंजन एवं आमोद-प्रमोद के नए-नए साधन किसने जुटाए हैं ? प्रौढ़ मस्तिष्क ने। इस प्रकार मानसिक विकास द्वारा उच्च शिक्षा समाज का पर्याप्त हित करती है। इसके अतिरिक्त मोक्ष-प्राप्ति में भी मानसिक विकास योग देता है, क्योंकि कर्तव्य अकर्तव्य, उचित अनुचित, नीति, अनीति, धर्म अधर्म, का निर्णय निर्मल बुद्धि ही कर सकती है।

उच्च शिक्षा से हमारी आत्मिक उन्नति भी होती है। जब हम साहित्य का अध्ययन करते हैं, तब महान् व्यक्तियों की गाथाओं द्वारा नीति और आचार के भाव हमारे हृदय में प्रविष्ट हो जाते हैं। गोस्वामीजी का 'रामचरितमानस' पढ़कर किसका हृदय परिष्कृत नहीं होता ? भर्तृहरिजी का नीति-शतक और वैराग्य-शतक पढ़कर किसकी आत्मा पवित्र नहीं होती ? भक्त सूर की पीयूष-वाणी से किसके मन का मैल नहीं कटता ? जो कार्य सहस्रों उपदेशक नहीं कर सकते वह साहित्य की एक पुस्तक करने में सफल होती है। आत्म-संस्कार के निमित्त साहित्य से श्रेष्ठतर अन्य कोई साधन नहीं है और मोक्ष-प्राप्ति के हेतु आत्म-संस्कार से श्रेष्ठतर अन्य कोई साधन नहीं है। इसके अतिरिक्त आत्मिक उन्नति मनुष्य को समाज सेवा की ओर भी उन्मुख करती है। जिसकी आत्मा उन्नत है, जिसकी आत्मा उच्च है, उसके हाथ स्वतः दूसरों के दुःख दूर करने के लिए, दूसरों के आँसू पोंछने के लिए, आगे बढ़ते हैं, उसका हृदय स्वतः पीड़ितों की दयनीय दशा देखकर द्रवीभूत हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उच्च शिक्षा मानव-जीवन के उद्देश्य की पूर्ति में महत्वपूर्ण योग देती है।

अब हमें देखना है कि उच्च शिक्षा हमारे दैनिक जीवन में कहाँ तक उपयोगी है । उससे हमारे जीवन में सरसता का संचार होता है, हमें समय-समय पर सहायता मिलती है । जीवन में बहुत से ऐसे अवसर आते हैं जब हमारा जी टूट जाता है, शक्तियाँ शिथिल पड़ जाती हैं और चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दिखाई देने लगता है । उन अवसरों पर इस प्रकार की साहित्यिक उक्ति हमें शान्ति दिए बिना नहीं रह सकती—

"हारिए न हिम्मत, बिसारिए न हरि नाम,
जा ही विधि राखैं राम, ताही विधि रहिए ।"

यदि हमें कष्ट भोगना पड़ता है, तो गोस्वामीजी का यह कथन—

"कोउ न काहु दुःख सुख कर दाता ।
निज कृत कर्म भोग सब भ्राता ॥"

हमारे दुःख को हलका कर देता है ।

उच्च शिक्षा हमें लोक-व्यवहार का ज्ञान कराती है । पुस्तकों में लेखकों के सांसारिक अनुभव सुरक्षित रहते हैं । उनके अध्ययन द्वारा हमें युग-युग से संचित अनुभवों का भंडार हाथ लगता है । उन अनुभवों की सहायता से हम विश्व में सफलता-पूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर सकते हैं । देखिए गिरधर कविराय की एक कुंडलिया जो लोक-व्यवहार का उपदेश देती है—

रहिए लटपट काटि दिन बरु घामहिं में सोय ।
छाँह न वाकी बैठिए जो तरु पतरो होय ॥
जो तरु पतरो होय एक दिन धोखा दै है ।
जा दिन बहै बयारि टूटि तब जर से जै है ॥

कह गिरधर कविराय छाँह मोटे की गहिए।
पाता सब झरि जाय तऊ छाया में रहिए॥

उच्च शिक्षा हमारे सामाजिक जीवन के लिए भी उपयोगी है। उसी से सामाजिक कुरीतियों, दोषों और रूढ़ियों का खंडन होता है। उसीसे मनुष्य में सामाजिक चेतना उत्पन्न होती है। उसी से मनुष्य समाज के प्रति अपने दायित्व का अनुभव करता है। यह उच्च शिक्षा का ही प्रसाद है कि हम अपने समाज के पददलित अङ्गों—नारी और अछूत—की हीन दशा सुधारने के लिए अग्रसर हो रहे हैं। यह उच्च शिक्षा का ही प्रभाव है कि पं० जवाहरलाल नेहरू आदि नेता समाज-सेवा पर तन-मन से निछावर हो गए हैं। स्व० महात्मा गांधी तथा सुभाषचन्द्र बोस नामक महान् आत्माएँ तो समाज पर बलिदान ही हो गईं।

उच्च शिक्षा से सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा होती है। सभ्यता एवं संस्कृति का भंडार होता है साहित्य और साहित्य से परिचय कराती है उच्च शिक्षा। इस प्रकार उच्च शिक्षा के अभाव में हम अपनी सभ्यता और संस्कृति से परिचित नहीं हो सकते। अतः हम पर अन्य सभ्यता का रंग आसानी से चढ़ सकता है। इसके अतिरिक्त हमें उचित शिष्टाचार भी उच्च शिक्षा ही सिखाती है। प्रायः देखा जाता है कि अशिक्षित और कम शिक्षित लोगों में संस्कृति एवं सभ्यता के अनुकूल शिष्टाचार नहीं मिलता। कहने की आवश्यकता नहीं कि शिष्टाचार, सभ्यता और संस्कृति जीवन में अत्यावश्यक हैं।

प्रश्न उठता है क्या उच्च शिक्षा रोटी की समस्या भी हल करती है ? क्या उच्च शिक्षा जीविकोपार्जन में भी सहायक है ? उच्च शिक्षा पेट की ज्वाला भी शांत करती है ? उत्तर है, भलीभाँति नहीं । हाँ, यदि नौकरी मिल जाय तो बात दूसरी है । उच्च शिक्षा अव्यावहारिक है, व्यावसायिक शिक्षा की तरह व्यावहारिक नहीं, अतः उसे प्राप्त करने के पश्चात् हमारे नवयुवक व्यावहारिक जीवन के अनुपयुक्त हो जाते हैं । वे कोई स्वतन्त्र व्यवसाय नहीं कर सकते । इसका दुष्परिणाम यह होता है कि उनका जीवन मिट्टी में मिल जाता है, उन्हें कोई दो कौड़ी का नहीं पूछता । उत्साह, बुद्धि, ज्ञान साहस और शांति होते हुए भी वे बेचारे हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहते हैं, दूसरों के मुँह ताकते रहते हैं । दूर-दूर नौकरी के लिए फिरने पर भी उनमें से अधिकांश को नौकरी नहीं मिल पाती । कितने खेद की बात है कि जो व्यक्ति अपने जीवन का लगभग अर्द्धांश शिक्षा-प्राप्ति में लगा देता है, जो तन, मन और धन सब कुछ विद्यादात्री की सेवा में अर्पण कर देता है, जिसकी सारी शक्तियाँ पढ़ने में लग जाती हैं, जिसका जीवन त्याग और विराग मय होता है, वह पेट भरने के लिए मारा-मारा फिरता है ! कितने ही होनहार नवयुवक उकताकर अपने जीवन का अन्त कर डालते हैं । कितने ही होनहार नवयुवक दूषित शिक्षा पर आँसू बहाते रहते हैं, उसे कोसते रहते हैं । इससे अधिक हृदयविदारक दृश्य और क्या हो सकता है ?

सारांश यह है कि उच्च शिक्षा मानव-जीवन के लिए नितान्त आवश्यक है । यद्यपि उससे जीविका का प्रश्न

भलीभाँति हल नहीं होता, तथापि उससे साहित्य, कला, विज्ञान और शिल्प की उन्नति होती है, जिनकी जीवन में अत्यन्त में उपयोगिता है। 'Man does not live by bread alone' के अनुसार मनुष्य केवल रोटी से ही जीवित नहीं रहता। निस्संदेह रोटी शरीर का पोषण करती है पर मन और आत्मा का नहीं। मन और आत्मा के पोषण के लिए हमें आवश्यकता होती है साहित्य और कला की, जो उच्च शिक्षा के प्रसाद हैं। इसके अतिरिक्त हमारे दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति विज्ञान और शिल्प से होती है जिनको प्रदान करनेवाली है उच्च शिक्षा।

संस्कृति और साहित्य

(१) प्रस्तावना—संस्कृति का आशय
(२) वैयक्तिक संस्कृति और साहित्य
  (क) भावों का उद्‌बोधन
  (ख) आचरण का परिष्कार
(३) सामाजिक संस्कृति और साहित्य
  (क) दोषों एवं कुरीतियों का निवारण
  (ख) मर्यादा की रक्षा
(४) साहित्य और संस्कृति का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध
(५) उपसंहार—सारांश

संस्कृति से आशय मन, वचन और कर्म की शुद्धता है। जिस जाति या समाज में मनुष्यों के हृदय परिष्कृत होंगे, उनके आचरण में शिष्टता पाई जायगी, वह जाति या

समाज संस्कृत कहा जायगा। इसी प्रकार जिस व्यक्ति के आचार-विचार पवित्र होंगे, जिसकी वाणी मधुर तथा शीतल होगी, जिसका हृदय भावुक होगा, उसमें संस्कृति के दर्शन होंगे। बुद्धि का विकास संस्कृति का लक्षण नहीं है, जैसा कि कुछ लोग समझते हैं। क्या ऐसा व्यक्ति जिसका मस्तिष्क पर्याप्त विकसित है, पर जो किसी दुखिया की दयनीय दशा देखकर नहीं पिघलता, संस्कृति पूर्ण कहा जायगा? क्या ऐसा व्यक्ति जो खूब बुद्धिमान है, पर किसी असहाय अबला पर अत्याचार होते देखकर उसकी रक्षा के लिए हाथ नहीं बढ़ाता, संस्कृति पूर्ण कहा जायगा? क्या ऐसा व्यक्ति जो बहुत पढ़ा-लिखा है, पर नीति और मर्यादा-रहित जीवन व्यतीत करता है, संस्कृति पूर्ण कहा जायगा? कदापि नहीं।

अब हमें देखना है कि साहित्य कहाँ तक संस्कृति में योग देता है, कहाँ तक उसकी रक्षा करता है। पहले वैयक्तिक संस्कृति को लीजिए। मनुष्य के भावों के उद्‌बोधन के लिए साहित्य की नितांत आवश्यकता है। मानव-जीवन की मार्मिक दशाओं का दिग्दर्शन कराकर साहित्य हृदय के भावों को जीवित रखता है, उन पर सान चढ़ाता है। मनुष्य का कार्यक्षेत्र जटिल एवं विस्तीर्ण होने के कारण उसे सदैव कार्य में व्यस्त रहना पड़ता है। वह दिनभर पेट की समस्या हल करने के हेतु कुछ-न-कुछ करता ही रहता है। किसी श्रमजीवी को देखिए। वह प्रातःकाल से सायङ्काल तक पसीने में तर इधर से उधर बोझा ढोता हुआ अथवा खटखट करती हुई मशीन पर काम करता हुआ दिखाई देगा। किसी कृषक को देखिए।

वह सूर्योदय से सूर्यास्त तक अपने प्राणाधार खेत पर काम करता हुआ दिखाई पड़ेगा। एक दुकानदार को देखिए। वह दिन भर ग्राहकों से उलझता रहता है। इस प्रकार का व्यस्त और थकानमय जीवन व्यतीत करने से मनुष्य का हृदय संकुचित हो जाता है। उसमें ऐसे कई भावों की मृत्यु हो जाती है जिनकी दैनिक जीवन में कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। आवश्यकता पड़ने पर फिर वे जीवित नहीं होते। यही कारण है कि हल जोतते समय बैलों की पीठ पर डंडा बरसाने में किसान तनिक भी नहीं हिचकिचाता और अंधी तथा भूखी बुढ़िया की याचना-सम्बन्धी विनय सुनकर दुकानदार टस से मस नहीं होता। हृदय के भिन्न-भिन्न भावों की रक्षा होती है साहित्य द्वारा। वह जीवन में घटित होने वाली घटनाओं का, जिनमें विविध भावों के उद्बोधन की सामग्री होती है, आश्रय लेकर मानव-हृदय को सजीव रखता है। उसके द्वारा भावों का व्यायाम होता रहता है। कोई कितना ही कार्य-भार से दबा हुआ क्यों न हो, यदि वह साहित्य से अपना सम्बन्ध रखता है तो सदैव सहृदय बना रहेगा। उसके हृदय में सभी भाव जीवित रहेंगे और आवश्यकतानुसार समय पर प्रकट भी हो जायँगे। वास्तव में मनुष्य की मनुष्यता को सुरक्षित रखने वाली वस्तु है साहित्य। एक उदाहरण और देखिए कि उससें भाव-उद्बोधन की कैसी शक्ति है—

"श्वानों को मिलता दूध-वस्त्र भूखे बालक चिल्लाते हैं।
माँ की हड्डी-से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं॥
युवती के लज्जा-वसन बेंच जब ब्याज चुकाये जाते हैं।
मालिक जब तेल फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं॥"

साहित्य द्वारा आचरण का भी सुधार होता है। साहित्यकार अपनी रचना में मानव-जीवन का चित्र उपस्थित करके उत्तम आचरण की शिक्षा देता है, सदाचार का पाठ पढ़ाता है। उदाहरणार्थ गोस्वामी तुलसीदास ने अपनी कविता में भगवान राम का चरित्र उद्‌घाटित करके सर्व-साधारण के समक्ष आचरण का भव्य रूप प्रस्तुत किया है, जिससे कितने ही डूबने वाले बच गए, कितने ही कुमार्ग-गामी सुधर गए, कितने ही पतित उत्थित हो गए। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

सिला साप-संताप-बिगत भइ परसत पावन पाउ।
दई सुमति सो न हेरि हरष हिय, चरन छुए पछिताउ ॥
भवधनु भंजि निदरि भूपति भृगुनाथ खाइ गए ताउ।
छमि अपराध छमाइ पाँइ परि, इतौ न अनत समाउ ॥
कह्यो राज,बन दियो नारि बस, गरि गलानि गयो राउ।
ता कुमातु को मन जोगवत ज्यों निज तनु मरमु कुघाउ ॥
कपि सेवा बस भए कनौड़े, कह्यौ पवनसुत आउ।
देबे को न कछू रिनियाँ हौं, धनिक तू पत्र लिखाउ ॥
अपनाए सुग्रीव बिभीषन, तिन न तज्यो छल-छाउ।
भरतसभा सनमानि सराहत होत न हृदय अघाउ ॥
निज करुना करतूति भगत पर चपत चलत चरचाउ।
सकृत प्रनाम प्रनत-जस बरनत सुनत कहत फिरि गाउ ॥

भला रामचन्द्रजी का ऐसा आदर्श चरित्र कहाँ तक आचरण पर प्रभाव न डालेगा ?

अब सामाजिक संस्कृति की ओर आइए। साहित्य द्वारा समाज का संस्कार होता है। साहित्यकार समाज के दोषों एवं कुरीतियों का अपनी रचना में उदघाटन

करता है, मनुष्यों को उन दोषों और कुरीतियों के निवारण के लिए उत्तेजित करता है। मान लीजिए विधवा-विवाह-निषेध का उसे विरोध करना है। वह इस कुप्रथा का खंडन करके जनता में इसके प्रति द्वेष भाव उत्पन्न करेगा। इस प्रकार समाज का सुधार करता हुआ साहित्यकार जन-साधारण का सदैव हित-साधन करता रहता है। कुछ उदाहरण देखिए—

"विधवा व्याह निषेध कियो विभिचार प्रचारयो।
रोकि विलायत गमन कूप मंडूक बनायो।।"

इस उक्ति में विधवा-विवाह-निषेध और विलायत-यात्रा-निषेध के दुष्परिणाम दिखाए गए हैं।

"नर कृत शास्त्रों के सब बन्धन
हैं नारी ही को लेकर,
अपने लिए सभी सुविधाएँ
पहले ही कर बैठे नर।"

इस उक्ति में नारी की हीनावस्था नामक सामाजिक दोष का चित्र अंकित हुआ है।

साहित्य सामाजिक मर्यादा की रक्षा करता है। प्राचीन समय से पूर्वजों ने जो मर्यादा बाँध रक्खी है उसीके अनुसार वह समाज का पथ-प्रदर्शन करता है। जैसे, वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा हिन्दू-समाज की एक मर्यादा है। संस्कृत एवं हिन्दी साहित्य में सर्वत्र इसकी रक्षा हुई है। हमारे यहाँ शिष्य के लिए गुरु पूज्य माना जाता है। यहाँ तक कि हिन्दू-मर्यादा के अनुसार उसका स्थान ईश्वर से भी ऊँचा है। कबीरजी ने इस मर्यादा की रक्षा करते हुए कहा है—

"गुरु गोविंद दोऊ खड़े काके लागूँ पाय।
बलिहारी वा गुरु की जिन गोविंद दिए मिलाय ॥"

गोस्वामीजी ने इस मर्यादा का उल्लंघन करने वाले काक-भुशुण्ड को कैसा दंड दिलाया है, यह उसी के शब्दों में देखिए—

"एक बार हरमंदिर जपत रहेउँ सिव-नाम।
गुरु आएउ अभिमान तें उठि नहिं कीन्ह प्रनाम ॥
गुरु दयालु नहिं कछु कहेउ उर न रोष लवलेस।
अति अघ गुरु अपमानता सहि नहिं सके महेस ॥"
"मंदिर माँझ भई नभ-बानी। रे हतभाग्य अग्य अभिमानी ॥
जद्यपि तव गुरु के नहिं क्रोधा। अति कृपालु उर सम्यक बोधा ॥
तदपि साप हठि देइहउँ तोहीं। नीति-विरोध सुहाइ न मोहीं ॥
जौं नहिं दंड करौं सठ तोरा। भ्रष्ट होइ स्रुति-मारग मोरा ॥"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्य संस्कृति में महत्वपूर्ण योग देता है, उसकी रक्षा करता है। वह उसको प्रभावित भी करता है, उसे अपने रंग में रँगता है। संस्कृति भी साहित्य को प्रभावित करती है। जिस समाज में साहित्यकार उत्पन्न होता है उसकी संस्कृति की छाप उस पर पड़ती है, उसकी संस्कृति उसकी रग-रग में बिधी रहती है, उसकी संस्कृति उसमें ओत-प्रोत होती है। अतः उसकी रचनाओं में उस संस्कृति का रूप प्रकट हुए विना नहीं रह सकता। वह उसके प्रभाव से नहीं बच सकता। हाँ, वह अपनी प्रतिभा के बल से उसके दोषों से बच सकता है और उनके बहिष्कार की योजना भी अपनी कृतियों द्वारा कर सकता है। वास्तव में संस्कृति और साहित्य दोनों में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

सारांश यह है कि संस्कृति और साहित्य दोनों मिल कर समाज का हित-साधन करते हैं प्रत्येक की समाज को आवश्यकता है। संस्कृति बिना समाज असभ्य होता है। जिस समाज में शिष्टाचार नहीं, जिस समाज में आचार-विचार नहीं, जिस समाज में शिष्टता नहीं, जिस समाज की रहन-सहन जंगलियों की सी है, उसका अस्तित्व ही व्यर्थ है। उसी प्रकार साहित्य बिना समाज असभ्य होता है। उसके प्रत्येक व्यक्ति को भर्तृहरिजी पशु तुल्य समझते हैं। देखिए—

"साहित्य संगीत कला विहीनः
साक्षात पशुः पुच्छविषाण हीनः"

स्त्रियों की उच्च शिक्षा और भारतीय गार्हस्थ्य जीवन एवं संस्कृति

(१) प्रस्तावना—पाश्चात्य सभ्यता का भारत पर प्रभाव
(२) स्त्रियों की उच्च शिक्षा का रूप और उसकी अनुपयुक्तता
(३) स्त्रियों की उच्च शिक्षा और भारतीय गार्हस्थ्य जीवन
 (क) उसका गार्हस्थ्य जीवन के अनुपयुक्त होना
 (ख) उसके द्वारा स्त्रियों में घरेलू काम-काज से घृणा पैदा होना
 (ग) उसके द्वारा स्त्री-सुलभ भावों की हानि
(४) स्त्रियों की उच्च शिक्षा और भारतीय संस्कृति
 (क) आचार भ्रष्टता
 (ख) फैशन की गुलामी
 (ग) दिखावटीपन
(५) उपसंहार—सारांश

के रखने से व्यय में अभिवृद्धि होती है। उनके सम्पर्क एवं संगति का कुप्रभाव बालक-बालिकाओं पर पड़ता है, क्यों कि उनमें शिक्षा, सभ्यता, संस्कृति, शिष्टाचार तथा सच्चरित्रता का प्रायः अभाव होता है। उनमें अधिकतर चोरी की लत पाई जाती है। वे अवसर पाने पर स्वयं घर का सामान चुराते रहते हैं और कभी-कभी अन्य साथियों द्वारा घर को कुड़की करा देते हैं। इस प्रकार घर का चौपट तो होता ही है शारीरिक परिश्रम न करने से गृहणियों का स्वास्थ्य भी बिगड़ जाता है और वे अनेक रोगों से आक्रान्त हो जाती हैं। यह है भारतीय नारियों की वर्तमान दशा। प्राचीन काल में यह दशा न थी। राजा-महाराजाओं की स्त्रियाँ भी अपने हाथों से अपने घर के काम-काज करती थीं। देखिए प्रातः स्मरणीय भगवान रामचन्द्रजी की पत्नी सीताजी के गार्हस्थ्य जीवन का एक चित्र——

"निज कर गृह परिचरजा करई।
रामचन्द्र सुआय अनुसरई॥"

कहाँ हमारा वह प्राचीन आदर्श और कहाँ पाश्चात्य सभ्यता का यह निकृष्ट प्रभाव।

उच्च शिक्षा से स्त्री-सुलभ वृत्तियों को हानि पहुँचती है। अधिक मानसिक व्यायाम से उन पर आघात होता है और वे मरने लगती हैं। एक उच्च शिक्षित नारी को देखिए। उसमें न वैसी हृदय की आर्द्रता मिलेगी, न वैसी स्निग्धता मिलेगी, न वैसी पर दुःख कातरता मिलेगी, न वैसी कोमलता मिलेगी, न वैसी दयालुता मिलेगी, न वैसी स्नेह-मधुरिमा मिलेगी जैसी एक साधारण नारी में। वह

कुछ-कुछ पुरुषोचित भावों को ग्रहण करती हुई मिलेगी। कहने की आवश्यकता नहीं कि गार्हस्थ्य जीवन में स्त्री-सुलभ वृत्तियों की कितनी आवश्यकता है। सन्तान का लालन-पालन तो पूर्णतया उन्हीं पर निर्भर है।

स्त्रियों की उच्च-शिक्षा से भारतीय संस्कृति को भारी धक्का लगा है। आजकल युवकों तथा युवतियों के अध्ययन की व्यवस्था प्रायः एक ही कालेज में की जाती है। उनके लिए पृथक्-पृथक् शिक्षालय बहुत कम स्थापित हुए हैं। इस व्यवस्था से आचार-भ्रष्टता फैल रही है। १० वर्ष की आयु तक सह-शिक्षा प्रदान करना बुरा नहीं है। किन्तु दाम्पत्य भाव के उदय होने पर इस प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था वर्जनीय है, क्योंकि इससे व्यभिचार को उत्तेजना मिलती है। युवावस्था में बुद्धि रागों से आक्रान्त रहती है। अतः युवकों तथा युवतियों का एक साथ रहकर अपनी रक्षा करना दुर्लभ है। प्रायः उनका पतन हो ही जाता है। प्रलोभनमय वातावरण में अपनी रक्षा करना मनुष्य के लिए टेढ़ी खीर है

"काजर की कोठरी में कैसो हू सयानो जाय,
एक लीक काजर की लागि है पै लागि है।"

हमारी संस्कृति के अनुसार अविवाहित स्त्री तथा पुरुष का सम्बन्ध अक्षम्य है। हमारे यहाँ स्वप्न में भी स्त्री के लिए परपुरुष का और पुरुष के लिए पर स्त्री का निहारना हेय समझा जाता है। रामचन्द्रजी स्वयं इस आदर्श का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

"मोहि अतिशय प्रतीति मन केरी।
जेहि सपनेहु परनारि न हेरी॥"

वर्तमान उच्च शिक्षा-प्राप्त स्त्रियों में फैशन की गुलामी बहुत देखी जाती है। बाह्य सजावट की वस्तुओं में रुपये उड़ाना उन्हें नहीं अखरता। क्रीम, पाउडर, सेंट, सुगंधित तेल, लिपस्टिक, नेल-कलर, कपोल-लाली, रिस्टवाच, तथा तरह-तरह की रङ्ग-बिरङ्गी साड़ियों द्वारा दिन भर शरीर की टीमटाम में संलग्न रहना उन्हें प्रिय है। वे सदैव स्वच्छन्द विहारिणी तितली की भाँति सुसज्जित रहना चाहती है, सादगी प्रिय भारतीय ललना की भाँति नहीं। वे सदैव नुमाइशी पुतली बनी रहना चाहती है, गृह-कार्य में संलग्न गृह-देवी नहीं। वे सदैव अतीन्द्रिय जगत की परी बनी रहना चाहती है, इस लोक की गृहिणी नहीं। वे सदैव शृङ्गार के कल्पना-क्षेत्र में विचरण करना चाहती है, जीवन की विषमताओं से पूर्ण गृहस्थाश्रम में नहीं। यहाँ तक कि कुछ तो वैवाहिक बन्धन से ही अपने को मुक्त रखती हैं। यह भारतीय संस्कृति के विरुद्ध है। क्योंकि उसके अनुसार विवाह एक धार्मिक संस्कार है। 'सादा जीवन, उच्च विचार' भारतीय संस्कृति का मूल मन्त्र है। पर भारतीय स्त्रियाँ विदेशी साँचे में ढलकर इसकी अवहेलना कर रही हैं और चटक-मटक तथा तड़क-भड़क के पीछे बुरी तरह पड़ी हैं। आकर्षक वेश-भूषा ही उनके जीवन का लक्ष्य हो गया है।

उच्च शिक्षा पाकर हमारे यहाँ की स्त्रियों में दिखावटीपन भी आ जाता है। यह भी पाश्चात्य प्रभाव है। दूसरों के

समक्ष अपने को बढ़ा-चढ़ाकर प्रस्तुत करना, अपने को उच्च प्रकट करना, अपना ठाट-बाट प्रदर्शित करना, अपनी शान-शौकत दिखाना उन्हें अधिक रुचता है। भले ही घर के अन्दर पहिनने को फटे-पुराने वस्त्र हों; पर बाहर के लिए बढ़िया-बढ़िया साड़ियाँ चाहिएँ। भले ही घर में खाने को रूखा-सूखा भोजन मिले; पर बाहर के लिए मिष्टान्न-पक्वान्न चाहिएँ। इस प्रकार अपनी वास्तविक स्थिति छिपाने की प्रवृत्ति उनमें बहुत देखी जाती है। इसके प्रतिकूल आन्तरिक तथा बाह्य साम्य भारतीय संस्कृति का प्रधान लक्षण है।

सारांश यह है कि वर्तमान उच्च शिक्षा भारतीय नारियों के लिए हितकर नहीं है वह न भारतीय संस्कृति की रक्षा करती है और न नारी-जाति को गार्हस्थ्य जीवन के लिए तैयार करती है। हमारे देश की स्त्रियों को आवश्यकता है ऐसी उच्च शिक्षा की जो उन्हें अपने कर्तव्य-पथ का ज्ञान कराए, जो उन्हें गृहस्थाश्रम के लिए तैयार करे, जो उन्हें गृह-लक्ष्मी बनने में सहायता प्रदान करे, जो उन्हें फैशन की दासता तथा दिखावटीपन मुक्त करके जीवन की आन्तरिकता की ओर उन्मुख करे, जो उनके आचरण की रक्षा करे, जो उनकी स्वाभाविक वृत्तियों का विकास करे, जो उन्हें 'सादा जीवन, उच्च विचार' का पाठ पढ़ावे। ऐसी उच्च शिक्षा भारतीय नारियों का, नहीं-नहीं समस्त भारतीय राष्ट्र का कल्याण करेगी।

कविता के अपेक्षित साधन

(१) प्रस्तावना—कविता का लक्षण
(२) कविता के अपेक्षित साधन
(क) भाव
(ख) कल्पना
(ग) मानव-जीवन
(घ) प्रकृति
(ङ) भाषा
(च) छन्द
(३) उपसंहार—सारांश

कविता क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर आचार्यों ने पृथक्-पृथक् दिया है। कोई अलंकार को कविता मानते हैं तो कोई विशिष्ट पद-रचना को। कोई उक्ति के अनूठेपन को कविता कहते हैं तो कोई रमणीय अर्थपूर्ण वाक्य को। इन सबके उत्तर भ्रमपूर्ण हैं। वास्तव में कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और उसका निर्वाह होता है। दूसरे शब्दों में हम यों कह सकते हैं कि सृष्टि के नाना रूपों के साथ मनुष्य के हृदय का सामंजस्य स्थापित करना ही कविता का लक्ष्य है। मानव-हृदय अनेक भावों का का भंडार है। अतः भावों के प्रतिपादन द्वारा ही कविता अपने लक्ष्य तक पहुँच सकती है, सृष्टि के साथ मनुष्य-हृदय का सम्बन्ध स्थापित रख सकती है।

यों तो भाव अनेक हैं, किन्तु नौ प्रधान हैं—रति

(प्रेम), शोक, क्रोध, उत्साह, हास्य, भय, घृणा, आश्चर्य और विरक्ति। ये स्थायी भाव कहलाते हैं, क्योंकि इनको अन्य भाव दबा नहीं सकते और ये चिरकाल तक रह-कर हृदय को तन्मय कर देते हैं। पाठक या श्रोता को रसमग्न करने के लिए कविता में इनका प्रयोग होता है; उसे प्रभावित करने के लिए कविता में ये प्रयुक्त होते हैं। मनुष्य को कार्य में प्रवृत्त करानेवाली वृत्ति हृदय में रहती है। मस्तिष्क द्वारा किसी कार्य के गुण-दोषों की विवेचना करके हम उसमें संलग्न अथवा उससे विरत नहीं होते। कोई कार्य कितना ही लाभदायक क्यों न हो, यदि उसमें हमारे हृदय का योग नहीं है, यदि वह हमें अच्छा नहीं लगता, यदि वह हमारी रुचि के अनुकूल नहीं है, तो हम उसकी ओर हाथ नहीं बढ़ाएँगे। भावों को कविता के प्राण समझिए। बिना इनके वह निर्जीव, नीरस तथा निष्फल है, सच पूछिए तो वह कविता ही नहीं है, तुक-बन्दी मात्र है। देखिए निम्नांकित एक उदाहरण जिसमें भाव-व्यंजना के कारण कविता कितनी सजीव, कितनी हृदयस्पर्शी, कितनी प्रभावोत्पादक हो गई है—

'पर, शिशु का क्या हाल सीख पाया न अभी जो आँसू पीना ?
चूस-चूस सूखा-स्तन माँ का सो जाता रो विलप नगीना ॥
विवश देखती माँ अँचल से नन्हीं जान तड़प उड़ जाती।
अपना रक्त पिला देती यदि फटती आज वज्र की छाती ॥

अथवा

"ऊधो इतनी कहियो जाय।
अति कृशगात भई हैं तुम बिनु बहुत दुखारी गाय ॥
जल-समूह बरसत अँखियन तें हूँकति लीन्हें नावँ।
जहाँ जहाँ गोदो हन करते हूँढति सोइ-सोइ ठावँ ॥"

पर यह सजीवता, यह हृदय-स्पर्शिता, यह प्रभावोत्पादकता संभव नहीं थी, यदि भाव कल्पना की सहायता न लेता। कल्पना द्वारा ही घटना की अवतारणा की जाती है, जिससे पाठक या श्रोता के नेत्रों के सम्मुख चित्र उपस्थित हो सके। यद्यपि भाव कल्पना की सहायता बिना भी प्रभाव डालता है, तथापि वह उतना स्थायी एवं मर्मस्पर्शी नहीं होता। पूर्ण तथा मार्मिक प्रभाव डालने के लिए, तल्लीन करने के लिए, रसमग्न करने के लिए, यह आवश्यक है कि कविता में भाव और कल्पना दोनों का प्रयोग हो। रस की उत्पत्ति में विभाव और अनुभावों की सृष्टि कल्पना द्वारा ही होती है। मान लीजिए भयानक रस की उद्‌भावना करनी है। कल्पना द्वारा किसी घटना का आरोप करना पड़ेगा। जैसे—रात्रि का समय है। निर्जन पथ पर एक मनुष्य जा रहा है। वह यकायक अपने पैरों के पास रेंगते हुए एक सर्प को देखता है। सर्प को देखते ही वह चीखकर भागता है। यहाँ सर्प, रात्रि का समय और निर्जनता विभाव हैं। मनुष्य का भागना अनुभाव है। रस के शेष अंग स्थायी भाव और संचारी भाव तो भाव ही हैं।

केवल कल्पना द्वारा कविता की सृष्टि नहीं हो सकती। कलावाद के पुजारियों की यह धारणा कि अनूठी उक्ति ही कविता है, भ्रमपूर्ण है। वह कविता कविता नहीं है जिसमें केवल कल्पना ही कल्पना हो, जिसमें केवल आकाश में ही उड़ान लगाई गई हो। उसे हम सूक्ति कह सकते हैं। उसको सुनकर अथवा पढ़कर दूर की सूझ के कारण, उक्ति के अनूठेपन के कारण, हम

वाह्-वाह् कर सकते हैं, खिलखिला सकते हैं; पर भाव-सागर में निमग्न नहीं हो सकते। केशवदासजी का निम्नांकित सोरठा कविता नहीं है, सूक्ति है—

"चढ़यो गगन-तरु धाइ, दिनकर-बानर अरुण मुख।
कीन्हों झुकि झहराइ, सकल तारका कुसुम बिन॥"

कविता में अलंकार-योजना कल्पना द्वारा की जाती है। प्रस्तुत के लिए अप्रस्तुत तथा उपमेय के लिए उपमान कल्पना का काम है। अलंकारों से कविता में रमणीयता का समावेश हो जाता है। आचार्य दंडी ने कहा है—

"काव्यशोभाकरान्धर्मानलङ्कारान्प्रचक्षते।"

अर्थात् काव्य की शोभा करनेवाले धर्म अलंकार कहलाते हैं।

एक उदाहरण लीजिए और देखिए किस प्रकार से कविता सुन्दर हो गई है—

"मन अगहुँड़ तनु पुलक सिथिल भयो,
नलिन—नयन भरे नीर।
गड़त गोड़ मानो सकुच पंक महँ,
कढ़त प्रेम—बल धीर॥"

यहाँ संकोच और प्रेम दो भावों का समन्वय हुआ है। कवि ने कल्पना के योग से उत्प्रेक्षा अलंकार की योजना करके 'गड़त गोड़ मानो सकुच पंक महँ' कहा है। भरतजी के पैर संकोच के कारण आगे नहीं पड़ते मानो कीचड़ में गड़ रहे हों। इस उक्ति में कितनी सुन्दरता है, कितनी स्वाभाविकता है! सचमुच संकोचाधिक्य में आगे बढ़ने में

पैरों की ठीक वही दशा होती है जो कीचड़ में फँसे हुए व्यक्ति के पैरों की। कवि की इस उत्प्रेक्षा ने संकोच के भाव को उत्कर्षता प्रदान करके कविता को अधिक सुन्दर बना दिया है।

भाव तथा कल्पना के अतिरिक्त कविता का अपेक्षित साधन मानव-जीवन है। बिना इसकी विवेचना के, बिना इसके प्रतिपादन के, सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा नहीं हो सकती। इसके विविध पहलुओं, विविध दशाओं, का प्रतिपादन करती हुई कविता मनुष्य-समाज के प्रति सहानुभूति का द्वार खोलती है। इसकी मार्मिक-परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराती हुई कविता मनुष्य के भावों को जीवित रखती है। कोई कितना ही कार्यभार से क्यों न दबा रहता हो, यदि वह कविता से सम्बन्ध रक्खेगा तो सर्वदा सहृदय बना रहेगा। उसके हृदय के सभी भाव जीवित रहेंगे और उपयुक्त अवसर पाकर जाग्रत हो जायँगे। इस प्रकार कविता मनुष्य को जड़ होने से बचाती है और सृष्टि के साथ उसके रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा करती है। इसके अतिरिक्त कविता मानव-जीवन का प्रतिपादन करके वैयक्तिक-सांत्वना की सामग्री भी जुटाती है। जब मनुष्य को शोक होता है तब 'रामचरितमानस' में विलाप करते हुए शोकाकुल दशरथजी की दशा देखकर अपने हृदय को हलका करता है। जब मनुष्य पर आपत्ति आती है तब वल्कल वस्त्रधारी राम को वन-मार्ग में पैदल जाते हुए तथा शीत, धूप एवं वर्षा का दुःख सहते हुए देखता है तब वह अपने दुःख को वैसा नहीं समझता।

प्रकृति भी कविता का अपेक्षित साधन है। उसमें हमारे भावों को जाग्रत एवं सशक्त करने की शक्ति कम नहीं है। फूल, पत्ती, पशु, पक्षी, मेघ, सागर, नदी, नाले निर्झर, विद्युत, खेत आदि प्रकृति के विविध अङ्ग हमारे हृदय को अधिक आकृष्ट करते हैं। जब हम लहलहाते हुए हरे भरे खेतों को देखते हैं तब आह्लादित होते हैं। जब हम अरुणोदय के समय लाल-पीले मेघों की छटा देखते हैं तब हमारा मन उनकी ओर खिंचता है। जब हम चाँदी के समान उज्ज्वल झरने को चट्टानों के साथ अठखेलियाँ करते हुए देखते हैं तब हमारा मन उसमें लीन हो जाता है। जब हम मेघों की घोर गड़गड़ाहट सुनते हैं तब भयभीत हो जाते हैं। जब हम नदी को बाढ़ के समय मनुष्य, पशु, द्रव्यादि को बहाता हुआ देखते हैं तब दुःखी होते हैं। जब हम ओलों द्वारा अपनी खेती को नष्ट हुआ देखते हैं तब शोक-सागर में निमग्न हो जाते हैं। जब हम सिंह को अपने मित्र पर आक्रमण करता हुआ देखते हैं तब क्रोध से भर जाते हैं।

भाषा तो कविता का शरीर ही है। जिस प्रकार शरीर के अस्तित्व से जीव की स्थिति संभव है, उसी प्रकार भाषा के अस्तित्व से कविता की स्थिति संभव है। यदि शरीर न हो तो जीव के दर्शन नहीं हो सकते। उसी प्रकार यदि भाषा न हो तो कविता देखने को न मिले। कविता को पाठक के नेत्रों और श्रोता के कानों तक पहुँचाने वाला साधन भी भाषा है। इस प्रकार देखते हैं कि भाषा के अभाव में न कविता की रचना की जा सकती है और

न कविता प्रेषणीय हो सकती है। अतः भाषा कविता का महत्वपूर्ण अपेक्षित साधन है।

छन्द भी कविता का अपेक्षित साधन है। यह वह साधन है जो कविता पद्य को गद्य से पृथक् करता है। जिस रचना में वर्णों और मात्राओं की गणना तथा यति और गति सम्बन्धी नियम पाए जाते हैं उसे छन्द कहते हैं। छन्द कई प्रकार के होते हैं—मात्रिक, वर्णिक, तुकान्त एवं अतुकान्त। इधर कुछ दिनों से कविता छन्द-बन्धन से मुक्त होने का प्रयास कर रही है। यह स्वतन्त्रता का युग है फिर कविता ही क्यों परतन्त्र रहे? फलस्वरूप आधुनिक कई कवि छन्द-मुक्त कविता कर रहे हैं। एक उदाहरण लीजिये—

"देह के द्वार पर
मोह की माधुरी
कितने ही बार पी मूर्छित हुए हो, प्रिय,
जगती मैं ही रही,
गह बाँह-बाँह में भरकर सम्हाला तुम्हें।"

पर यह प्रवृत्ति अच्छी नहीं है। छन्द-विधान से कविता में मधुरता आती है, वह संगीतमय हो जाती है छन्द से मुख मोड़कर कविता अपनी प्रभावोत्पादिका खो बैठगी।

सारांश यह है कि भाव, कल्पना, मानव-जीवन, प्रकृति, भाषा और छन्द, ये कविता के अपेक्षित साधन हैं। इनमें से किसी की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। सभी के पारस्परिक योग से कविता की सृष्टि होती है।

भारतीय विश्वविद्यालयों की शिक्षा

(१) प्रस्तावना—भारतीय विश्वविद्यालयों की शिक्षा की दोषपूर्णता
(२) दोष
(क) बहु-व्यय-साध्यता
(ख) विदेशी भाषा द्वारा शिक्षा-प्रदान
(ग) मौलिकता का अभाव
(घ) अव्यावहारिकता
(ङ) धार्मिकता का अभाव
(च) अनुशासन-हीनता
(छ) फैशन-दासता और रहन-सहन का ऊँचा होना
(३) गुण
(क) ज्ञानवृद्धि एवं मानसिक विकास
(ख) स्वतंत्रता और देश-प्रेम की भावनाओं का संचार
(ग) सामाजिक चेतना की उत्पत्ति
(४) उपसंहार—सारांश

जिस प्रकार शरीर-रक्षा के लिए पुष्टिकर भोजन की आवश्यकता होती है उसी प्रकार मस्तिष्क एवं आत्मा की रक्षा के लिए सुशिक्षा की आवश्यकता होती है। हमारे देश में अभी तक जो शिक्षा प्रचलित है वह सुशिक्षा के नाम से विभूषित नहीं हो सकती। क्या प्रारम्भिक, क्या माध्यमिक, क्या विश्वविद्यालीय, सभी प्रकार की शिक्षा दूषित है। स्वाधीनता प्राप्त हो जाने पर जन प्रिय राष्ट्रीय सरकारें शिक्षा की समस्या को सुलझाने में और शिक्षा को दोष मुक्त करने में व्यस्त हैं। उसके पुनर्सङ्गठन की योजनाएँ बन रही हैं। संयुक्तप्रान्त की सरकार आगामी जुलाई से ही

आरम्भिक तथा माध्यमिक शिक्षा के पुनर्सङ्गठन की योजनाओं को कार्यान्वित करने जा रही है। अन्य प्रान्तों में भी शिक्षा-सम्बन्धी सुधार हो रहे हैं। पर अभी तक विश्व-विद्यालीय शिक्षा-सम्बन्धी कोई योजना नहीं बनी है। हमें यहाँ विश्वविद्यालय की शिक्षा पर ही विचार करना है। भारतीय विश्वविद्यालय की शिक्षा में बहुव्ययसाध्यता का दोष विद्यमान है, जिसके कारण वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए सुलभ नहीं है। भारतवर्ष गरीब देश है। यहाँ प्रत्येक मनुष्य ६० या ७० रुपये मासिक व्यय करके विश्वविद्यालय की शिक्षा नहीं प्राप्त कर सकता। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि बड़े-बड़े होनहार नवयुवक, जिनमें कुशाग्र बुद्धि है, जिनमें प्रतिभा है, जो अध्यवसायी है, जो मानसिक शक्तियों से सम्पन्न हैं पर पैसेवाले नहीं हैं; विश्वविद्यालय की शिक्षा से वंचित रह जाते हैं और उन्नति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकते। इससे देश को भी हानि होती है। वह उनकी बहुमूल्य सेवाओं से लाभान्वित नहीं हो पाता। शिक्षा का द्वार तो प्रत्येक नागरिक के लिए खुलना चाहिए। यदि सरकार निःशुल्क उच्च शिक्षा की व्यवस्था करने में असमर्थ हो तो वह उसे कम से कम साध्य बनावे, जिससे प्रत्येक व्यक्ति, जिसमें क्षमता है, उसे प्राप्त करने में समर्थ हो सके।

हमारे विश्वविद्यालयों की शिक्षा में दूसरा दोष विदेशी भाषा द्वारा शिक्षा-प्रदान है। शिक्षा का माध्यम अँगरेजी होने के कारण देश को भारी हानि पहुँची है। हमारी सभ्यता तथा संस्कृति पर कुठाराघात हुआ है। हम लोग अँगरेजों के ताल-सुर पर नाच रहे हैं। हम लोग उनकी

सभ्यता का, उनकी रहन-सहन का, अनुकरण करने में अपना सौभाग्य तथा महत्व समझ रहे हैं। हम लोग भारतीय रीत-नीति, भारतीय आचार-विचार, भारतीय रहन-सहन, भारतीय खान-पान; भारतीय वेश-भूषा से, मुख मोड़ रहे हैं। न हममें आत्म-सम्मान रह गया है और न जातीयता। हम प्रत्येक बात के लिए पश्चिम क दरवाजा खटखटाते हैं। इसके अतिरिक्त ज्ञानोपार्जन में भी पर्याप्त रुकावट होती है। विद्यार्थी को किसी विषय का अध्ययन करते समय पहले भाषा-सम्बन्धी गुत्थियाँ सुलझानी पड़ती हैं। जब वह अँगरेजी भाषा में लिखी हुई इतिहास, भूगोल, विज्ञान, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र आदि की पुस्तकें पढ़ता है तब पहले भाषा को समझने का प्रयास करता है, तत्पश्चात् विषय को। यदि भाषा समझ में न आई तो विषय के समझना उसके लिए असम्भव हो जाता है। विदेशी भाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना टेढ़ी खीर है। अतः भाषा सम्बन्धी कठिनाइयां उपस्थित हुआ ही करती हैं। विदेशी भाषा के भँवर में पड़कर विद्यार्थी ज्ञानोपार्जन में बड़ी कठिनाई का अनुभव करता है।

हमारे विश्वविद्यालयों की शिक्षा में तीसरा दोष यह है कि वह हमारे नवयुवकों में मौलिकता उत्पन्न नहीं करती, उन्हें इस योग्य नहीं बनाती कि वे सांसारिक ज्ञानवृद्धि में स्वयं कुछ योग दे सकें। यही कारण है कि हमारे देश में पाश्चात्य देशों की भाँति आविष्कारक, अन्वेषक, साहित्यकार, कलाकार आदि पैदा नहीं होते और होते भी हैं तो इने गिने। मौलिकता की उत्पत्ति के हेतु यह आवश्यक है कि अध्यापक ज्ञानोपार्जन में विद्यार्थियों का केवल पथ-प्रदर्शन

करें और उन्हें अपनी कठिनाइयाँ स्वयं हल करने के लिए प्रोत्साहित करें। इससे यह लाभ होगा कि नवयुवक अपनी शक्तियों से काम लेना सीखेंगे और उसमें स्वावलम्बन की भावना पैदा होगी, जो आगे चलकर मौलिकता को जन्म देगी। आजकल विश्वविद्यालयों के अध्यापक ऐसा नहीं करते। वे विद्यार्थियों के मस्तिष्क को स्वयं ज्ञान से भरते रहते हैं। उन्हें प्रदान रुचिकर है, सहायता नहीं फिर मौलिकता का आविर्भाव कैसे हो ?

हमारे विश्वविद्यालयों की शिक्षा में चौथा दोष उसकी अव्यावहारिकता है। वह केवल पुस्तक-गत ज्ञान ही प्रदान करती है, केवल मानसिक व्यायाम ही कराती है। कालेजों में जिन विषयों की शिक्षा दी जाती है उनका जीवन में कोई उपयोग नहीं, जो बातें बताई जाती हैं उनका जीवन में कोई व्यवहार नहीं। इसके अतिरिक्त विश्वविद्यालयों की शिक्षा जीवकापार्जन में भी सहायक नहीं है। इसका दुष्परिणाम शिक्षित नवयुवकों में भयंकर बेकारी है। यदि कहीं नौकरी मिल गई तो ठीक है, अन्यथा भूखा मरना पड़ता है। प्रत्येक को नौकरी मिलना असंभव है। फिर किस प्रकार उदर-पोषण किया जाय ? आवश्यकता इस बात की है कि विश्वविद्यालीय शिक्षा को व्यवहारिकता प्रदान की जाय, उसको जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में साहायता प्रदान करने वाली बनाया जाय, जिससे हमारे नवयुवक परमुखापेक्षी न रहें और उनके जीवन में सरसता का संहार हो।

हमारे विश्वविद्यालयों की शिक्षा में पाँचवाँ दोष है

धार्मिकता का अभाव। कालेजों में न धर्म के सिद्धान्तों का परिचय कराया जाता है और न अभ्यास। अतः छात्र धर्म से उदासीन होकर शताब्दियों के संचित पुनीत संस्कारों से वंचित हो जाते हैं। इससे उनकी आत्मा का पतन होता है। न उनमें संयम पाया जाता है और न गुरुजनों के प्रति आदरभाव। 'विद्या ददाति विनयं' उक्ति उन पर कदापि लागू नहीं होती। यहाँ तक कि कुछ नवयुवक तो धर्म को ढकोसला तथा चरित्र को पाखंड समझने लगते हैं और घोर भौतिकवादी हो जाते हैं। 'Eat, drink and be merry' अर्थात् 'खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ' उनके जीवन का लक्ष्य हो जाता है। आत्मा की उन्हें क्या चिंता?

हमारे विश्वविद्यालयों में अनुशासन-सम्बन्धी कोई शिक्षा नहीं दी जाती। यह छठवाँ दोष है। नागरिक जीवन में अनुशासन (discipline) की कितनी महत्ता है, कहने की आवश्यकता नहीं। अनुशासनहीन जीवन जीवन नहीं है। फिर भी हमारे कालेजों के नवयुवक अनुशासन की कुछ भी परवाह नहीं करते, बल्कि उसके उल्लंघन में अपनी शान समझते हैं। छुट्टी होने पर सड़क का दृश्य देखिए। धक्का-मुक्की, हू-हुल्लड़ और गाली-गलौज की कमी न मिलेगी। कक्षा से यदि कहीं एक मिनट के लिए अध्यापक चला जाय तो वहाँ तूफान आ जाय। छोटी-छोटी बातों पर बिगड़कर हड़ताल कर देना, अध्यापकों से उलझने में तनिक भी हिचकिचाहट न करना, उनका खाका खींचना, सभा-समितियों में हुल्लड़ करना इत्यादि बातें विद्यार्थियों की अनुशासन-हीनता की द्योतक है। आए दिन

उनकी उच्छृङ्खलता की कहानियाँ समाचार-पत्रों में प्रकाशित होती रहती हैं।

हमारे विश्वविद्यालयों की शिक्षा का सातवाँ दोष यह है कि उसने नवयुवकों की रहन-सहन ऊँची कर दी है। 'Plain living and high thinking' अर्थात् 'सादा जीवन और उच्च विचार' भारतीय संस्कृति का मूलमंत्र है। विश्वविद्यालीय शिक्षा ने विद्यार्थियों को फैशन का दास बनाकर इस पर कुठाराघात किया है। हमारे विद्यार्थी बाह्य सजावट की वस्तुओं में रुपये उड़ाते हुए नहीं हिचकिचाते। दिन भर शरीर के शृङ्गार में संलग्न रहना उन्हें प्रिय है। सूट, बूट, टाई, रिस्टवाच, क्रीम, पाउडर, सेंट आदि बिना उनका काम नहीं चल सकता। आकर्षक वेश-भूषा और ठाट-बाट को ही उन्होंने जीवन का लक्ष्य समझ रक्खा है। इस प्रकार उनकी रहन-सहन तो ऊँची हो गई है; पर धनोपार्जन के लिए शिक्षा ने उनमें कोई शक्ति उत्पन्न नहीं की है। फलतः विषम स्थिति पैदा हो गई है। किस प्रकार ऊँची रहन-सहन का खर्च चले ?

ये तो हुईं विश्वविद्यालीय शिक्षा-सम्बन्धी दोषों की बातें। अब गुणों की ओर आइए। सबसे बड़ा गुण यह है कि विश्वविद्यालयों की शिक्षा ने मानसिक विकास और ज्ञान वृद्धि में महत्वपूर्ण योग दिया है। विविध विषयों के मनन एवं अनुशीलन से हमारे मस्तिष्क का व्यायाम होता है और उसकी शक्तियाँ विकसित होती हैं। पुस्तकों में हमें विश्व के प्राचीन एवं अर्वाचीन प्रकाण्ड विद्वानों तथा प्रतिभाशाली व्यक्तियों के अनुभवों का भंडार मिलता

है जिनकी सहायता से हम अपने ज्ञान में वृद्धि करते हैं। पुस्तकों के माध्यम द्वारा कालेजों के विद्यार्थी अखिल-विश्व के वैज्ञानिकों और कलाकारों के सम्पर्क में आते हैं जिनके ज्ञान की आज तक धाक जमी हुई है। वे नवीन से नवीन आविष्कार, नवीन से नवीन अन्वेषण, नवीन से नवीन सिद्धान्त, से अभिज्ञ किए जाते हैं। आज तक ज्ञान-विज्ञान-क्षेत्र में जितनी उन्नति हुई है और हो रही है उससे वे परिचित कराए जाते हैं। फलस्वरूप आजकल के कालेज के विद्यार्थी को जो ज्ञान होता है वह अतीत काल के बड़े से बड़े विद्वान् को भी न था।

विश्वविद्यालयों की शिक्षा का दूसरा गुण विद्यार्थियों में देश-प्रेम तथा स्वतन्त्रता की भावनाओं का संचार है। पाश्चात्य देशों की रीति-नीति से सम्पर्क में लाकर विश्व-विद्यालीय शिक्षा ने हमारे नवयुवकों में इन भावनाओं को उत्पन्न किया है। पाश्चात्य साहित्य देश-प्रेम एवं स्वतन्त्रता की गाथाओं से जगमगा रहा है। उस साहित्य के अध्य-यन से हमारे नवयुवक प्रभावित होते हैं। पर यह खेद की बात है कि स्वतन्त्रता के भाव के साथ-साथ उनमें आत्म संयम नहीं आता।

हमारे विश्वविद्यालयों की शिक्षा में तीसरा गुण यह है कि उससे विद्यार्थियों में सामाजिक चेतना (social sense) उत्पन्न होती है, वे समाज के प्रति अपना कर्तव्य समझने लगते हैं। यह भी पाश्चात्य प्रभाव है। इँगलैण्ड, अम-रीका आदि देशों में कोई व्यक्ति समाज को नहीं भुला सकता, ऐसा कार्य नहीं कर सकता जिससे समाज का

अहित हो। जहाँ सामाजिक हित तथा वैयक्तिक हित में द्वन्द्व होता है वहाँ सामाजिक हित की ही रक्षा की जाती है। उन देशों में व्यक्ति समाज के लिए है, समाज व्यक्ति के लिए नहीं। यह आदर्श तो अभी हमारे यहाँ नहीं मिलेगा; किन्तु विश्वविद्यालीय शिक्षा के परिणाम स्वरूप भारतीय समाज के प्रति अपने दायित्व का कुछ-कुछ अनुभव करने लगे हैं और अपनी स्वार्थ-साधना के साथ-साथ सामाजिक हित-साधना के लिए भी प्रयत्नशील हैं।

सारांश यह है कि हमारे विश्वविद्यालयों की शिक्षा में दोष भी हैं, गुण भी हैं। जहाँ इसने हमारे नवयुवकों को जीविकोपार्जन की शक्ति प्रदान न करके पंगु बनाया है, वहाँ राष्ट्रीय जागृति के बीज भी बोए हैं। जहाँ इसने हमारी संस्कृति को उन्मूलन करने का प्रयास किया है, वहाँ ज्ञान-वृद्धि में भी महत्वपूर्ण योग दिया है। सच पूछिए तो हमारे देश में जो राजनैतिक एवं सामाजिक उन्नति के लक्षण दृष्टिगत हो रहे हैं उनका श्रेय इसी विश्वविद्यालय की शिक्षा को है। हाँ, आवश्यकता इस बात की है कि इसे भारतीयता के साँचे में ढाला जाय और दोषों से मुक्त किया जाय, जिससे यह जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करती हुई, मनुष्य को नागरिक जीवन के लिए तैयार करती हुई, व्यक्ति तथा समाज दोनों का कल्याण कर सके।

'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' और साहित्य

(१) प्रस्तावना—'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' का जन्म, हमारे साहित्य-क्षेत्र में प्रचार
(२) साहित्य और सत्य
(३) साहित्य और शिव
  (क) कलावाद का विरोध
  (ख) यथार्थवाद का विरोध
(४) साहित्य और सुन्दरता
(५) उपसंहार—सारांश

कुछ दिनों से हमारे यहाँ साहित्यिक रचनाओं का मूल्य आँकने के लिए एक कसौटी निर्धारित हुई है जो 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्', के नाम से प्रसिद्ध है। इस पदावली का इतना अधिक प्रचार हुआ है कि साहित्यिक इसी का राग अलाप रहे हैं। और साहित्य-क्षेत्र में इसकी बड़ी धूम है। यहाँ तक कि यह आदर्श-वाक्य मानी जाती है। इसकी उत्पत्ति के विषय में कुछ लोगों की धारणा है कि इसका मूल स्रोत उपनिषदों में है। पर यह भ्रमपूर्ण है। वास्तव में इसका जन्म पश्चिम में हुआ। वहाँ से बंगाल ने इसे ग्रहण किया। अब इसने हमारे यहाँ भी अपना प्रभुत्व जमा लिया है। यह 'The True, The Good, The Beautiful' का अनुवाद है और ब्रह्म समाज के महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा बँगला-साहित्य में व्यवहृत हुई है। किन्तु अनुवाद इतना सुन्दर हुआ है कि मौलिक सा प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त यह पदावली भारतीय

साहित्यादर्श के इतने अनुकूल है कि तनिक भी विदेशी नहीं प्रतीत होती।

साहित्य और सत्य का घनिष्ट सम्बन्ध है। पर विज्ञान या इतिहास का सत्य साहित्य में नहीं मिल सकता। जहाँ वैज्ञानिक अथवा ऐतिहासिक सत्य के शरीर की रक्षा करता है, वहाँ साहित्यकार उसकी आत्मा की रक्षा करता है। साहित्य में सत्य की कसौटी यह नहीं हो सकती कि उसमें वस्तुओं का वास्तविक रूप खोलकर दिखाया जाय अथवा घटनाओं का यथातथ्य वर्णन किया जाय। कल्पना साहित्य का महत्वपूर्ण तत्व है। उसका प्रयोग करके साहित्यकार नितांत असंभव बातों की योजना करता हुआ किसी वस्तु अथवा घटना का प्रतिपादन कर सकता है। साहित्य-संसार में उड़ते हुए मनुष्य, चलते हुए पर्वत, हँसते हुए पुष्प और रोती हुई नदी का अस्तित्व है। वहाँ सिंह तथा बकरे का एक घाट पर पानी पीना, बाघ तथा मृग का आपस में खेलना और सर्प तथा मयूर का साथ रहना संभव है। वहाँ ऐसी कपोलकल्पित घटनाएँ संभव हैं जिनकी पुष्टि इतिहास नहीं करता। साहित्य-निर्माता कला की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऐसा करने में स्वतन्त्र है। उस पर किसी प्रकार का अंकुश लगाना साहित्य-निर्माण के लिए अहितकर है। पर इसका यह मानी नहीं है कि वह हमारे समक्ष वस्तु या घटना का विकृत रूप प्रस्तुत करे।

उसकी कल्पना जन्य सृष्टि भले ही हवा में हो; किन्तु वह वास्तविकता की नींव पर स्थित हो। साहित्य का सत्य

भावानुभूति की यथातथ्य अभिव्यक्ति है; परिस्थिति-विशेष में साहित्य-निर्माता पर जो प्रभाव पड़े, जो भाव उसके हृदय में जाग्रत हो, उसे निष्कपटता के साथ ज्यों का त्यों प्रत्यक्ष करना है। इसी सत्य की रक्षा के निमित्त साहित्यकार कल्पना की सहायता लेता है। 'शकुन्तला' नाटक में अँगूठी और शापवाली घटना कवि कल्पना-प्रसूत है और उसकी अवतारणा दुष्यन्त के प्रेमी हृदय के परिचयार्थ की गई है। 'स्कन्दगुप्त' नाटक में स्कन्दगुप्त द्वारा अपने विरोधी भाई पुरगुप्त के लिए साम्राज्य-त्याग और स्वयं आजन्म कौमार जीवन की प्रतिज्ञा करके वानप्रस्थ-ग्रहण कल्पनात्मक घटना है और उसकी उद्भावना नाटक के नायक स्कंदगुप्त के हृदय की उदारता, महानता, उत्सर्ग एवं विराग स्पष्ट करने के लिए की गई है। 'रामचरितमानस' में लक्ष्मणजी के शक्ति लगने पर जब रामचन्द्रजी विलाप करते हैं, तब उन्हें सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

"मिलइ न जगत सहोदर भ्राता।"

पर क्या लक्ष्मणजी रामचन्द्रजी के 'सहोदर भ्राता' थे? नहीं। इतिहास से इसकी पुष्टि नहीं होती। फिर कवि ने रामचन्द्रजी के मुख से यह झूठ बात क्यों कहलवाई? स्नेहार्द्र तथा शोकाकुल राम के हृदय का वास्तविक रूप उपस्थित करने के लिए, यह प्रदर्शित करने के लिए कि अत्यन्त स्नेही की मृत्यु के शोक में मनुष्य की दशा विक्षिप्त की सी हो जाती है। यही साहित्य का सत्य है।

अब साहित्य और शिव का सम्बन्ध देखिए। साहित्य सदैव शिव है, क्योंकि उसमें नीति और मर्यादा के भव्य सिद्धान्तों का उद्घाटन होता है। हाँ इधर कुछ समय से

साहित्य क्षेत्र में कलावाद का बोलबाला है। उसकी झोंक में कुछ साहित्यिक शिव की उपेक्षा करने लगे हैं और कहने लगे हैं कि साहित्य सृजन का जीवन अथवा सदाचार से कोई सम्बन्ध नहीं। क्या साहित्य जीवन से पृथक् रह सकता है ? कदापि नहीं। साहित्यकार स्वयं एक जीवधारी है, उसका जो कुछ अनुभव होता है वह जीवन से ही होकर आता है। उसी अनुभव को वह अपने व्यक्तित्व की छाप के साथ साहित्य-रूप में समाज को भेंट कर देता है। फिर यह कैसे संभव है कि साहित्य जीवन से पृथक् रह सके ? साहित्यकार जीवन का विवेचन करता हुआ, उसका विश्लेषण करता हुआ, जीवन सम्बन्धी सिद्धान्तों की व्याख्या भी करता है। जहाँ जीवन की विवेचना होगी वहाँ किसी न किसी प्रकार के नैतिक सिद्धान्त रहेंगे ही। नीति और सदाचार को जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। अतः नीति और सदाचार को साहित्य से भी अलग नहीं किया जा सकता।

साहित्यिकों का दूसरा वर्ग साहित्य और जीवन के सम्बन्ध में तो विश्वास करता है; परन्तु वह यथार्थवाद का भक्त है। उसका कथन है कि साहित्य में जीवन का वास्तविक स्वरूप अंकित होना चाहिए, साहित्य-निर्माता अपनी कृति में जीवन का वही रूप चित्रित करे जो उसे संसार में देखने को मिलता है, एक काल्पनिक रूप खड़ा करके मानव जाति को जीवन की वास्तविकताओं से विमुख न करे। यह देखा जाता है कि सांसारिक जीवन में निराशा, कष्ट एवं पाप का साम्राज्य रहता है। फिर

साहित्य-निर्माता क्यों उसमें आशा, सुख तथा पवित्रता का संचार करे ? जीवन के दो पक्ष हैं—उत्कृष्ट और निकृष्ट। जीवन में आशा तथा निराशा, सुख तथा दुःख, पाप तथा पुण्य दोनों का स्थान है। अतः जीवन का पूर्णरूप देखने के लिए साहित्य में इन दोनों को ही स्थान मिलना चाहिए; किन्तु लोक-कल्याण के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि साहित्य-निर्माता पहले की दूसरे पर विजय दिखाए। यह ठीक है कि संसार में प्रायः ऐसा देखने को नहीं मिलता। प्रायः पापी को जीवन में सफलता मिलती है और धर्मात्मा को असफलता, दुष्ट मौज उड़ाते हैं और सज्जनों पर आपत्तियों के पहाड़ टूटते हैं, धूर्त समृद्धि के शिखिर पर चढ़ जाते हैं और सदाचारी योग्य होने पर भी अवनति के अंधकूप में पड़े रहते हैं। किन्तु यह शाश्वत और पूर्ण सत्य नहीं है। साहित्य में तो शाश्वत और पूर्ण सत्य की ही रक्षा होनी चाहिए। उसमें तो मानव-जीवन का आदर्शमय लोकोपयोगी भव्य रूप चित्रित किया जाय, सदाचार की सुरसरि प्रवाहित की जाय, जिससे उसका और शिव का नित्य सम्बन्ध बना रहे।

अब साहित्य और सुन्दरता के सम्बन्ध की ओर आइए। । क्या आन्तरिक, क्या बाह्य, दोनों प्रकार की सुन्दरता साहित्य में मिलती है। मानव-हृदय की पवित्र से पवित्र वृत्ति, आचरण का उत्कृष्ट से उत्कृष्ट रूप, मर्यादा का भव्य से भव्य चित्र अंकित करके साहित्यकार आन्तरिक सुन्दरता की सृष्टि करता है। बाह्य सुन्दरता तो इसकी आराध्य-देवी है। साहित्यकार सौन्दर्योपासक प्राणी

होता है । 'A thing of beauty is a joy for ever' के अनुसार सुन्दर वस्तु उसे सर्वदा आनन्द प्रदान करती है । क्या जीवन में, क्या प्रकृति में, जहाँ-कहीं वह सौंदर्य देखता है उस ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रह सकता और उसका हृदय वाह्य-प्रकाशन के लिए व्याकुल हो जाता है । फलतः वह अपनी रचना में तत्सम्बन्धी चित्र उपस्थित करता है । दो एक चित्र देखिए—

"अब हुआ सांध्य स्वर्णाभ लीन,
सब वर्ण वस्तु से विश्व हीन ।
गंगा के चल-जल में निर्मल,
कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल ।
है मूँद चुका अपने मृदु दल,
लहरों पर स्वर्ण रेख सुन्दर ।
पड़ गई नील ज्यों अधरों पर,
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर ।"

(प्रकृति-सौंदर्य)

"रूपसि तेरा घन-केश-पाश ।
श्यामल श्यामल कोमल कोमल,
लहराता सुरभित केश-पाश ।
× × × ×
सौरभभीना झीना गीला,
लिपटा मृदु अंजन-सा दुकूल;
चल अंचल से झर झर झरते,
पथ में जुगुनू के स्वर्ण-फूल;
दीपक से, देता बार-बार,
तेरा उज्ज्वल चितवन-विलास ।
रूपसि तेरा घन-केश-पाश ।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि साहित्य 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' होता है। जिस रचना में ये तीनों गुण नहीं पाए जाते वह साहित्य के श्रेष्ठ नाम से विभूषित नहीं की जा सकती। अतः साहित्य सृजन करनेवाले को अपनी कृति में इन तीनों का समावेश करने की चेष्टा करनी चाहिए। 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' की कसौटी पर कसकर ही रचनाओं का महत्व निर्धारित किया जा सकता है।

भारत का उद्योगीकरण

(१) प्रस्तावना—भारत की प्राचीन तथा अर्वाचीन आर्थिक दशा
(२) भारत को उद्योगीकरण की आवश्यकता
(३) उद्योगीकरण हाथों पर आधारित हो या कलों पर ?
(४) उद्योगीकरण व्यक्ति द्वारा हो अथवा राष्ट्र द्वारा ?
(५) उद्योगीकरण से भारत को लाभ
(६) भारत सरकार का इस दिशा में प्रयत्न
(७) उपसंहार—निष्कर्ष

प्राचीन भारत की आर्थिक दशा बहुत अच्छी थी। यहाँ दूध-घी की नदियाँ बहती थीं। फाह्यान नामक चीनी यात्री ने लिखा है कि भारत में मुझे जल के स्थान पर दूध पीने को दिया जाता था। विदेशों में इसे 'सोने की चिड़िया' नाम से गौरवान्वित किया गया था। फ्रांसीसी यात्री बर्नियर का कथन है, "यह हिन्दुस्तान एक ऐसा अथाह गड्ढा है जिसमें संसार का अधिकांश सोना और चाँदी चारों ओर से अनेक मार्गों से आ-आकर इकट्ठा

होता है और जिससे बाहर निकलने का उसे एक भी रास्ता नहीं मिलता"। इससे भारत की प्राचीन समृद्धि का, प्राचीन वैभव का, प्राचीन उत्कृष्ट आर्थिक स्थिति का प्रमाण मिलता है। वस्तुतः प्राचीन भारत की धनाढ्यता का विश्व में डंका बजा हुआ था; उसकी सम्पन्नता की दुनिया में तूती बोल रही थी। यहाँ ऐसे विविध उद्योग प्रचलित थे जिनके द्वारा विदेशों का धन खिंचा चला आता था। पर आज तो वृहत् परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहा है। हमारा देश जितना ऊँचा चढ़ गया था उतना ही नीचे गिर गया है। आज हम प्राचीन उद्योगों को भूले हुए हैं। अँगरेजों ने हमारी राजनैतिक स्वाधीनता ही नहीं छीनी, वरन् आर्थिक स्वाधीनता भी नष्ट कर दी। कुशल शिल्पकारों के हाथ कटवाकर भारतीय उद्योगों का गला घोंटा गया और हमारे देश को विदेशों का मुहताज बनाया गया। फलतः आज वह दरिद्र एवं दीन-हीन होकर दाने-दाने को तरस रहा है। आर्थिक पराधीनता के कारण आज वह बेकारी की महाव्याधि से पीड़ित है।

यद्यपि भारतवर्ष को स्वतन्त्रता मिल चुकी है, तथापि जब तक उसकी आर्थिक परतन्त्रता का अन्त नहीं होता तब तक वह उन्नति नहीं कर सकता। क्या राजनैतिक, क्या सामाजिक, क्या व्यापारिक, क्या व्यावसायिक, क्या वैज्ञानिक, क्या सांस्कृतिक, क्या नैतिक, सभी प्रकार के उत्थान के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि हमें आर्थिक स्वतन्त्रता मिले। न हम भूखे मरें और न हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति विदेश करें। 'भूखे भजन न होय गुपाला' के अनुसार मनुष्य को सबसे पहले भोजन चाहिए, उदर-पोषण

का साधन चाहिए। तत्पश्चात् वह कुछ कार्य कर सकता है, राष्ट्रोन्नति में योग दे सकता है। इसके अतिरिक्त जब तक हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति विदेशों द्वारा होगी तब तक हम अपने पैरों पर खड़े नहीं हो सकेंगे और परमुखापेक्षी बने रहेंगे, तब तक हमारी आर्थिक पराधीनता और आर्थिक शोषण नहीं समाप्त होगा। आर्थिक शोषण होते रहने से, राष्ट्र के धन के विदेश जाते रहने से, उन्नति किस प्रकार संभव है? अतः भारतलक्ष्मी के रक्षार्थ भारतवर्ष का उद्योगीकरण होना चाहिए।

अब प्रश्न उठता है कि उद्योगीकरण हाथों पर आधारित किया जाय अथवा कलों पर, देश में हाथ के उद्योग-धंधों का प्रचार किया जाय अथवा मशीन के? यह विज्ञान का युग है। चारों ओर उसकी दुन्दुभी बज रही है और वह दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति कर रहा है। जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली नित नई मशीनों का आविष्कार हो रहा है, जो सुन्दर से सुन्दर वस्तुओं का निर्माण कर रही हैं। उनकी तुलना में हाथ-निर्मित वस्तुएँ कैसे ठहर सकती हैं? वे उतनी सुन्दर नहीं होतीं कि लोगों का ध्यान आकृष्ट कर सकें। हाँ, वे कल-निर्मित वस्तुओं की अपेक्षा अधिक गुणकारी अवश्य होती हैं। पर आजकल की दुनिया बाहरी दिखावट तथा तड़क-भड़क पर लट्टू है, गुणों पर नहीं इसके अतिरिक्त कल द्वारा तैयार पदार्थ हाथ के बने हुए पदार्थ से सस्ता होता है। अतः ग्राहक स्वभावतः उसे पसन्द करता है। ऐसी दशा में उद्योगीकरण को कलों पर आधारित करना पड़ेगा।

पर ऐसा करने से एक हानि होगी। प्रचलित घरेलू उद्योग-धंधों पर कुठाराघात होगा, क्योंकि वे मशीनों के साथ प्रतियोगिता नहीं कर सकेंगे। फलस्वरूप निम्न श्रेणी के लोगों में बेकारी एवं असंतोष फैलेगा। यद्यपि यहाँ अभी मशीनों का पूर्ण प्रचार नहीं हुआ है, तथापि उनका अनिष्टकर रूप दिखाई पड़ने लगा है। उदाहरण के लिए, आटा पीसने वाली बिजली की चक्की ने अनेक विधवाओं तथा दीन स्त्रियों की रोटियाँ छीन ली हैं। मोटर-ठेलों ने ग्रामीण गाड़ी वालों की जीविका नष्ट कर दी है। मोटर लौरियों ने इक्के-ताँगे वालों का गला काटा है। सेफ्टी-रेजरों ने नाइयों का धन्धा चौपट कर दिया है। इस प्रकार उनमें बेकारी फैल रही है। तब मशीनों के पूर्ण प्रचार के समय क्या दशा होगी? इसमें सन्देह नहीं कि उस समय कोई घरेलू धन्धा जीवित न रह सकेगा। फिर उनके द्वारा भरण-पोषण करने वालों का क्या हाल होगा? यह कहा जा सकता है कि वे कारखानों में खप जायँगे। किन्तु सब लोगों का इस प्रकार खपना टेढ़ी खीर है। ऐसी दशा में उद्योगीकरण हाथ तथा मशीन दोनों पर आधारित होना चाहिए। छोटे-मोटे उद्योगों में मशीनों का प्रयोग न किया जाय। उनको हाथों से ही कराने की व्यवस्था की जाय। बड़े-बड़े उद्योगों के लिए ही मशीन काम में लाई जायँ। यदि हाथ की बनी हुई वस्तु कुछ अधिक मूल्यवान् और कम सुन्दर होती है तो सार्वजनिक हित की दृष्टि से उसे अपनाने में हमें आगा-पीछा नहीं करना चाहिए। परन्तु विज्ञान के नक्कारखाने में यह विचार तूती की आवाज ही समझा जायगा। विज्ञान की चकाचौंध में उसके दुर्गुणों को कौन देखे?

उद्योगीकरण व्यक्ति द्वारा हो अथवा उसे पूँजीपतियों के हाथ में सौंप दिया जाय अथवा सरकार स्वयं उसकी व्यवस्था करे? यदि उद्योगों के स्वामी पूँजीपति बना दिये जायँगे तो सार्वजनिक हित नहीं होगा, राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को आर्थिक लाभ नहीं पहुँचेगा। केवल पूँजीपतियों का कोष भरेगा। मध्यम और निम्न श्रेणी के नागरिकों का धन खिंच-खिंचकर उनके पास पहुँचेगा, जिससे उन बेचारों की दशा और अधिक बिगड़ेगी। पूँजीपति कभी ऐसा कार्य नहीं कर सकते, जिससे उनका भला हो और साथ ही उनके देशवासी भाइयों का भी कल्याण हो। 'Live and let live' अर्थात् 'स्वयं जीवित रहो और दूसरों को भी जीवित रहने दो' की भी मनोवृत्ति उनमें ढूँढ़ने से न मिलेगी। रस्किन नामक एक अँगरेज अर्थशास्त्री ने ठीक ही कहा है—

"The greater part of the profitable investment of capital, in the present day, is in the operations of the kind, in which the public is persuaded to buy something of no use to it, on the production or sale of which the capitalist may charge percentage; the said public remaining all the while under the persuasion that the percentages thus obtained are real national gains, whereas they are merely filchings out of light pockets, to swell heavy ones" अर्थात् "आजकल पूँजी का लाभदायक उपयोग अधिकांश इस प्रकार के कार्यों में होता है जिनके

द्वारा जनता को ऐसी बेकार वस्तु खरीदने को प्रोत्साहित किया जाता है जिसकी पैदावार अथवा बिक्री पर पूँजीपति मुनाफा ले सके। जनता सदैव इस भ्रम में रहती है कि इस प्रकार प्राप्त की हुई मुनाफा वास्तविक राष्ट्रीय लाभ है; पर वह धनिकों की जेब भरने के लिए निर्धनों की जेबों की चोरी-मात्र है।" ऐसी दशा में भारतीय सरकार का यह पुनीत कर्तव्य है कि उद्योगों पर अपना अधिकार करे, अथवा उन्हें सहयोगी समितियों को सौंप दे, उन्हें बिड़लाओं और ताताओं के हाथ में न रहने दे। ऐसा करने से जो आर्थिक लाभ होगा वह भारत के प्रत्येक नागरिक को होगा, किसी व्यक्ति-विशेष को नहीं। वह राष्ट्र-हित के कार्यों में व्यय होगा, मखमल के गद्दों पर पड़े-पड़े विलास-सागर में गोते लगाने में नहीं। यदि पूँजीपतियों के हाथों में उद्योगों को रहने दिया जाय, तो आर्थिक लाभ को उनमें तथा श्रमिकों में वितरण करने की व्यवस्था की जाय।

उद्योगीकरण से हमारा देश बहुत लाभान्वित होगा। आजकल हमारे करोड़ों रुपये विदेश जा रहे हैं। आजकल राष्ट्र की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विविध सामान विदेशों से खरीदा जा रहा है। मोटरकार, साइकिल, एंजिन, जहाज आदि मशीनरी तथा कपड़ा, मनोरंजन की सामग्री, औषधियाँ, चिकित्सा के यंत्र, अस्त्र-शस्त्र, शृङ्गार की वस्तुएँ इत्यादि नाना प्रकार का सामान अन्य देशों से मँगाया जा रहा है। यदि हमारी आवश्यकताओं की चीजें हमारे देश में ही तैयार होने लगें तो क्यों हमारा रुपया विदेश जाय, क्यों हमारा देश दरिद्र रहे? अतः स्पष्ट है कि उद्योगीकरण से हमारे देश की आर्थिक दशा सुधरेगी,

जिससे हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति करते हुए विश्व में अपनी मातृभूमि का नाम उज्ज्वल करेंगे। पुनः भारतवर्ष उत्कर्ष की चोटी पर पहुँचेगा। पुनः भारतवर्ष का लोहा सारा संसार मानेगा।

देश के उद्योगीकरण के लिए हमारी सरकार भरसक प्रयत्न कर रही है। योजनाएँ बन रही हैं और उन्हें कार्य-रूप में परिणत करने का प्रयास हो रहा है। कई प्रकार के कारखाने खोले जा रहे हैं। अन्वेषण एवं आविष्कार की संस्थाएँ स्थापित हो रही हैं। इस कार्य में सरकार पूँजीपतियों का सहयोग प्राप्त कर रही है। उनके द्वारा औद्योगिक प्रसार का श्रीगणेश हो रहा है। सार्वजनिक हित की दृष्टि से, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, यह व्यवस्था उचित नहीं है; किन्तु अर्थाभाव के कारण भारतीय सरकार ऐसा करने के लिए विवश है। इसके अतिरिक्त देश को शीघ्र से शीघ्र औद्योगिकता के साँचे में ढालने के लिए प्रबन्ध की दृष्टि से भी पूँजीपतियों की सहायता आवश्यक है। देश भर में उद्योगों का तुरन्त जाल बिछाना और उनका सुप्रबन्ध करना हमारी सरकार के लिए, यदि असंभव नहीं तो, कठिन अवश्य है, क्योंकि वह आजकल कई विषम समस्याओं में उलझी हुई है।

निष्कर्ष यह है कि भारत के उद्योगीकरण की ओर पर्याप्त ध्यान दिया जा रहा है। यह अच्छी बात है। पर उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता है। उन पर सरकार स्वयं अपना आधिपत्य रक्खे अथवा उन्हें सहयोगी समितियों को सौंप दे। व्यक्ति का उनपर अधिकार न रहे। यदि व्यक्ति

का अधिकार रहे, तो उनसे होने वाले आर्थिक लाभ को श्रमिकों तथा पूँजीपतियों में वितरण कर दिया जाय। यदि परिस्थिति-वश ऐसा करना इस समय संभव नहीं है तो निकट भविष्य में यह अवश्य कार्यान्वित होना चाहिए।

वर्तमान काल का प्रतिनिधि कवि—श्री मैथिलीशरण गुप्त

(१) प्रस्तावना—मैथिलीशरण गुप्त की महत्ता
(२) वर्तमान समाज की प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व
  (क) राष्ट्रीयतानुराग
  (ख) अछूतोद्धार की भावना
  (ग) हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य की अभिरुचि
  (घ) स्त्रियों के अधिकारों का समर्थन
  (ङ) ग्रामसुधार की ओर उन्मुखता
(३) वर्तमान कविता की प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व
  (क) खड़ीबोली में काव्य-रचना
  (ख) प्रकृति के प्रति अनुराग
  (ग) छायावाद
  (घ) प्रगीतात्मक शैली
(४) उपसंहार—सारांश

श्री मैथिलीशरण गुप्त का हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में विशेष आदर है। ये वर्तमान काल के चोटी के कवियों में गिने जाते हैं। ये आर्य-संस्कृति के अभिमानी तथा आधुनिक जागृति के पोषक कवि हैं। इनमें प्राचीन और अर्वाचीन का सुन्दर समन्वय देखा जाता है। इन्होंने सब प्रकार

की रचनाओं पर अपनी लेखनी चलाई है। क्या प्रबन्ध क्या मुक्तक, क्या मौलिक क्या अनुवादित, विभिन्न प्रकार की रचनाओं में इनकी काव्य-प्रतिभा का पूर्ण विकास देखा जाता है। वे काव्य की कसौटी पर खरी उतरी हैं। गुप्तजी की सी प्रबन्ध-पटुता, चरित्र-चित्रण, संवाद, वर्णन और भाव-व्यंजना आजकल की कविताओं में नहीं मिलती।

"युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी"

में आत्मग्लानि की कैसी व्यंजना और—

"देखा प्रिय को चौंक प्रिया ने सखी किधर थी ?
पैरों पड़ती हुई उर्मिला हाथों पर थी।"

में मिलन का कैसा चित्र और—

"पाप शान्त हो पाप शान्त हो कि मैं विवाहित हूँ वाले
पर क्या पुरुष नहीं होते हैं दो दो दाराओं वाले,"

में कैसा संवाद और—

"तुम व्रती रहो,
मैं सती रहूँ।"

में कैसा चरित्र चित्रण हुआ है !

यों तो प्रत्येक कवि अपने काल का प्रतिनिधि होता है, प्रत्येक कवि के काव्य में तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों के कुछ-न-कुछ वर्णन होते हैं; परंतु कुछ कवि ऐसे होते हैं जिनकी रचनाएँ समकालीन भावनाओं का पूर्ण प्रतिविम्ब होती है। श्री मैथिलीशरण गुप्त इसी प्रकार के कवि हैं। ये वर्तमान काल के प्रतिनिधि कहे जाने के पूर्ण अधिकारी हैं। इनकी कविता में आधुनिक समय की सभी विशेषताएँ स्पष्ट लक्षित होती हैं।

यह राष्ट्रीयता तथा स्वतन्त्रता का युग है। गुप्तजी की प्राय: सभी रचनाएँ इन भावों से ओत-प्रोत पाई जाती हैं। 'भारत-भारती' तो राष्ट्रीयता का ज्वलंत उदाहरण है। वक-संहार, पंचवटी, सिद्धराज, साकेत आदि में भी इसकी व्यंजना हुई है। साकेत में स्वदेश-प्रेम से परिपूर्ण राम की निम्नांकित उक्ति देखिए—

"मैं हूँ तेरा सुमन, चढ़ूँ सरसूँ कहीं,
मैं हूँ तेरा जलद, बढ़ूँ बरसूँ कहीं।"

सिद्धराज में वीर सैनिक जगदेव अपनी जन्मभूमि अवन्ती की स्वातन्त्र्य-रक्षा के लिए अपने प्राणों की बाजी लगाने को तैयार है। देखिए वह क्या कहता है—

"मेरी यह जन्मभूमि जननी जगत में
मेरे प्राण रहते रहेगी महारानी ही,
किंकरी न होगी किसी और नरपाल की
पंच तत्व मेरी पुण्यभूमि के हैं मुझमें,
कहला रहे हैं वही मुझसे पुकार के—
हम परतन्त्र नहीं सर्वथा स्वतन्त्र हैं।"

वास्तव में देश-प्रेम गुप्तजी के रक्त के कण-कण में बिंधा हुआ है। फिर उसकी अभिव्यक्ति क्यों न हो?

गुप्तजी की कविता पर गांधीवाद की छाप है। 'साकेत' में राम-वनगमन पर अयोध्या-निवासी सत्याग्रह की शरण लेते हैं। देखिए—

"राजा हमने राम तुम्हीं को है चुना,
करो न तुम यों हाय! लोकमत अनसुना।
जाओ यदि जा सको रौंद हमको यहाँ,
यों कह पथ में लेट गए बहु जन वहाँ॥"

अछूतोद्धार वर्तमान भारतीय समाज की एक विशेषता है। गुप्तजी अछूतों के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए 'पंचवटी' में कहते हैं—

"इन्हें समाज नीच कहता है,
पर हैं ये भी तो प्राणी।
इनमें भी मन और भाव है,
किन्तु नहीं वैसी वाणी॥"

आजकल ऊँच-नीच तथा जाति-पाँति की भावना विदा होती जा रही है। गुप्तजी भी इससे प्रभावित हैं। 'सिद्धराज' में कुम्भकार-कन्या रानकदे के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखते हुए राना खंगार के मुख से निकली हुई ये पंक्तियाँ देखिए—

"आर्य कुलशील यही, यह न समझना
हीन मानता हूँ मैं किसी भी जाति-कुल को;
कौशल के साथ निज कर्म करते हैं जो
और सदाचार धर्म पालते हैं अपना;
वे सब कुलीन हैं...........................।"

हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य भी वर्तमान भारतीय समाज की एक विशेषता है। उसकी स्थापना के लिए न जाने कितने प्रयत्न हुए हैं और हो रहे हैं। पर आए दिन दोनों जातियों के पारस्परिक झगड़ों तथा दंगों की घटनाएँ घटित होती रहती हैं। 'गुरुकुल' में गुप्तजी का नम्र निवेदन है—

"हिन्दू-मुसलमान दोनों अब,
छोड़ें वह विग्रह की नीति।"

'सिद्धराज' में इन्होंने एक घटना का उल्लेख किया है जिसमें मुसलमानों की मसजिदें गिरा दी गई थीं और उन्हें मारा गया था। उनके खतीब ने आकर राजा जय-सिंह को अपनी करुणा-कथा सुनाई। राजा ने अपराधियों को दंड दिया और खतीब को निर्भय करते हुए कहा—

"जाओ, डर छोड़ तुम अपनी अजान दो,
और गा-बजाकर उतारें हम आरती।
× × × ×
ईश्वर के नाम पर कलह भला नहीं,
देखता है भाव मात्र वह निज भक्त का॥"

इससे गुप्तजी की हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य सम्बन्धी अभिरुचि का परिचय मिलता है।

आधुनिक भारतीय समाज स्त्रियों की दीन दशा सुधारने के लिए प्रयत्नशील है। हमारे यहाँ नारी जाति की जो दुर्दशा हो रही है, उनका जिस प्रकार का कंटका-कीर्ण जीवन है, वह किसी से छिपा नहीं। 'यशोधरा' में द्रवीभूत होकर गुप्तजी ने नारी का कैसा करुणात्मक चित्र अंकित किया है, देखिए—

"अबला जीवन हाय! तुम्हारी यही कहानी,
आँचल में है दूध और आँखों में पानी!"

'पंचवटी' में स्त्री-जाति के साथ सहानुभूति प्रकट करते हुए इन्होंने कहा है—

"नर कृत शास्त्रों के सब बन्धन,
हैं नारी ही को लेकर;
अपने लिए सभी सुविधाएँ,
पहले ही कर बैठे नर।"

ग्राम सुधार की ओर भी आजकल भारतीय समाज अग्रसर हो रहा है। गुप्तजी ने 'अनघ' में मघ को ग्राम-सुधारक के रूप में प्रस्तुत किया है। वह गाँवों की दशा सुधारने में अपना समय व्यतीत करता रहता है। देखिए—

"मरम्मत कभी कुओं घाटों की,
सफाई कभी हाट-बाटों की,
आप अपने हाथों करता है।"

समाजवाद की छाप भी गुप्तजी पर पड़ी है। 'साकेत' में यत्र-तत्र इसके प्रमाण मिलते हैं।

ये तो हुईं वर्तमान समाज की प्रवृत्तियों के प्रतिनिधित्व की बातें। अब वर्तमान कविता की प्रवृत्तियों के प्रतिनिधित्व की ओर आइए। आजकल की कविता की भाषा खड़ी बोली है। गुप्तजी ने अपनी सभी रचनाएँ खड़ी बोली में करके उसे गौरवान्वित किया है। इनकी कविता में जैसी परिष्कृत, जैसी सुव्यवस्थित, जैसी सरल और जैसी प्रवाहयुक्त भाषा पाई जाती है वैसी अन्यत्र दुष्प्राप्य है। सफल कविता वही है जिसमें सरल भाषा द्वारा गंभीर से गंभीर तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म भाव प्रकट किए गए हों। गुप्तजी की कविता में यह गुण चरमोत्कर्ष को पहुँचा हुआ है। ये सीधी-सादी तथा मुहावरेदार भाषा में भावों की अभिव्यंजना बड़े मार्मिक ढंग से करते हैं। रसानुकूल शब्द-योजना द्वारा भाषा में सरसता का संचार करने में ये सिद्धहस्त हैं। संस्कृत की 'कोमल कान्त पदावली का प्रयोग इन्होंने किया है; पर अधिक नहीं। इनकी भाषा का एक नमूना देखिए—

'रत्नाभरण भरे अङ्गों में
ऐसे सुन्दर लगते थे—
ज्यों प्रफुल्ल वल्ली पर सौ सौ
जुगनू जगमग जगते थे।"

वर्तमान कविता को प्रकृति से अनुराग है। क्या पंतजी, क्या प्रसादजी, क्या महादेवीजी, क्या उपाध्यायजी, क्या शुक्लजी सभी आधुनिक कवियों ने प्राकृतिक दृश्यों का सुन्दर रूप उपस्थित किया है और कर रहे हैं। गुप्तजी में भी यह विशेषता है। उनका प्रकृति-चित्रण उत्कृष्ट होता है। देखिए एक पक्षी का यह कैसा संश्लिष्ट योजनात्मक भव्य चित्र है—

"फैलाए यह एक पक्ष लीला किए,
छाती पर भर दिए अंग ढीला किए;
देखो ग्रीवाभंग-संग किस ढंग से,
देख रहा है हमें विहंग उमंग से।"

चन्द्रिका का एक चित्र देखिए—

"चारु चन्द्र की चंचल किरणें खेल रही हैं जल-थल में,
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई है अवनि और अम्बर तल में।
पुलक प्रकट करती है धरती हरित तृणों की नोकों से,
मानो झूम रहे हैं तरु भी मन्द पवन के झोंकों से।"

यह छायावादी युग है। कविगण परोक्ष सत्ता के प्रति प्रेम की प्रतीकात्मक व्यंजना करते हुए देखे जाते हैं। 'झंकार' गुप्तजी की इस प्रकार की रचनाओं का संग्रह है। एक नमूना देखिए—

"निकल रही है उर से आह।
ताक रहे सब तेरी राह॥"
"चातक खड़ा चोंच खोले है, संपुट खोले सीप खड़ी।
मैं अपना घट लिए खड़ा हूँ, अपनी अपनी हमें पड़ी॥"

वर्तमान कविता अगीतात्मक शैली की ओर उन्मुख है। आजकल के अधिकांश कवि इसी प्रवाह में प्रवाहित हो रहे हैं। गुप्तजी ने यद्यपि अपनी समस्त रचनाएँ इस शैली पर नहीं की हैं; तथापि हाल की रचनाओं में इस ओर इनका झुकाव दृष्टिगत हो रहा है। राहुल को सुलाती हुई यशोधरा का यह गीत देखिए—

"सो अपने चंचलपन, सो।
सो मेरे अंचलधन, सो॥
पुष्कर सोता है निज सर में,
भ्रमर सो रहा है पुष्कर में,
गुंजन सोया कभी भ्रमर में,
सो मेरे गृह-गुंजन, सो।
सो मेरे अंचल-धन, सो॥"

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्तजी वर्तमान-कालीन सभी विशेषताओं से ओत-प्रोत हैं। इनका काव्य आधुनिक भारतीयता का सुन्दर प्रतीक है। निस्संदेह ये वर्तमान समय के प्रतिनिधि कवि हैं।

राष्ट्रीयता और हिन्दी-कविता

(१) प्रस्तावना—साहित्य में समाज की भावनाओं का प्रतिबिम्ब
(२) भारतीय समाज में राष्ट्रीयता के दर्शन
(३) हिन्दी कविता में राष्ट्रीयता का समावेश
  (क) प्राचीन कविता में
  (ख) आधुनिक—कविता में
    (१) भारतेन्दुकाल में
    (२) द्विवेदी-काल में
    (३) वर्तमान काल में
(४) उपसंहार - सारांश

साहित्य समाज का दर्पण है। साहित्य में समाज की चित्त वृत्तियों, भावनाओं, और विचारों का प्रतिबिम्ब पड़ता है। साहित्यकार एक सामाजिक प्राणी होने के कारण सामाजिक प्रभाव से कैसे बच सकता है ? जिस प्रकार बालक माता के स्तन्य से पुष्ट होकर बड़ा होता है, उसी प्रकार साहित्य-निर्माता समाज की भावनाओं, विचारों, तथा रूढ़ियों को बीज रूप में प्राप्त कर के फूलता-फलता है। जब वह कुछ साहित्य का सृजन करता है तब वे ही भावनाएँ, विचार तथा रूढ़ियाँ, जिन्होंने उसके सारे जीवन को ओत-प्रोत कर रक्खा है, उसकी लेखनी के मार्ग से निकल चलती हैं। इस प्रकार साहित्य समाज के अनुरूप बनता रहता है। यह प्राकृतिक नियम सभी देशों, सभी जातियों तथा सभी कालों में निरन्तर अप्रत्यक्ष रूप से कार्य करता रहता है। हिन्दी-साहित्य में भारतीय समाज की समय-समय की भावनाएँ स्पष्ट झलक रही हैं।

राष्ट्रीयता की भावना को लीजिए। भारतीय समाज में राष्ट्रीयता की भावना आधुनिक युग की देन है। प्राचीन काल में व्यष्टि रूप में इसके यत्र-तत्र दर्शन अवश्य होते हैं, पर समष्टि रूप में यह कहीं नहीं दिखाई देती। प्रातः स्मरणीय महाराणा प्रताप तथा छत्रपति शिवाजी को कौन नहीं जानता ? उनकी राष्ट्रीयता, उनके मातृभूमि-प्रेम की गाथाओं से भारतीय इतिहास जगमगा रहा है। समाज में राष्ट्रीय भावना के न होने का एक बड़ा कारण यह था कि प्राचीन काल में सम्पूर्ण देश को एक समझने की सुगमता प्रदान करने वाले साधनों का अभाव था। समाज में राष्ट्रीयता की उद्भावना पाश्चात्य सम्पर्क का परिणाम है। अँगरेजी साहित्य एवं समाज राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत है। अतः अँगरेजी साहित्य के अध्ययन तथा अँगरेज-जाति के सम्पर्क से भारतीय समाज में भी राष्ट्रीयता का प्रस्फुरण हुआ। भारतीय लोग राष्ट्र का महत्व समझने लगे और उसकी हित-साधना में तन-मन-धन से संलग्न होने लगे। यहाँ तक कि कुछ महानुभावों ने तो राष्ट्र-सेवा का व्रत ही ले लिया और देश को दासत्व की श्रृङ्खलाओं से मुक्त करने के निमित्त अपना सर्वस्व निछावर कर दिया। ऐसी अमर विभूतियों में स्वर्गीय गोखले, तिलक तथा गांधी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

जैसा कि अभी कहा जा चुका है प्राचीन हिन्दू-समाज में राष्ट्रीयता का अभाव था। अतः प्राचीन हिन्दी-कविता में भी राष्ट्रीयता नहीं मिलती। वीरगाथा-काल के कवियों ने अपने नायकों के प्रेम, युद्ध और कीर्ति-वर्णन में अपना काव्य-कौशल प्रदर्शित किया। उनकी रचनाओं में कहीं भी

राष्ट्रीयता के दर्शन नहीं होते। भक्तिकाल के कवियों ने आतंकित एवं हताश जनता के हृदय को सँभालने के लिए भक्ति-काव्य का द्वार खोला और भगवान की ओर उसका ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया। रीतिकाल के कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की विलास-चेष्टाओं की तृप्ति के लिए वासनामय प्रेम की उन्मादकारिणी उक्तियों से काव्य को भरा। किसी की वाणी राष्ट्रीयता के पुनीत क्षेत्र में संचरित नहीं हुई। हाँ, भूषण ही अवश्य ऐसे कवि थे, जिन्होंने राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर काव्य-रचना की। उनके नायक छत्रपति शिवाजी राष्ट्र के उन्नायक तथा राष्ट्रीयता की मूर्ति थे। संभव है, कुछ लोग इस विचार से सहमत न हों। वे शिवाजी की राष्ट्रीयता में संदेह करें। पर उस समय राष्ट्र हिन्दुओं का था। मुसलमान ही विदेशी शासक थे। अतः उनसे लोहा लेना, उनसे हिन्दुओं की रक्षा करना, राष्ट्रीयता का प्रतीक था। सचमुच शिवाजी भारतीयता के, हिन्दुओं के प्रतिनिधि थे। फिर भला भूषण की काव्य-प्रतिभा उनकी गुण-गाथा द्वारा क्यों न कृतार्थ होती? राष्ट्रीयता से परिपूर्ण भूषण की एक उक्ति देखिए—

"डाढ़ी के रखैयन की डाढ़ी सी रहति छाती,
बाढ़ी मरजाद जस-हद्द हिंदुवाने की।
कढ़ि गई रैयत के मन की कसक सब,
मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की॥
भूषन भनत दिल्लीपति दिल धक धक,
सुनि सुनि धाक सिवराज मरदाने की।
मोटी भई चण्डी बिन चोटी के चबाय सीस,
खोटी भई संपति चकत्ता के घराने की॥"

आधुनिक हिन्दी-कविता में राष्ट्रीयता की प्रचुरता है। सर्व प्रथम राष्ट्रीयता का स्वर भारतेन्दुजी की वाणी में सुनाई दिया। उनके 'नीलदेवी', 'भारत दुर्दशा' आदि नाटकों के भीतर आई हुई कविताओं में देश दशा की जो मार्मिक व्यंजना है, वह तो है ही, बहुत सी स्वतन्त्र कविताओं में भी कहीं देश के प्राचीन गौरव पर गर्व और कहीं वर्तमान अधोगति पर क्षोभ-पूर्ण वेदना प्रकट की गई है। 'नीलदेवी' में भगवान के लिए यह कैसी करुण पुकार है, देखिए—

"कहाँ करुणानिधि केसव सोए ?
जागत नाहिं अनेक जतन करि भारतवासी रोए ॥
इक दिन वह हो जब तुम छिन नहिं भारतहित बिसराए।
इह के पशु गज को आरत लखि आतुर प्यादे धाए ॥
इक दिन दीन हीन नर के हित तुम दुख सुनि अकुलाई ।
अपनी संपति जानि इनहिं तुम रछ्यो तुरंतहि धाई ॥
प्रलयकाल सम जौन सुदर्शन असुर-प्रान संहारी ।
ताकी धार भई अब कुण्ठित हमरी बेर मुरारी ॥"

भारत-दुर्दशा में वर्तमान अधोगति के प्रति क्षोभ की कैसी भावना है, देखिए—

"रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई।
हा हा ! भारत दुर्दशा न देखी जाई ॥"

पर कहीं-कहीं भारतेन्दुजी की देशभक्ति राजभक्ति का पल्ला पकड़े हुए देखी जाती है।

भारतेन्दु-काल के कई अन्य कवियों की रचनाओं में भी

राष्ट्रीयता का भाव मिलता है । पं० प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', पं० श्रीधर पाठक, राय देवी-प्रसाद 'पूर्ण' आदि में यह प्रवृत्ति लक्षित होती है । मिश्रजी की कविता की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"चहहु जो साँचो निज कल्यान, तो सब मिलि भारत सन्तान ।
जपो निरन्तर एक जबान, हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान ।"

"तबहि लख्यौ जहँ रह्यौ एक दिन कंचन बरसत ।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहु को तरसत ॥"

प्रेमघनजी को देश के राजनीतिक आन्दोलनों से सहानुभूति थी । कांग्रेस की बैठकों में ये प्रायः सम्मिलित हुआ करते थे । ये भारत की दुर्दशा देखकर क्षुब्ध होते थे । इनके 'भारत-सौभाग्य' नाटक में देश-दशा का बड़ा मार्मिक चित्र उपस्थित किया गया है । हीरक जुबिली के अवसर पर लिखे हुए 'हार्दिक हर्षादर्श' में भी यह विशेषता पाई जाती है । कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"पै कछु कही न जाय, दिनन के फेर फिरे अब ।
दुरभागिन सों इत फैले फल फूट बैर जब ॥
भयो भूमि भारत मे महा भयंकर भारत ।
भए बीरवर सकल सुभट एकहि सँग गारत ॥"

पाठकजी का 'भारत गीत' बहुत प्रसिद्ध है, जिसमें इन्होंने भारतमाता के लिए आरती लिखी है । देखिए—

जय जय भारत हे ।
जय भारत, जय भारत, जय जय भारत हे ।
जयति जगत-सेवा-हित-सुकृत-सदा-रत हे ।

जयति जयति जय नागर, जय गुन-आगर हे।
जय शोभा के सागर, जगत उजागर हे।" इत्यादि

पूर्णजी देश के उद्धार के लिए सदैव चिंतित रहते थे और उसके लिए स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार आवश्यक समझते थे। स्वदेशी वस्त्र-व्यवहार के सम्बन्ध में वे क्या कहते हैं, देखिए—

"गाढ़ा झीना जो मिलै उसकी ही पोशाक,
कीजे अङ्गीकार तो रहै देश की नाक।
रहै देश की ना' स्वदेशी कपड़े पहने,
हैं ऐसे ही लोग देश के सच्चे गहने।"
जिन्हें नहीं दरकार विलायत योरप का काढ़ा,
तन ढकने से काम गजी होवे या गाढ़ा।"

द्विवेदी-काल के सबसे प्रसिद्ध राष्ट्रीय कवि हैं, श्री मैथिलीशरण गुप्त। उनकी विख्यात रचना भारत-भारती में भारत के अतीत गौरव तथा वर्तमान दुर्दशा का बहुत स्पष्ट और विशद चित्रण है। अन्य रचनाओं में भी उनकी राष्ट्रीय भावना प्रस्फुटित हुई है। 'मातृभूमि' शीर्षक रचना कितनी सुन्दर है, देखिए—

"जिसकी रज में लोट लोटकर बड़े हुये हैं,
घुटनों के बल सरक-सरककर खड़े हुये हैं।
परमहंस-सम बाल्यकाल में सब सुख पाये,
जिसके कारण 'धूल भरे हीरे' कहलाये।
हम खेले-कूदे हर्ष युत
जिसकी प्यारी गोद में।
हे मातृभूमि तुमको निरख,
मग्न क्यों न हों मोद में ॥"

इनके अन्य काव्यों में भी राष्ट्रीयता के दर्शन होते हैं। 'साकेत' में देश-प्रेम से ओत-प्रोत रामचन्द्रजी की यह उक्ति देखिए—

"मैं हूँ तेरा सुमन, चढ़ूँ, सरसूँ कहीं,
मैं हूँ तेरा जलद बढ़ूँ, बरसूँ कहीं।"

राष्ट्रीयता का भाव पं० रामचरित उपाध्याय में भी था। इसके दर्शन इनके 'चिंतामणि' नामक काव्य में होते हैं। पं० रामनरेश त्रिपाठी में भी राष्ट्रीयता है। इनके 'मिलन', 'पथिक' और 'स्वप्न' नामक तीनों काव्य उक्त भावना से प्रेरित हैं। पं० रूपनारायण पांडेय की कविता के मुख्य विषय हैं, देशभक्ति, स्वदेशी वस्तु-व्यवहार, अछूतोद्धार आदि। पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' में राष्ट्रीयता कूट-कूटकर भरी हुई थी। उनकी राष्ट्रीय रचनाएँ बड़ी भावपूर्ण, जोशीली तथा मधुर हैं। एक नमूना देखिए—

"कोमल जो नव फूल खिले,
हिय बेधि बिधे ! दुखतार पिरोये।
देस दरिद्र दुखी फिर हूँ,
तुम ताहू पै कौन नसा नहिं भोये।।
विप्र सुदामा कों हेरि, हतो,
अपनो जन जानि दयानिधि, रोये।।
भारत गारत हेरि, किते,
करुना तजि कैं करुनानिधि सोये।।"

श्री वियोगीहरि पर राजनीतिक आन्दोलनों का प्रभाव पड़ा है। इन्होंने 'चरखे की गूँज', 'चरखास्तोत्र' और 'असहयोग-वीणा' नामक रचनाएँ की हैं। इनके

हृदय में देश के लिए त्याग करने वाले वीरों के प्रति अपार श्रद्धा है।

वर्तमान-काल में अनेक कवियों ने राष्ट्रीय रचनाओं की सृष्टि की है। इनमें प्रसादजी, पं० सोहनलाल द्विवेदी, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान, श्री रामधारीसिंह 'दिनकर', श्री सुमित्रानन्दन पंत और श्री श्यामनारायण पांडेय प्रमुख हैं। प्रसादजी के राष्ट्रीय उद्‌गार देखिए—

"जियें तो सदा इसी के लिए,
यही अभिमान रहे यह हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व,
हमारा प्यारा भारतवर्ष॥"

सोहनलालजी की 'भारतवर्ष' शीर्षक रचना की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"वह महिमामय अपना भारत,
वह गरिमामय सुन्दर स्वदेश।
युग-युग से जिसका उन्नत शिर,
है किये खड़ा हिमगिरि नगेश॥"

माखनलालजी की रग-रग में राष्ट्रीयता तरंगित होती रहती है। 'पुष्प की अभिलाषा' शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ देखिए—

"मुझे तोड़ लेना वनमाली,
उस पथ में देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने
जिस पथ जावें वीर अनेक॥"

नवीनजी स्वयं एक प्रसिद्ध राष्ट्रीय कार्यकर्ता हैं। अतः इनकी कविताओं में राष्ट्रीयता का पूर्ण समावेश हुआ है। इनका विप्लव-गायन 'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाये' बहुत प्रसिद्धि पा चुका है। श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान की राष्ट्रीय कविताएँ अत्यन्त प्रभावोत्पादक हैं। इनकी 'झाँसी की रानी' बहुत लोकप्रिय है और जन-जन की जिह्वा पर नाच रही है। इसमें देश पर बलिदान होने वाली वीर लक्ष्मीबाई की गौरव-गाथा है। इस प्रकार की रचना भी राष्ट्रीयता का अंग है। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढ़े भारत में भी आई फिर से नई जवानी थी,
गुमी हुई आजादी की कीमत सबने पहचानी थी,
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी।
चमक उठी सन सत्तावन में
वह तलवार पुरानी थी।
बुंदेले हर बोलों के मुंह
हमने सुनी कहानी थी।
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी॥"

दिनकरजी में राष्ट्रीयता कूट-कूटकर भरी हुई है। 'हिमालय के प्रति' शीर्षक रचना में कवि को प्रकृति उतनी आकृष्ट नहीं करती जितना हिमालय का राष्ट्रीय गौरव। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

मेरी जननी के हिम-किरीट
मेरे भारत के दिव्य भाल।

नवयुग शङ्खध्वनि जगा रही
जागे नगपति, जागे विशाल।"

श्री सुमित्रानन्दन पंत की नवीन रचना 'स्वर्ण किरण' में स्थान-स्थान पर राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई है। 'ज्योति भूमि जय भारत देश' में भारत के प्रति कवि का हृदय उमड़ा पड़ता है।

पांडेयजी ने भारत के प्राण महाराणा प्रताप का आश्रय ग्रहण करके 'हल्दीघाटी' नामक काव्य द्वारा राष्ट्रीयता का प्रचुर परिचय दिया है। मातृभूमि के प्रति प्रेम की व्यंजना और मातृभूमि के अतीत गौरव का गान एवं वर्तमान अवनति के प्रति क्षोभ की भावना के अतिरिक्त मातृभूमि पर बलिदान होने वाले वीरों को गौरव-गाथा भी राष्ट्रीयता के अन्तर्गत है। देखिए—

"जग-वैभव-उत्सर्ग किया,
भारत का वीर कहाकर।
माता-मुख-लाली प्रताप ने,
रख ली लहू बहाकर॥"

सारांश यह है कि इस बीसवीं शताब्दी में हमारी हिन्दी कविता राष्ट्रीय भावनाओं से परिपूर्ण हो रही है। अनेक नवयुवक कवि देशभक्ति का बाना धारण करके हिन्दी-काव्य को सुन्दर-सुन्दर राष्ट्रीय उद्गारों से भर रहे हैं। यह हर्ष की बात है। कहने की आवश्यकता नहीं कि राष्ट्रोत्थान के लिए राष्ट्र पर बलिदान होने वाली महान् आत्माओं की गौरवगाथा-सम्बन्धी राष्ट्रीय कविताओं

का विशेष महत्व है; क्योंकि उनसे नवयुवकों का उद्बोधन होता है। इसके अतिरिक्त उनसे शहीदों की स्मृति-रक्षा भी होती है। वैसे तो शहीदों का नाम सदा अमिट रहता है। किसी ने ठीक ही कहा है—

शहीदों की चिताओं पर
लगेंगे हर बरस मेले।
वतन पर मरने वालों का
सदा कायम निशाँ होगा॥"

सूर की काव्य-प्रतिभा

(१) प्रस्तावना—आविर्भाव के समय की दशा
(२) काव्य-प्रतिभा
(क) वात्सल्य-क्षेत्र में पहुँच
(१) बाल सुलभ भावों की व्यंजना (२) बालसुलभ चेष्टाओं का चित्रण
(ख) शृङ्गार-क्षेत्र में पहुँच
(१) संयोग शृङ्गार-सम्बन्धी रचना (२) वियोग शृङ्गार-सम्बन्धी रचना
(ग) भक्ति-क्षेत्र में पहुँच
(घ) बाह्य दृश्य-चित्रण
(ङ) उक्ति का अनूठापन
(च) अलंकार—योजना
(छ) भाषा
(३) उपसंहार—हिन्दी साहित्य में स्थान

भारतवर्ष में मुसलमानों का आधिपत्य पूर्णतया स्थापित हो जाने पर हिन्दुओं में गहरी उदासी छा गई। मुसल-

मान उन पर तरह-तरह के अत्याचार करते थे और वे पराधीनता की शृङ्खलाओं में जकड़े दीन बने हुए सब कुछ सहते थे। उनका जीवन नीरस एवं निराशा-मय हो गया था। ऐसे समय उन्हें सान्त्वना देने के लिए, उनके हृदय को हलका करने के लिए, कवि भक्ति का मार्ग खोजने लगे। रामभक्त कवि दुष्ट-दलनकारी दीनबन्धु भगवान राम का शक्ति-सम्पन्न रूप दिखाकर तथा कृष्णभक्त कवि सौंदर्य-पूर्ण भगवान कृष्ण का हँसता-खेलता रूप दिखाकर हिन्दुओं के भग्न होते हुए हृदय को सँभालने और उनके जीवन में सरसता का संचार करने लगे। उन सब में मुरझाए मनों को सींचनेवाली सबसे मधुर वाणी अंधे कवि सूरदास की थी।

सूरदासजी ने प्रधानतः कृष्ण-जीवन के सौंदर्यपूर्ण और माधुर्यपूर्ण पक्ष को अपने काव्य में प्रदर्शित किया है। उन्होंने बाल्यकाल तथा यौवनकाल की नाना प्रकार की मनोहर परिस्थितियों के विशद चित्रण द्वारा हिन्दी-काव्य को जगमगा दिया है। वात्सल्य और शृङ्गार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन उन्होंने अपने बंद नेत्रों से किया है उतना कोई खुले नेत्रवाला भी नहीं कर सका है। वे तो उनका कोना-कोना झाँक आए हैं, औरों के लिए कुछ छोड़ा ही नहीं है। उक्त दोनों रसों से सम्बन्धित न जाने कितनी मानसिक दशाओं का समावेश उनके काव्य में हुआ है। उनके एक-एक पद में न जाने कितने भाव उलझे पड़े हैं। उनके 'सूर-सागर' को यदि भाव-सागर कहें तो अत्युक्ति न होगी। प्रेम-भाव का पूर्ण ज्ञान यदि किसी कवि को था तो वह हृदय के पारखी सूर को। उनका हृदय प्रेम से आप्लावित

था। उसके तीनों रूपों, वात्सल्य प्रेम, दाम्पत्य प्रेम एवं भगवद्विषयक प्रेम (अर्थात् भक्ति), का विस्तृत प्रत्यक्षीकरण उनकी कविता में मिलता है। कृष्णजी की बाललीला के पद वात्सल्य प्रेम के, गोपी-सम्बन्धी पद दाम्पत्य प्रेम के और विनय के पद भगवद्विषयक प्रेम के अन्तर्गत हैं।

पहले सूर का वात्सल्य-क्षेत्र लीजिए। कृष्ण की बाल-लीला का बड़े विशद रूप में चित्रण हुआ है। शैशव से लेकर कौमार अवस्था तक के क्रमानुसार अनेक चित्र मौजूद हैं। कवि ने बालकों की अन्तः प्रकृति में प्रविष्ट होकर बाल-सुलभ भावों का बड़ा स्वाभाविक उद्‌घाटन किया है। बालकों में स्पर्द्धा का भाव स्वाभाविक होता है। वे एक दूसरे की होड़ बहुत करते हैं। देखिए निम्नांकित पद में कृष्ण बलदाऊ की चोटी से अपनी चोटी को छोटा देखकर किस प्रकार माता यशोदा से प्रश्न करते हैं—

"मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ?
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लांबी मोटी॥
काढ़ति, गुहति, न्हावत, पोंछत, नागिन-सी भुइँ लोटी।
काचो दूध पियावति पचि-पचि देत न माखन रोटी।
सूर स्याम चिरजिव दोउ भैया, हरि-हलधर की जोटी।

खिझाने की प्रवृत्ति भी बालकों में होती है। चिढ़ाना उन्हें अच्छा लगता है। शिकायत करना भी उनके स्वभाव में पाया जाता है। बलदाऊ कृष्ण को चिढ़ाते हैं। कृष्ण उनकी शिकायत यशोदा से करते हैं। देखिए—

"मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायो ।
मोसों कहत मोल को लीनों, तू जसुमति कब जायो ।
कहा कहौं यहि रिस के मारे, खेलन हौं नहिं जात ।
पुनि-पुनि कहत, कौन है माता, को है तुमरो तात ।
गोरे नन्द, जसोदा गोरी तुम कत स्याम सरीर ।
तारी दे दे हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलवीर ॥"

खेल में हार-जीत पर बालकों में क्षोभ होना स्वाभाविक है । इस भाव की व्यंजना देखिए—

"खेलत में को काको गोसैयाँ ।
हरि हारे, जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ ।
जाति पाँति हमते कछु नाहीं ना हम बसत तुम्हारी छैयाँ ॥
अति अधिकार जनावत यातें अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ ।
रुहठि करे तासों को खेलै रहे वैठि जहँ तहँ सब ग्वैयाँ
सूरदास प्रभु खेलोई चाहत दाँव दियो करि नन्द-दुहैयाँ ॥"

इस प्रकार के अनेक भाव 'सूरसागर' में हैं ।

बाल-सुलभ चेष्टाओं के चित्रण में तो सूर ने कमाल किया है । इससे उनकी सूक्ष्म-दर्शिता का परिचय मिलता है । पैर का अँगूठा मुख में डालना शिशुओं की स्वाभाविक चेष्टा है । देखिए बाल-कृष्ण की यह चेष्टा—

"करि गहि पग अँगुठा मुख मेलत ।
प्रभु पौढ़े पालने अकेले, हरषि हरषि अपने रँग खेलत ।"

हठ करना भी बालकों की स्वाभाविक चेष्टा है । बालहठ प्रसिद्ध है । इच्छा की पूर्ति न होने पर बालक रूठकर धरती पर लोट जाया करते हैं । देखिए कृष्णाजी की

इस चेष्टा पर यशोदाजी अप्रसन्न होकर क्या कह रही हैं—

"कत हो आरि करत मेरे मोहन यों तुम आँगन लोटी ?
जो माँगहु सो देहुँ मनोहर, यहै वात तेरी खोटी।"

शिशु घुटनों के वल चलते हुए अपने सारे शरीर को धूल-धूसरित कर लेते हैं। दाल, भात, दही आदि भी उनके मुख की शोभा बढ़ाते रहते हैं। यही दशा कृष्णजी की भी है। देखिए—

"सोभित कर नवनीत लिए।
घुटरुन चलत, रेनु तन मंडित, मुख, दधि लेप किए।"

इस प्रकार की अनेक चेष्टाओं का 'सूरसागर' भंडार है।

अब शृङ्गार-क्षेत्र की ओर आइए। संयोग और वियोग दोनों पक्षों को जितना प्रचुर विस्तार सूर ने दिया है उतना किसी अन्य कवि ने नहीं। वृन्दावन में जब तक कृष्णजी रहे तब तक का उनका और गोपियों का क्रीड़ामय सारा जीवन ही संयोग पक्ष है। दानलीला, माखन-लीला, चीर-हरण-लीला, रास-लीला आदि पर सहस्रों पद हैं। उनका संयोग-वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक एवं उल्लासपूर्ण है। राधा और कृष्ण में प्रेम की उत्पत्ति रूप-आकर्षण द्वारा हुई। देखिए—

"खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी।
गए श्याम रवितनया के तट, अंग लसहि चन्दन की खौरी॥
औचक ही देखी तहँ राधा, नैन विसाल भाल दिए रोरी।
नील वसन फरिया कटि पहिरे बेनी पीठि रुचिर झकझोरी।

संग लरकिनी चलि इत आवति दिन थोरी अति छवि तन गोरी।
सूर श्याम देखत ही रीझे, नैन नैन मिलि परी ठगोरी॥"

छेड़-छाड़ और हास-परिहास कौमार अवस्था की स्वाभाविकता है। इन्हीं साधनों द्वारा गोपियों के साथ कृष्ण के प्रेम का स्वाभाविक प्रारम्भ सूर ने प्रदर्शित किया है। देखिए कुमार कृष्ण की कुमारी राधा के साथ छेड़-छाड़ कितनी सुन्दर है—

"बूझत श्याम कौन तू गोरी?
कहाँ रहति, काकी तू बेटी? देखी नाहिं कहूँ ब्रज-खोरी॥
काहे को हम ब्रज तन आवति? खेलति रहित आपनी पौरी।
सुनति रहति श्रवनन नँद ढोठा करत रहत माखन दधि चोरी॥
तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं? खेलन चलौ संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि बात न भुरइ राधिका भोरी॥"

'तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं?' में कैसा सुन्दर परिहास है!

कृष्णजी के मथुरा चले जाने पर संयोग शीघ्र ही वियोग में परिणत हो जाता है। वियोग की जितनी दशाएँ हो सकती हैं उन सबका समावेश 'सूरसागर' में हुआ है। उसमें वियोगी हृदय का सूक्ष्म विश्लेषण है। सूर का विप्रलम्भ बहुत व्यापक एवं हृदयस्पर्शी है। उसमें कहीं भी कृत्रिमता नहीं पाई जाती। उसके वर्णन में कवि ने जैसी तन्मयता, जैसी तल्लीनता, दिखाई है वैसी अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। सूर का विप्रलम्भ सचमुच विश्व-साहित्य की अनूठी वस्तु है। कुछ उदाहरण लीजिए—

"निसि दिन बरसत नैन हमारे ।
सदा रहत पावस ऋतु हम पर, जब तें स्याम सिधारे ॥
अंजन थिर न रहत अँखियन में, कर कपोल भए कारे ।
कंचुकि पट सूखत नहिं कबहूँ, उर बिच बहत पनारे ॥
आँसू सलिल भए पग थाके, बहे जात सित तारे ।
सूरदास अब डूबत है ब्रज, काहे न लेत उबारे ॥"

विरहिणी गोपिकाओं की यह उक्ति कितनी वेदनापूर्ण, कितनी मर्मस्पर्शी है ! इसकी चोट से क्या पाठक घायल हुए बिना रह सकता है ?

"ऊधो इतनी कहियो जाय ।
अति कृशगात भई हैं तुम बिनु बहुत दुखारी गाय ॥
जल-समूह बरसत अँखियन तें, हूँकति लीन्हें नाँव ।
जहाँ जहाँ गोदोहन करते हूँढ़ति सोइ सोइ ठाँव ॥
परति पछार खाइ छिन हीं छिन अति आतुर ह्वै दीन ।
मानहु सूर काढ़ि डारी हैं वारि मध्य तें मीन ॥"

जिसके वियोग में पशुओं को इतनी व्यथा हो, इतना संताप हो, उसके वियोग में आत्मीय जनों की क्या दशा हुई होगी ? गोपियों की इस उक्ति में कितने कारुण्यपूर्ण उद्गार हैं ! जब वे अपने दुःख की राम-कहानी कहते-कहते थक जाती हैं तब गायों की दयनीय दशा कहती हैं, जिससे कदाचित् उन्हीं का ख्याल करके प्रियतम कृष्ण आ जायँ ।

कभी वे सायंकाल कृष्ण का स्मरण करने लगती हैं—

"एहि बेरियाँ बन तें ब्रज आवते ।
दूरहिं तें वह बेनु अधर धरि बारंबार बजावते ॥"

कभी वे अपने नैराश्यपूर्ण नीरस जीवन के मेल में न होने के कारण वृन्दावन के हरे-भरे वृक्षों को कोसने लगती हैं—

"मधुवन तुम कत रहत हरे?
विरह-वियोग श्यामसुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे?"

कभी वे रात्रि का सर्पिणी कहने लगती हैं—

"पिया विनु साँपिनि कारी राति।
कबहुँ जामिनी होत जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जाति॥"

सूर का हृदय कृष्णभक्ति से लबालब भरा था। वे कृष्ण भगवान की सलोनी छवि पर निछावर हो गए थे। देखिए—

"नन्दसुअन की या छवि ऊपर सूरदास बलिहारी।"

वे 'हरिनाम' को निर्बल का बल समझते थे। देखिए—

"सूर किसोर कृपा तें सब, बल हारे को हरि नाम।"

भक्त की दीनता उनके हृदय में कूट-कूटकर भरी हुई थी। निम्नांकित पंक्तियों में इसकी सुन्दर व्यंजना हुई है—

"हरि हौं सब पतितन को नायक।
को करि सकै बराबरि मेरी और न कोऊ लायक॥"

सूर के बाह्य दृश्य-चित्रण में केवल रूप को स्थान मिला है, प्रकृति को नहीं। प्रकृति का उपयोग भाव या अलंकार-सामग्री के रूप में हुआ है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता कहीं नहीं देखी जाती। देखिए—

"बिनु गोपाल बैरिन भईं कुंजैं।
तब ये लता लगतिं अति शीतल, अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं॥"

अथवा—

"देखि री ! हरि के चंचल नैन ।
"खंजन मीन मृगज चपलाई, नहिं पटतर इक सैन ॥"

रूप-चित्रण तो सूर का बहुत सुन्दर हुआ है । कृष्ण की श्यामल मोहिनी मूर्ति पर गोपियाँ मोहित थीं, व्रजजन मुग्ध थे । एक चित्र देखिए—

"नटवर भेष धरे व्रज आवत ।
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल कुटिल अलक मुख पर छवि पावत ॥
भ्रकुटी विकट नैन अति चंचल यहि छवि पर उपमा एक भावत ।
धनुस देखि खंजन विवि डरपत उड़ि न सकत उठबे अकुलावत ॥
कनक मेखला कटि पीताम्बर नृत्यत मंद मंद सुर गावत ।
सूर स्याम प्रति अंग माधुरी निरखत व्रज-जन के मन भावत ॥"

काव्य की रमणीयता बढ़ाने में उक्ति का अनूठापन विशेष महत्व रखता है । यदि किसी भाव की व्यंजना के लिए वक्र उक्ति का आश्रय लिया जाय तो काव्य का माधुर्य बढ़ जाता है । सूर ने इस युक्ति का अच्छा उपयोग किया है । किसी बात को कहने के न जाने कितने टेढ़े-सीधे ढंग उन्हें ज्ञात थे । उन्होंने गोपिकाओं के मुख से किस अनूठे ढंग से कृष्णजी के सगुण रूप का परित्याग असम्भव बताया है, देखिए—

'उर में माखन चोर गड़े ।
अब कैसहुँ निकसत नहिं ऊधो, तिरछे ह्वै जु अड़े ॥"

ठीक है, तिरछी होकर अटकी हुई वस्तु कैसे बाहर निकल सकती है ?

एक दूसरे स्थल पर उद्धव द्वारा निराकार-उपासना के प्रतिपादन पर खिन्न गोपिकाओं की वचन-वक्रता का

परिचय इस उक्ति में मिलता है। वे राधा से कहती हैं—

"मोहन माँग्यो अपनो रूप।
या ब्रज वसत अँचै तुम बैठी, ता विनु तहाँ निरूप ॥"

कृष्ण का रूप तो तुम पी गई हो। वह तुम्हारे हृदय में यहीं रह गया है, क्योंकि तुम उनके रूप का सदैव ध्यान करती रहती हो। अतः कृष्ण वहाँ रूप-रहित, आकार रहित हो गए हैं। उद्धव द्वारा उन्होंने अपना रूप माँगा है। भाव यह है कि तुम जो कृष्ण का ध्यान करती रहती हो उसे उद्धव छुड़ाने आए हैं। यह बात कितने टेढ़े ढंग से कही गई है।

सूर का अलंकार-विधान श्रेष्ठ है। उन्होंने अपनी कल्पना के बल से कई स्थलों पर मनोरम अलंकारों की योजना की है। एक उदाहरण लीजिए—

"हमको सपनेहू में सोच।
जा दिन तें बिछुरे नन्द नन्दन ता दिन ते यह पोच ॥
मनो गोपाल आए मेरे घर हँसि करि भुजा गही।
कहा करों बैरिन भइ निंदिया, निमष न और रही ॥
ज्यों चकई प्रतिबिंब देखिके, आनन्दी पिय जानि।
सूर पवन मिलि निठुर विधाता चपल कियो जल आनि ॥"

किसी गोपी द्वारा स्वप्न में अपने प्रियतम कृष्ण के साक्षात्कार और किसी चकई द्वारा जल में अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर भ्रमवश अपने पति के दर्शन का कैसा मार्मिक साम्य सूर ने उपस्थित किया है! इसके अतिरिक्त निद्राभंग के कारण संयोग के अभाव और पवन के कारण

जल के हिल जाने से प्रतिबिम्ब के हट जाने की कैसी सुन्दर समता कवि ने दिखाई है ! उपमा अलंकार का यह बहुत उत्कृष्ट उदाहरण है। सूर ने विशेषकर उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि सादृश्यमूलक अलंकारों का ही प्रयोग किया है। इनकी प्रचुरता रूप-वर्णन में मिलती है। कहीं-कहीं सूर ने आलंकारिक कुतूहल भी दिखाया है। जैसे निम्नांकित रूपकातिशयोक्ति में—

"अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त तापर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरवर सर पर गिरवर गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर ता ऊपर अमृत फल लाग॥
फल पर पुहुप पुहुप पर पल्लव तापर सुकपिक मृग मद काग।
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर ता ऊपर इक मनिधर नाग॥
अंग अंग प्रति और और छवि उपमा ताको करथन त्याग।
सूरदास प्रभु पियहु सुधारस मानहु अधरनि को बड़ भाग॥"

सूर का काव्य ब्रजभाषा में है। वह ब्रज की चलती बोली होने पर भी साहित्यिक भाषा के रूप में मिलती है। उसमें कहीं-कहीं अन्य प्रान्तीय भाषाओं तथा अपभ्रंश के शब्द भी पाए जाते हैं। 'आपन', 'हमार' आदि पूरबी प्रयोग हैं। मँहगी के अर्थ में 'प्यारी' का प्रयोग पंजाबी है। अंधे होने के कारण सूर अपने पदों को सामने रखकर उनकी भाषा का शोधन करने में असमर्थ थे। यही कारण है कि कई स्थलों पर वाक्य-रचना अव्यवस्थित तथा शब्दों का विकृत रूप देखने में आता है। जैसे—'रहत' का 'राहत', 'पानी' का 'पान्यों' आदि कर

दिया गया है। ऐसा तुकान्त की रक्षा के लिए भी करना पड़ा है। वैसे भाषा में सर्वत्र स्वाभाविक मिठास है।

सारांश यह है कि सूर एक महाकवि थे। उनकी काव्य-प्रतिभा जाज्वल्यमान है। उससे हिन्दी-काव्य-क्षेत्र जगमगा रहा है। यद्यपि उसका प्रकाश जीवन के संकुचित क्षेत्र में हुआ है, तथापि उससे उस क्षेत्र का कोना-कोना आलोकित हो गया है। सूर का एक-एक पद भावों से ठसाठस भरा हुआ है। उसमें 'गागर में सागर' का गुण विद्यमान है। उसे सुनकर श्रोता पर क्या प्रभाव पड़ता है, देखिए—

"श्री सूर-कविता सुनि कौन कवि, जो नहिं सिर चालन करे।"

श्रोता मस्त होकर सिर हिलाने लगता है। सूर के पदों के सम्बन्ध में यह दोहा भी बहुत प्रसिद्ध है—

"किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो, बेध्यो सकल शरीर॥"

सचमुच सूर के पद घायल किए बिना नहीं रहते। उनकी सी मधुरता, उनकी सी सरसता, उनकी सी गंभीरता, उनकी सी मर्म-स्पर्शिता अन्यत्र कहाँ मिल सकती है?

हिन्दी-साहित्य में नाटकों का विकास

(१) प्रस्तावना—आरम्भ
(२) भारतेन्दुजी तथा उनके सहयोगियों द्वारा नाटक-रचना
(३) भारतेन्दु काल की नाटक-रचना-शैली
(४) भारतेन्दु कालीन नाटक-परम्परा में आगे चलकर शैथिल्य का समावेश

(५) द्विवेदी-काल में अनुवादित नाटकों की रचना
(६) हिन्दी-नाटक पर द्विजेन्द्रलाल राय का प्रभाव
(७) वर्तमानकाल में नाटक-विकास
(८) एकांकी नाटकों का प्रचार
(९) हिन्दी नाटकों पर यथार्थवाद का प्रभाव
(१०) उपसंहार—सारांश

हिन्दी-नाटक का प्रारम्भ भारतेन्दुजी के समय से माना जा सकता है। उनसे पहले नाटक के नाम से दो चार ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। जैसे—बाबू-गोपालचन्द्र का 'नहुष' नाटक और महाराज विश्वनाथसिंह का 'आनंद-रघुनंदन'। पर इनमें नाटकत्व की कमी थी और ये दोनों ब्रजभाषा में लिखे गए थे। भारतेन्दुजी ने सर्वप्रथम खड़ी बोली में नाटक-रचना का सूत्रपात किया। उन्होंने नाटक-सम्बन्धी एक लेख भी लिखा था। हिन्दी में इस विषय का यह पहला लेख है।

भारतेन्दुजी को नाटक-रचना की प्रेरणा बंगाली साहित्य से मिली। पन्द्रह वर्ष की अल्पायु में उन्होंने बंगाल की यात्रा की थी। वहाँ उन्हें बंगाली नाटकों का परिचय प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हुआ। उनका सबसे पहला नाटक—'विद्यासुन्दर' एक बंगाली-नाटक का अनुवाद है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'सत्यहरिश्चन्द्र', 'भारत दुर्दशा', 'अन्धेरनगरी', 'वैदिकी-हिंसा हिंसा न भवति', आदि मौलिक और 'मुद्राराक्षस', 'कर्पूरमंजरी' आदि अनुवादित नाटकों की रचना की। उनके प्रभाव से प्रभावित होकर बद्रीनारायण चौधरी, प्रतापनारायण मिश्र

अम्बिकादत्त व्यास, श्री निवासदास, राधाकृष्णदास आदि लेखक भी इस कार्य की ओर उन्मुख हुए। बदरीनारायण ने भारत सौभाग्य, प्रतापनारायण मिश्र ने 'गोसंकट', अम्बिकादत्त व्यास ने 'ललिता' तथा 'भारत-सौभाग्य' श्री निवासदास ने 'रणधीर प्रेममोहिनी' 'तप्तासंवरण' एवं 'संयोगिता स्वयंवर' और राधाकृष्णदास ने 'महाराणा प्रतापसिंह', 'दुःखिनी बाला' एवं 'महारानी पद्मावती' की रचना की। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेन्दु-युग में गद्य-साहित्य के इस अंग की ओर लेखकों का पर्याप्त ध्यान रहा।

भारतेन्दुजी ने नाटक-रचना की संस्कृत और विलायती शैलियों का मध्यम मार्ग ग्रहण किया। विलायती शैली का प्रभाव बँगला द्वारा पड़ा। वे स्वयं उच्च कोटि के अभिनेता थे और रंगमंच की आवश्यकताओं को समझते थे। यही कारण है कि उनके नाटक अभिनयोपयुक्त हैं।

खेद के साथ कहना पड़ता है कि भारतेन्दु के समय की नाटक-परम्परा आगे चलकर बहुत शिथिल हो गई। इस शिथिलता का कारण उपन्यासों की ओर दिन-दिन बढ़ती हुई रुचि के अतिरिक्त अभिनय-शालाओं का अभाव भी कहा जा सकता है। अभिनय द्वारा नाटकों की ओर रुचि बढ़ती है और उनका अच्छा प्रचार होता है। नाटक दृश्य काव्य हैं। उनका बहुत कुछ आकर्षण अभिनय पर अवलम्बित रहता है। उस समय नाटक खेलने वाली जो व्यवसायी पारसी कम्पनियाँ थीं, वे उर्दू को छोड़कर हिन्दी नाटक खेलने

को तैयार न थीं। ऐसी दशा में नाटकों की ओर हिंदी प्रेमियों का उत्साह कैसे रह सकता था ?

द्विवेदी-युग में मौलिक नाटकों की रचना नहीं-सी हुई। लेखकों ने संस्कृत, बँगला और अंगरेजी से ही नाटकों का प्रायः अनुवाद किया। संस्कृत-नाटकों के अनुवाद करनेवाले पं० सत्यनारायण तथा लाला सीताराम बी० ए० थे। लालाजी ने अंगरेजी के नाटकों का भी अनुवाद किया। बँगला-नाटकों का अनुवाद करनेवाले रूपनारायण पाँडे थे। उन्होंने द्विजेन्द्रलाल राय और गिरीशचन्द्र घोष द्वारा लिखे हुए नाटकों की अवतारणा हिन्दी में की।

भारतेन्दुजी के बाद हिन्दी-नाटक पर द्विजेन्द्रलाल राय का प्रभाव पड़ा। द्विजेन्द्रबाबू अपने समय के बंगाल के सर्वश्रेष्ठ-नाटककार थे। उनके नाटकों की ओर हिन्दीवाले आकर्षित हुए और उनका खूब अनुवाद होने लगा। मौलिक लेखक भी उनकी शैली को अपनाने का प्रयत्न करने लगे। उनके नाटकों में भावुकता चरमकोटि तक पहुँची हुई थी और अन्तर्द्वन्द्व को वे प्रधानता देते थे। उन पर पाश्चात्य प्रभाव खूब पड़ा था। सारांश यह है कि आधुनिक काल के आरम्भ ही से बँगला को देखा देखी हमारे हिंदी-नाटकों के ढाँचे भी पाश्चात्य होने लगे। नांदी, मंगलाचरण तथा प्रस्तावना हटाई जाने लगी। विष्कंभक, प्रवेशक और गर्भाङ्क भी नहीं रखे जाने लगे।

आधुनिक काल के नाटककारों में दो नाटककार बहुत ऊँचे स्थान पर दिखाई पड़े हैं—जयशंकर प्रसादजी और

हरिकृष्ण 'प्रेमी'। दोनों की दृष्टि ऐतिहासिक काल की ओर रही है। 'प्रसादजी' ने अपना क्षेत्र प्राचीन हिन्दू-काल के भीतर चुना और 'प्रेमीजी' ने मुसलमान काल के भीतर। प्रसादजी के नाटकों में 'स्कन्दगुप्त' और प्रेमीजी के नाटकों में 'रक्षा बंधन' श्रेष्ठ है। इन लेखकों के नाटक, यद्यपि ऐतिहासिक हैं, पर उनमें आधुनिक आदर्शों और भावनाओं का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। 'प्रसादजी' और 'प्रेमीजी' के अतिरिक्त बद्रीनाथ भट्ट, गोविन्दबल्लभ पंत, पांडेय बेचनशर्मा 'उग्र' माखनलाल-चतुर्वेदी, सेठ गोविंददास, राधेश्याम, लक्ष्मीनारायण मिश्र, जगन्नाथप्रसाद, मिलिंद, ने नाटक रचना की है। बद्रीनाथ भट्ट की 'दुर्गावती' में अभिनय की विनोद-पूर्ण सामग्री है। पंतजी की 'वरमाला' अभिनयोपयुक्त सफल रचना है। उग्र का महात्मा ईसा, चतुर्वेदीजी का 'कृष्णार्जुन युद्ध' सेठजी का 'कर्तव्य' राधेश्यामजी का 'वीर अभिमन्यु' मिश्रजी का 'संन्यासी, 'मिलिंदजी' का 'प्रतापसिंह' और भट्टजी का 'विश्वामित्र' अच्छे नाटक हैं। प्रहसन-लेखकों में जी० पी० श्रीवास्तव का नाम उल्लेखनीय है। उनका 'उलट-फेर' अच्छा नाटक है। इन लेखकों के अतिरिक्त अन्य लेखक भी नाटक-रचना कर रहे हैं, पर अभी उनका कोई विशिष्ट स्थान नहीं है।

इधर कुछ दिनों से हिंदी में एकांकी नटक भी लिखे जाने लगे हैं। जीवन की जटिलता के कारण आजकल समय की कमी की शिकायत प्रायः रहती है; आजकल लोग थोड़े से थोड़े समय में अधिक से अधिक मनोरंजन चाहते हैं। इसी प्रवृत्ति के फल-स्वरूप एकांकी नाटक का अविर्भाव हुआ है। उसमें कहानी की भाँति जीवन की

केवल एक झलक ही दिखाई जाती है। पर जिस प्रकार कहानी उपन्यास का लघु संस्करण नहीं है, उसी प्रकार एकांकी नाटक बड़े नाटक का लघु संस्करण मात्र नहीं है। उसकी रचना का कौशल घटनाओं की संख्या कम कर देने में नहीं है, वरन् उनके सफल प्रतिपादन में है। कुछ लोगों का विचार है कि एकांकी नाटक में चरित्र-चित्रण के लिए कोई स्थान नहीं है। यह विचार भ्रमपूर्ण है। एकांकी नाटक में चरित्र का चित्रण होता तो है; किन्तु बड़े नाटक की भाँति उसमें चरित्र के विकास एवं विश्लेषण की अधिक गुंजाइश नहीं रहती। बड़े नाटक की अपेक्षा उसमें छोटे आकार के कारण रसात्मकता एवं कवित्व की उद्भावना सरलता से की जा सकती है।

यद्यपि हमारे यहाँ एक अंक वाले उप-रूपकों की रचना बहुत पहले हुई थी, तथापि वर्तमान एकांकी नाटक-रचना की प्रेरणा हमें आधुनिक अँगरेजी साहित्य से मिली है। उसी के अनुसार हिंदी-एकांकी नाटक अपना स्वरूप प्रदर्शित कर रहा है। उसके विषय आधुनिक समाज से सम्बन्धित होते हैं। आजकल हिंदी के कई कवि और नाटककार एकांकी नाटक लिख रहे हैं। इन नाटकों के कई संग्रह निकल चुके हैं, जिनमें 'आधुनिक एकांकी नाटक' अच्छा संग्रह है। इसमें रामकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा सुदर्शन, उदयशंकर भट्ट, भुवनेश्वर, उपेन्द्रनाथ अश्क और धर्मप्रकाश आनन्द के नाटक संगृहीत हैं। इन महानुभावों के अतिरिक्त गणेशशंकर द्विवेदी तथा सेठ गोविन्ददास भी इस क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं।

वर्तमान हिन्दी नाटकों पर पाश्चात्य यथार्थवाद का प्रभाव पड़ रहा है। इसी के परिणाम-स्वरूप हमारे यहाँ दुःखान्त नाटकों की भी रचना होने लगी है। प्राचीन काल में हमारे यहाँ नाटक सुखान्त होते थे, दुःखान्त नहीं। सुख-दुःख के घात-प्रतिघात अवश्य दिखाए जाते थे; किंतु उन सबका अवसान आनन्द में हो जाया करता था। आजकल कुछ नाटककार यथार्थवाद की झोंक में समाज के कुत्सित एवं वीभत्स चित्र भी उपस्थित कर रहे हैं। यह बुरी बात है। उनको यह नहीं सूझता कि यथार्थवाद की नकल करने से समाज का कितना अहित होगा, समाज का कितना अधःपतन होगा। नकल करना बुरा नहीं। पर नकल सदैव उत्कृष्ट बातों की करनी चाहिए, निकृष्ट बातों की नहीं।

अन्त में यही कहना है कि हिन्दी-नाटक द्रुत गति से उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा है और उसका खूब विकास हो रहा है। उसमें अन्तः प्रकृति के विश्लेषण द्वारा चरित्र-चित्रण, भावों के घात-प्रतिघात तथा रसात्मकता की प्रधानता पाई जाती है। वह अँगरेजी नाटक के अनुसरण पर अपना स्वरूप स्थिर कर रहा है, संस्कृत नाटक के अनुकरण पर नहीं।

देवनागरी-लिपि और उसमें सुधार

(१) प्रस्तावना—देवनागरी-लिपि की महत्ता
(२) रोमन एवं फारसी लिपियों के साथ उसकी तुलना

(३) उसका राष्ट्रलिपि की अधिकारिणी होना
(४) उसकी कुछ कमियाँ
(५) आवश्यक सुधार
(६) उपसंहार—सारांश

हिन्दी की देवनागरी लिपि एक वैज्ञानिक लिपि है। यह अनेक गुणों से परिपूर्ण है। यह सरल, सुबोध तथा सुन्दर है। ध्वनि की दृष्टि से भी यह भरी-पूरी है। यह हमारी निजी पैतृक सम्पत्ति है। इसकी वर्णमाला वैज्ञानिक आधार पर सैकड़ों वर्ष पूर्व निर्धारित की गई थी। भारतवर्ष में इसका प्रचार अन्य भारतीय लिपियों की अपेक्षा अधिक है। प्रत्येक प्रान्त के निवासी इससे परिचित हैं, क्योंकि प्रायः सभी प्रान्तों में संस्कृत लिखने में देवनागरी-लिपि ही प्रयुक्त होती है। यह संस्कृत की निजी लिपि बन गई है। मराठी भाषा भी इसी लिपि से अंकित की जाती है। बँगला, गुरुमुखी तथा गुजराती की लिपियाँ देवनागरी से बहुत समानता रखती हैं।

राष्ट्र-लिपि के आसन पर विराजमान करने में देवनागरी की प्रतियोगिता में दो लिपियाँ रक्खी जाती हैं—एक रोमन और दूसरी फारसी। इनमें से रोमन लिपि इस समय पश्चिमी संसार की लिपि है। हमारे देश की अँगरेजी पढ़ी-लिखी जनता उससे परिचित है। फारसी लिपि में उर्दू भाषा का साहित्य अंकित है। अतः संयुक्त-प्रान्त के अतिरिक्त अन्य प्रान्तों में भी उर्दू-भाषा-भाषी कुछ जनता उससे परिचित है। इस प्रकार अन्य प्रान्तों

में भी उसका कुछ-कुछ प्रचार है। अब विचारणीय विषय यह है कि देवनागरी की तुलना में रोमन लिपि आदरणीय एवं ग्राह्य है अथवा फारसी लिपि।

पहले रोमन लिपि को लीजिए। ध्वनि की दृष्टि से वह अत्यन्त दोषपूर्ण है। उसमें एक ही ध्वनि के लिए कई वर्णों का प्रयोग होता है। जैसे 'क' के लिए 'K' और 'C' 'ज' के लिए 'G' और 'J' 'व' के लिए 'W' और 'V' 'अ' के लिए 'A' 'E' और 'I' 'ए' के लिए 'A' और 'E' 'ई' के लिए 'E' 'I' और 'Y' 'इ' के लिए 'E' और 'I'। एक ही वर्ण कई ध्वनियों के लिए प्रयुक्त होता है। जैसे 'C' 'स' और 'क' के लिए 'G' 'ज' और 'ग' के लिए 'U' 'उ' 'ऊ' और 'अ' के लिए; 'A' 'अ' 'आ' और 'ए' के लिए 'E' 'इ' 'ई' 'ए' और 'अ' के लिए 'I' 'इ' 'आइ' और 'ई' के लिए। परिणाम यह होता है कि ध्वनि की अनिश्चितता के कारण शब्दों के उच्चारण एवं बनावट रटनी पड़ती है, अन्यथा कुछ का कुछ पढ़ा जा सकता है। जैसे 'cat' को 'कैट' 'केट' 'काट' 'कट' 'सैट' 'सेट' 'साट' 'सट' और Snake को 'स्नेक' 'स्नाक' 'स्नैक' 'स्नक' 'स्नेक' 'स्नाके' 'स्नैके; 'स्नके' 'स्नेकी' 'स्नाकी' 'स्नैकी' 'स्नाकी' पढ़ा जा सकता है। देवनागरी लिपि में ऐसी गड़बड़ी नहीं है। इसमें प्रत्येक ध्वनि के लिए एक वर्ण और प्रत्येक वर्ण के लिए एक ध्वनि निर्धारित है। अतः जैसा लिखा जाता है वैसा ही पढ़ा जाता है।

इसके अतिरिक्त रोमन लिपि में अन्य दोष यह है

क़ि एक वर्ण में कई ध्वनियाँ मिली रहती हैं। यह पता नहीं चलता कि वह वर्ण किस ध्वनि का द्योतक है। जैसे W (डबल्यू) R (आर) S (एस) Z (ज़ैड) B (बी) और K (के)। इनमें पहला वर्ण मध्यवर्ती 'ब' ध्वनि का, दूसरा तथा तीसरा वर्ण अंतिम 'र' तथा 'स' ध्वनि का और चौथा, पाँचवा तथा छटा वर्ण आदिम 'ज', 'ब' तथा 'क' ध्वनि का द्योतक है। 'H' (एच) ऐसा वर्ण है जो न आदिम ध्वनि 'ए' का द्योतक है और न अंतिम ध्वनि 'च' का। वह तो 'ह' का द्योतक है। इस प्रकार की अनियमितता देवनागरी लिपि से कहाँ मिलेगा। अतः स्पष्ट है कि देवनागरी लिपि रोमन लिपि से कहीं श्रेष्ठ है।

अब फारसी लिपि को लीजिए। इसमें कई दोष विद्यमान हैं। पहला दोष तो यह है कि एक ध्वनि के लिए कई वर्ण हैं। जैसे 'अ' के लिए 'ا' और 'ع'; 'स' के लिए 'ث', 'س' और 'ص', 'ह' के लिए 'ح' और 'ه' 'त' के लिए 'ت' और 'ط', 'ज़' के लिए 'ز' 'ذ', 'ض' और 'ظ'। अतः शब्दों की बनावट को रटना पड़ता है। देवनागरी लिपि में ऐसा नहीं करना पड़ता। इसमें तो, जैसा कि पहले कहा जाचुका है, एक ध्वनि के लिए केवल एक वर्ण है।

इसके अतिरिक्त फारसी लिपि में मात्राओं की बड़ी गड़बड़ी है। 'इ' तथा 'उ' की मात्राओं के लिए कोई वर्ण नहीं है। 'ई', 'ए' तथा 'ऐ' की मात्राओं के लिए केवल 'ے' से काम लिया जाता है। जहाँ अन्त में 'ई' की मात्रा आती

है, वहाँ 'ی' का अवश्य प्रयोग होता है। 'ऊ', 'ओ' तथा 'औ' की मात्राओं के लिए अकेले 'و' से काम लिया जाता है। इसका दुष्परिणाम यह है कि कुछ का कुछ पढ़ लिया जाता है। जैसे 'تو' (तू) का 'तो', 'اسی' (इसी) का 'असी', 'ان' (उन) का 'अन' 'پریم' (प्रेम) का 'प्रीम' पढ़ लेना हास्यास्पद है। जब शब्द के आदि में उपर्युक्त किसी मात्रा का प्रयोग होता है तब उसके साथ 'अलिफ़' और जुड़ जाता है। जैसे 'ایک' (एक) 'ایکھ' (ईख) 'اوپر' (ऊपर) 'اوکھلی' (ओखली)। देवनागरी लिपि में प्रत्येक मात्रा के लिए पृथक् वर्ण है।

फारसी लिपि में अन्य दोष यह है कि संयुक्ताक्षरों के उच्चारण में त्रुटि हो सकती है। पाठक 'بندر' (बन्दर) को 'बनदर', 'پرکاش' (प्रकाश) को 'परकाश' 'واسطے' (वास्ते) को 'वासते' पढ़ सकता है। देवनागरी लिपि में ऐसा नहीं है। किसी भाषा का कैसा ही शब्द क्यों न हो उसका शुद्ध उच्चारण देवनागरी में सम्भव है। यह है देवनागरी की विशेषता। अतः स्पष्ट है कि फारसी लिपि भी किसी प्रकार देवनागरी की तुलना नहीं कर सकती।

ऐसी दशा में देवनागरी लिपि ही राष्ट्रलिपि की अधिकारिणी ठहरती है। किसी भी लिपि को राष्ट्रलिपि स्वीकार करने में हमें यह देखना चाहिए कि उसमें ध्वनियों का शुद्ध एवं निश्चित व्यक्तीकरण, स्पष्टता तथा शीघ्र-लेखन गुण विद्यमान हैं या नहीं। देवनागरी लिपि में ये सभी गुण पर्याप्त मात्रा में है। हाँ, वर्तमान

आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इसमें यत्र-तत्र कुछ सुधार की आवश्यकता है जिससे वह टाइप करने अथवा छापने के लिए अधिक उपयुक्त हो सके। इसमें निम्नांकित अवैज्ञानिकता तथा न्यूनताएँ हैं—

१—'ख' तथा 'र'+'व' लिखने में कोई अन्तर नहीं है। अतः 'ख' का 'रव' और 'रव' का 'ख' पढ़ा जा सकता है।

२—फ़ारसी की ق-ث-غ-ظ-ض-ژ-ذ-خ ध्वनियाँ देवनागरी में नहीं हैं।

३—रोमन की उस ध्वनि का जो 'College' शब्द में 'C' के अनन्तर है देवनागरी में अभाव है।

४—टाइप करने में उन मात्राओं के लगाने में कठिनाई होती है जो वर्ण के ऊपर या नीचे लगती हैं बगल में नहीं। जैसे—उ, ऊ, ऋ, ए, ऐ अं।

५—टाइप करने और छापने में संयुक्ताक्षर अंकित करने में कठिनाई होती है।

६—'आ', 'ओ', 'औ', तथा 'अं' की भाँति 'इ', 'ई', 'उ', 'ऊ', 'ए', 'ऐ' और 'ऋ' का रूप नहीं है।

७—वर्णमाला में अनुनासिक वर्ण का रूप नहीं है।

८—'क्ष' 'त्र' और 'ज्ञ' संयुक्ताक्षर हैं। इनको वर्णमाला में स्थान देना अनावश्यक है।

९—'ङ' और 'ञ' पंचम वर्णों का स्वतन्त्र रूप में प्रयोग नहीं होता, केवल संयुक्त रूप में प्रयोग होता है। इनका काम अनुस्वार से चल सकता है। जैसे—'गङ्गा' के स्थान पर 'गंगा' और 'कञ्चन' के स्थान पर 'कंचन' लिखा जा सकता है। ध्वनि में कोई भेद नहीं है। फिर वर्णमाला में इनकी क्या आवश्यकता है?

१०—'ड़' और 'ढ़' का वर्णमाला में स्थान नहीं है।

अब इनके सुधार की बात लीजिए।

१—'ख' के स्थान पर 'ख' रूप स्वीकार करने से 'ख' और 'र+व' का भ्रम दूर हो सकता है।

२—फारसी की 'خ', 'ذ', 'ژ', 'ض', 'ظ', 'غ', 'ف', 'ق' ध्वनियों का काम क्रमशः 'ख', 'ज', 'ग', 'फ', 'क', के नीचे बिन्दी लगाने से चल सकता है। जैसे—'ख़', 'ज़', 'ग़', 'फ़', 'क़'।

३—'College' शब्द में 'c' के पश्चात् जो ध्वनि है उसको प्रकट करने के लिए 'ॉ' का प्रयोग किया जा सकता है। यह ध्वनि 'ओ' और 'औ' की मध्यवर्ती है। जैसे—कॉलेज।

४—वर्ण के ऊपर लगने वाली मात्राओं को ठीक ऊपर न लगाकर दाहिनी ओर लगाया जा सकता है। जैसे—द ेवता, प ंच, वर्ण के नीचे लगाने वाली मात्राओं को वर्ण के बाद लगाया जा सकता है। जैसे—म ुरली, प ूजा, क ृषि। ऐसा करने से टाइप करने में कठिनाई नहीं पड़ेगी।

५—संयुक्ताक्षर लिखने के स्थान पर मिलने वाले अक्षर को पूरा लिखा जा सकता है और उसके नीचे थोड़ा हट कर हलन्त का चिह्न लगाया जा सकता है। जैसे—विद्‌वान (विद्वान)।

६—सुधारकों का सुझाव है कि स्वरों और मात्राओं में समानता तथा सामंजस्य स्थापित करने के लिए 'इ', 'ई', 'उ', 'ऊ', 'ए', 'ऐ', तथा 'ऋ' का रूप क्रमशः 'अि', 'अी', 'अु', 'अू', 'अो', 'अौ' तथा 'अृ' कर दिया जाय।

पर केवल एकरूपता की रक्षा के लिए प्रचलित रूपों में परिवर्तन करने की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती । हाँ, टाइप करने में कुछ सुविधा अवश्य होगी । 'अ' पर ही मात्राएँ लगाने से काम चल जायगा, पृथक्-पृथक् स्वरों के टाइप तैयार करने की आवश्यकता नहीं होगी । किन्तु छपाई में असुविधा होगी । कम्पोज करने में कम्पोजीटर को एक बार 'अ' लगाने में हाथ उठाना पड़ेगा और दूसरी बार मात्रा लगाने में । जैसे—'ओ' (अ+ो) । अतः समय अधिक लगेगा ।

७—वर्णमाला में अनुनासिक वर्ण का रूप 'अँ' होना चाहिए ।

८—वर्णमाला से 'क्ष', 'त्र' और 'ज्ञ' को हटाया जाय । उसमें केवल स्वतंत्र वर्णों को ही स्थान मिलना चाहिए, संयुक्ताक्षरों को नहीं ।

९—वर्णमाला से 'ङ' और 'ञ' को हटाया जाय । इनको रखना व्यर्थ वर्णों की संख्या बढ़ाना है ।

१०—'ड़' और 'ढ़' को वर्णमाला में स्थान मिलना चाहिए ।

शिरोरेखा लगाने से यद्यपि लिखने में शीघ्रता नहीं होती तथापि सुन्दरता बहुत कुछ बढ़ जाती है । शीघ्रता की रक्षा के लिए लिखने में शिरोरेखा लगाना आवश्यक नहीं है । छापने या टाइप करने में शिरोरेखा लगनी चाहिए ।

सारांश यह है कि देवनागरी लिपि फारसी और रोमन दोनों लिपियों की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ है । जैसा कि

ऊपर बतलाया जा चुका है रोमन तथा फारसी दोनों लिपियाँ अत्यन्त दोषपूर्ण हैं । थोड़े से उपर्युक्त परिवर्तनों से देवनागरी हमारे देश की राष्ट्र-लिपि बनाई जा सकती है। इसका सम्बन्ध हमारी संस्कृति एवं सभ्यता से प्राचीन काल से चला आरहा है और यह हमें पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुई है । इसके अतिरिक्त इसकी वैज्ञानिकता विश्व-विख्यात है । भारतवर्ष में इसकी बराबर प्रचार किसी अन्य लिपि का नहीं है । अतः प्रत्येक भारतीय का कर्त्तव्य है कि वह इस लिपि को अपनाये । इसी में हमारे राष्ट्र का तथा हमारा हित और कल्याण है ।

प्रगतिवाद और हिन्दी-कविता

(१) प्रस्तावना—परिवर्तन सृष्टि का नियम है

(२) हिन्दी कविता में प्रधान परिवर्तन और आजकल प्रगतिवाद की ओर उसकी उन्मुखता

(३) प्रगतिवाद का अर्थ

(४) प्रगतिवाद की धारणाएँ—

(क) साहित्य जीवन से पृथक् न हो

(ख) साहित्य मानव-समाज के दीन-हीन अंग श्रमिक एवं कृषक की अवहेलना न करे

(ग) साहित्य सृजन जन-साधारण के लिए हो

(घ) साहित्य जीवन की वास्तविकताओं का यथार्थ चित्रण करे

(ङ) साहित्य में भोजन, वस्त्र एवं निवास-सम्बन्धी प्रमुख आवश्यकताओं को स्थान दिया जाय, मनोविनोदार्थ जीवन तथा जगत के कल्पना-प्रसूत आकर्षक स्वरूप को नहीं

(च) साहित्य में आध्यात्मिकता की अपेक्षा भौतिकता का प्रतिपादन करते हुए मनुष्य को जीवन की विषमताओं से परिचित कराया जाय

(५) हिन्दी-कविता पर प्रभाव

(६) प्रगतिवादी कविता के गुण-दोष

(७) उपसंहार—प्रगतिवाद का भविष्य

परिवर्तन सृष्टि का अटल नियम है। समान दशा में कोई वस्तु स्थित नहीं रहती। कालानुसार प्रत्येक में उलट-फेर होता रहता है। नदी, नाले तथा निर्झर अपना मार्ग बदलते रहते हैं। गंगा और यमुना पहले जिस स्थान पर प्रवाहित हो रही थीं वहाँ आज नहीं प्रवाहित हो रही हैं। उनकी धाराएँ उस स्थान को शनैः शनैः छोड़ती चली जा रही हैं।

यही दशा हिन्दी-कविता की है। पहले वह वीर-गाथा-क्षेत्र में प्रवाहित हुई जहाँ तलवारों की चमचमाहट के साथ मारकाट से उसकी धारा रक्तरंजित हो गई। मुस्लिम आक्रमणकारियों को रोकने के लिए छेड़े गए अवरोधात्मक युद्धों तथा शौर्य-प्रदर्शनार्थ छेड़े गए पारस्परिक युद्धों का यह क्षेत्र अखाड़ा था। कभी-कभी कन्यादान भी पारस्परिक युद्ध का कारण बन जाता था। राजपूत लोग कन्याओं का विवाह करने में अपनी हेटी समझते थे। अतः कभी-कभी विवाह-मंडप में ही तलवारें चल जाती थीं। किसी राजा की कन्या के सौन्दर्य का समाचार पाकर दलबल के साथ चढ़ाई करके उसे बल-पूर्वक हर लाना वीरता का चिह्न समझा जाता था। इन्हीं सब प्रवृत्तियों

की छाप वीरगाथाकालीन कविता में मिलती है। फिर हिन्दी-कविता अपना मार्ग बदलकर भक्ति-क्षेत्र में प्रविष्ट हुई। वहाँ उसकी चार धाराएँ हो गईं—ज्ञानमार्गी, प्रेम-मार्गी, कृष्णभक्ति-मार्गी और रामभक्ति-मार्गी। ज्ञानमार्गी धारा हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य को दूर करने के लिए सन्त कवियों द्वारा प्रवर्तित हुई थी। ये सन्त कवि 'जाति पाँति पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि को होई।' को माननेवाले थे और इनका उपदेश था कि हिन्दुओं का ईश्वर और मुसलमानों का खुदा एक ही है, पृथक्-पृथक् नहीं। प्रेममार्गी धारा भी हिन्दू-मुस्लिम भेद-भाव के निराकरण के लिए सूफियों द्वारा प्रचलित हुई। ये ईश्वर और खुदा दोनों को प्रेमस्वरूप बताकर दोनों जातियों को प्रेम-सूत्र में बाँधने का प्रयत्न करते थे। कृष्णभक्ति मार्गी धारा सगुणोपासक कृष्णभक्त कवियों की थी, जिन्होंने कृष्ण रूप में भगवान का हँसता-खेलता स्वरूप दिखाकर पराधीन हिन्दू-जाति की खिन्नता दूर की। रामभक्ति-मार्गी धारा रामभक्त कवियों की थी जिन्होंने रामरूप में ईश्वर का दुष्ट-दलनकारी स्वरूप दिखाकर निराश हिन्दू-जाति में आशा का संचार किया। कुछ समय उपरान्त हिन्दी-कविता की धारा ने फिर अपना मार्ग बदला और रीति-क्षेत्र में पदार्पण किया। अब वह नायिकाओं का शृङ्गार करने लगी और यौवन-भाराक्रान्त रमणी की भाँति मन्थर-मन्थर गति से विचरण करने लगी। उसमें वासनामय कलुषित प्रेम की सहस्रों लहरें उठने लगीं। आधुनिक काल में आकर उसने प्रथम देशभक्ति का क्षेत्र अपनाया; तत्पश्चात् छायावाद का, अब वह प्रगतिवाद के क्षेत्र की ओर उन्मुख हुई है।

प्रगतिवाद का क्या अर्थ है ? साधारणतः 'प्रगति' का अर्थ होता है 'उन्नति'। साहित्य की प्रगति से तात्पर्य होता है साहित्य की उन्नति। साहित्य में जो जन-हित-साधना के लिए सुधार होते हैं वे उसकी प्रगति के परिचायक होते हैं। इस दृष्टि से हिन्दी-कविता के लिए प्रगतिवाद कोई नवीन वस्तु नहीं है। जन-हित-साधना आर्य-साहित्य का आरम्भ से ही लक्ष्य रहा है। यहाँ तक कि उसका श्रीगणेश ही इस भावना को लेकर हुआ। इस प्रकार आदि कवि वाल्मीकिजी के मुख से निस्सरित ये पंक्तियाँ—

"मा निषाद प्रतिष्ठान्त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौञ्च मिथुनादेकमवधीः काम मोहितम् ॥"

प्रगतिवादी ठहरती है, क्योंकि वे अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह के भाव से ओत-प्रोत हैं। हिन्दी-कविता की रीति-कालीन रचनाओं को छोड़कर शेष सबमें प्रगतिवाद के दर्शन होते हैं। वीर-गाथा-काल में कवियों ने विधर्मी एवं विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध विद्रोह की आग भड़काने में लेखनी का प्रयोग किया। भक्तिकाल में कवियों ने हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य तथा हिन्दुओं की निराशा का निराकरण करने के हेतु अपनी वाणी का संचार किया। आधुनिक काल में कवियों ने अपनी रचनाओं में भारत एवं भारतीयों की दुर्दशा का चित्रण करके प्रगतिवाद का परिचय दिया है।

पर जिस अर्थ में आजकल 'प्रगतिवाद' शब्द का प्रयोग हो रहा है वह इससे पृथक् है। साम्यवादी विचारधारा का प्रतिपादन प्रगतिवाद है, पूँजीवाद के विद्रोह में श्रमिकों एवं कृषकों के दयनीय जीवन का चित्रण

प्रगतिवाद है। आज मानवता पूँजीवाद की चक्की में पिस रही है। क्या उस ओर दृष्टि डालना कवियों का कर्तव्य नहीं है? अब तक काव्य में या तो उच्च वर्ग को स्थान मिला या मध्यम वर्ग को, निम्न वर्ग उपेक्षित रहा। अब उसकी ओर भी हमारे कवियों का ध्यान गया है। हमारे कुछ नवयुवक कवि क्षितिज के उस पार धुँधले चित्र देखने और अनन्त में लीन होने के स्वाँग कर रहे थे, जीवन की ओर उनका ध्यान ही नहीं था। वे छायावाद के दिशाहीन शून्य आकाश में काल्पनिक उड़ान भरने में ही अपनी कला की इतिश्री समझते थे, अपनी कल्पना को हरी-भरी जनपूर्ण धरती पर नहीं टिकाते थे। छायावादी कवि इस धरती पर रहते हुए भी सदैव आकाश में उड़ा करते थे, यथार्थ जीवन की उपेक्षा करते थे। प्रगतिवाद को छायावाद की प्रतिक्रिया समझना चाहिए। यदि छाया-वाद सूक्ष्म का स्थूल के प्रति विद्रोह था, तो प्रगतिवाद स्थूल का सूक्ष्म के प्रति विद्रोह है। वह जीवन को नग्न रूप में देखना चाहता है। प्रगतिवादियों का कथन है कि कला का जीवन-संघर्ष से अटूट नाता है। फिर कवि उसकी उपेक्षा क्यों करे? उनकी प्रमुख धारणाएँ ये हैं—

साहित्य जीवन से पृथक् न हो। साहित्यकार का कर्तव्य केवल जीवन का चित्रण करना ही नहीं है, जीवन-संघर्ष में भाग लेकर उसकी समस्याओं के हल करने का उद्योग करना भी है।

साहित्य मानव-समाज के दीन-हीन अंगों की अव-हेलना न करे, शोषितों तथा पीड़ितों की उपेक्षा न करे।

वह श्रमिकों एवं कृषकों को भी अपनाए, उनके दयनीय जीवन को स्थान दें, उनकी दुर्गति एवं दुर्भाग्य पर आँसू बहाए।

साहित्य-सृजन जन-साधारण के लिए हो, किसी वर्ग-विशेष के लिए नहीं। उससे मानव-समाज का निम्न से निम्न व्यक्ति अपना हृदय हलका कर सके, सान्त्वना प्राप्त कर सके।

साहित्य जीवन की वास्तविकताओं का यथार्थ चित्रण हो, भले ही उसमें वीभत्सता या कुरूपता आ जाय। साहित्यकार को प्रत्येक वस्तु का नग्न स्वरूप प्रस्तुत करना चाहिए, आदर्श की रक्षा के लिए अपनी ओर से उसमें कुछ उलट-फेर नहीं करना चाहिए।

साहित्य भोजन, वस्त्र और निवास-सम्बन्धी प्रधान आवश्यकताओं से मुख मोड़कर मनोविनोदार्थ जीवन तथा जगत के कल्पना-प्रसूत आकर्षक रूप को उपस्थित न करे। "भूखे भजन न होइ गुपाला' के अनुसार भोजन के अभाव में मनुष्य को कुछ नहीं सुहाता। फिर इतनी महत्वपूर्ण अन्नवस्त्र की समस्या को साहित्य में क्यों न स्थान मिले ?

साहित्य भौतिकता का प्रतिपादन करते हुए मनुष्य को जीवन की विषमताओं से परिचित कराए, आध्यात्मिकता की झोंक में उन्हें उसकी आँखों से ओझल न करे।

इन धारणाओं का, इस विचार-धारा का, हिन्दी-कविता पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। यहाँ तक कि प्रगतिवादी रचनाएँ करनेवाले कवियों का एक वर्ग ही बन गया है। उसमें अंचल, बच्चन, दिनकर, नरेन्द्र, भगवतीचरण वर्मा, उदयशंकर भट्ट तथा पंत मुख्य हैं। इन प्रगतिवादी कवियों में सर्व प्रथम अंचल ने छायावाद के विरुद्ध विद्रोह किया। वे साम्यवाद के कट्टर पृष्ठपोषक हैं। उनकी 'सर्वहारा' शीर्षक कविता में श्रमिकों एवं कृषकों का बड़ा कारुणिक चित्र उपस्थित हुआ है, कुछ पंक्तियाँ देखिए—

"गाज गिरी श्रमिकों के सुख पर फूली धन-सत्ता इतराती।
फाड़ गया हो जैसे कोई फोड़ों से धुँधुआती छाती॥
दिनभर प्राण जलाते धू-धू ये पशु से जघन्य कृश जर्जर।
संध्या को ले चुसी हड्डियाँ आते भिखमंगों से कातर॥
ये भी निशि में सुख से सोते पाते अगर पेटभर दाना।
किन्तु इन्हें तो कफ़न न मिलता इन्हें कठिन भी तो मरजाना॥
आज इन्हें उच्छृङ्खल करदो छोड़ चलें जड़ता की माया।
कब से सुप्त पड़ी खेतों में जागो इंकिलाब घिर आया॥"

दिनकर भी अंचल की भाँति साम्यवादी भावनाओं से ओत-प्रोत हैं और शोषितों एवं पीड़ितों की दयनीय दशा पर आँसू बहाते हैं। देखिए उनकी कविता की क्या पुकार है—

"ऋण-शोधन के लिए दूध-घी बेच-बेच धन जोड़ेंगे।
बूँद-बूँद बेचेंगे अपने लिए नहीं कुछ जोड़ेंगे॥
शिशु मचलेंगे देख दूध जननी उनको बहलाएगी।
मैं फाड़ूँगी हृदय लाज से आँख नहीं रो पाएगी॥
इतने पर भी धनपतियों की उन पर होगी मार।
तब मैं बरसूँगी बन बेबस के आँसू सुकुमार॥

फटेगा भू का हृदय कठोर।
चलो कवि वनफूलों की ओर ।।"

पूँजीपति और श्रमिक के जीवन का यह तुलनात्मक चित्र भी कितना मार्मिक है, देखिए—

"श्वानों को मिलता दूध वस्त्र भूखे बालक चिल्लाते हैं।
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।
युवती के लज्जा वसन बेंच जब ब्याज चुकाए जाते हैं।
मालिक जब तेल फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं।।"

इसमें पूँजीवाद का नग्न स्वरूप अभिव्यंजित है।

भगवतीचरण वर्मा भी घोर प्रगतिवादी एवं क्रांतिकारी हैं। उनकी 'भैंसागाड़ी' पर्याप्त ख्याति पा चुकी है। उसमें भूखे-नंगे किसानों का वास्तविक एवं हृदयद्रावक जीवन बहुत सुन्दर अंकित हुआ है। एक चित्र देखिए—

"वे भूखे अधखाए किसान,
भर रहे जहाँ सूनी आहें,
नंगे बच्चे चिथड़े पहने,
माताएँ जर्जर डोल रहीं,
है जहाँ विवशता नृत्य कर रही,
धूल उड़ाती हैं राहें।।"

प्रगतिवाद ने छायावाद के विरुद्ध क्रांति उपस्थित करके हिंदी-कविता को जीवन की ओर मोड़ा है, जीवन की वास्तविकताओं से उसका सम्बन्ध जोड़ा है, यह अच्छी बात है। मानव-समाज के उपेक्षित अंग, जीर्ण-शीर्ण एवं शोषित पीड़ित वर्ग की ओर उसकी धारा प्रवाहित करके उसने बड़े अभाव की पूर्ति की है। किन्तु उसने अपने क्षेत्र को

बहुत संकुचित कर लिया है। कविता को किसी एक वर्ग एक समय, एक स्थिति, के लिए सीमित नहीं करना चाहिए। उसमें तो समाज का सर्वाङ्गीण चित्र देखने को मिलना चाहिए। केवल प्रगतिवादी कविता ही कविता नहीं कही जा सकती। इसके अतिरिक्त कुत्सित, निकृष्ट एवं वीभत्स प्रगतिवादी रचनाओं से कविता के गौरव को आघात पहुँचता है। वर्तमान प्रगतिवादी कवि भी छायावादी कवियों की भाँति ढोंगी हैं। उनका जीवन श्रमिकों तथा कृषकों के जीवन से कोसों दूर है। वे कोठियों और बंगलों में बैठकर झोंपड़ियों में जीवन व्यतीत करनेवाले किसानों और मजदूरों के जीवन की कल्पना करते रहते हैं। वे स्वयं उन विलास के साधनों क उपयोग करते हैं जिनके लिए वे पूँजीपतियों और जमींदारों के विरुद्ध आवाज उठाते हैं। प्रगतिवाद में कविता की कसौटी है अन्नवस्त्र। पर मनुष्य केवल रोटी से ही जीवित नहीं रहता, जैसा कि "A man does not live by bread alone" से प्रकट है। उसकी मानसिक क्षुधा की परितृप्ति के लिए अन्य आवश्यकताएँ भी हैं। अतः उनकी पूर्ति भी आवश्यक है। क्या कविता उनसे विमुख रहे?

सारांश यह है कि प्रगतिवाद बुरी वस्तु नहीं, पर उसको वीभत्सता एवं अश्लीलता से बचना चाहिए। प्रगतिवादी कवि वाणी के संयम का अभ्यास करते हुए विचार व्यक्त किया करें, पूँजीपति अथवा जमींदारों के प्रति अनुचित शब्दों का प्रयोग न किया करें। उन्हें काव्य के गौरव का सदैव ध्यान रखना चाहिए। वाद के चक्कर में पड़कर उन्हें प्रगतिवाद का क्षेत्र संकुचित नहीं करना

चाहिए। केवल प्रगतिवादी कविता ही कविता नहीं है। यदि इन बातों का ध्यान रक्खा जायगा तो प्रगतिवाद का भविष्य उज्ज्वल हो सकेगा।

'साहित्य संगीत कला विहीनः
साक्षात् पशु पुच्छ विषाण हीनः'

(१) प्रस्तावना—कला का महत्व
(२) साहित्य द्वारा मानव-हृदय का परिष्कार
(३) साहित्य द्वारा आचार का सुधार
(४) साहित्य द्वारा मानसिक विकास
(५) संगीत का व्यापक प्रभाव
(६) साहित्य और संगीत का पारस्परिक सम्बन्ध
(७) साहित्य, संगीतादि द्वारा जीवन में सरसता का समावेश
(८) साहित्य, संगीत आदि कला से विहीन व्यक्ति का पशुत्व
(९) उपसंहार—सारांश

मनुष्य सौन्दर्योपासक प्राणी है। सौन्दर्य की उपासना यद्यपि उसकी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं करती; तद्यपि उसको मानसिक एवं हार्दिक तृप्ति अवश्य प्रदान करती है। इससे उसको आनन्द की प्राप्ति होती है। अँगरेज कवि कीट्स ने भी कहा है—

"A thing of beauty is a joy forever."

हमारे प्रातः स्मरणीय गोस्वामी तुलसीदासजी की निम्नांकित उक्ति में भी यही भाव अंतर्निहित है—

"रंगभूमि जब सिय पगु धारी।
देखि रूप मोहे नरनारी॥"

सीताजी के अनुपम रूप ने उपस्थित स्त्री-पुरुषों के हृदय में अनिर्वचनीय आनंद का संचार किया। सौंदर्य में कुछ ऐसी ही विलक्षण शक्ति है कि वह अपना मोहक प्रभाव डाल कर मन को हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है और आनन्द प्रदान करता है। जिस गुण के कारण किसी वस्तु में सुन्दरता का समावेश होता है उसकी 'कला' संज्ञा है। कला की उत्पत्ति मनुष्य की सौन्दर्योपासन-प्रवृत्ति का ही परिणाम है। मन को आनंद-मग्न करने के हेतु ही 'स्वान्तः सुखाय' मनुष्य कला की सृष्टि करता है। कला से कलाकार का तो मनोरंजन होता ही है, उसके सम्पर्क में आने से अन्य व्यक्ति भी आनन्दित होते हैं। इसके अतिरिक्त उसकी और उपयोगिता भी है। वह आत्म-संस्कार में सहायक होती है, हृदय का परिष्कार करती है। कला के मुख्य रूप—साहित्य, संगीत, चित्र, मूर्ति तथा वास्तु—हैं।

साहित्य से मानव-हृदय का परिष्कार होता है। मानव-जीवन की मार्मिक परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराता हुआ साहित्य मनुष्य के भावों को जीवित रखता है, उन पर सान चढ़ाता है। कार्य-क्षेत्र जटिल लेने के कारण मनुष्य पेट की समस्या हल करने में ही सर्वदा जुटा रहता है। अकेले इसी कार्य में सदैव व्यस्त रहने के कारण उसके मस्तिष्क एवं हृदय को भोजन नहीं मिल पाता। फलतः उनका विकास तो दूर की बात रही, उनकी रक्षा भी नहीं होती। शनैः शनैः भाव मरते जाते हैं और चित्त में उदासी छाती जाती है। मनुष्य का हृदय संकीर्ण एवं संकुचित हो जाता है। दूसरों का दुःख-दर्द उसे

तनिक भी प्रभावित नहीं करता। सहानुभूति और सम-वेदना के लिये उसमें कोई स्थान नहीं रह जाता। यही कारण है कि घायल बैल की पीठ पर डंडा बरसाते हुए किसान का मन किंचित् मात्र भी मैला नहीं होता। रुपये-पैसों में गड़े हुए सेठजी भूख से जर्जरित अंधी बुढ़िया की करुण विनय सुनकर टस से मस नहीं होते, उनका हृदय तनिक भी नहीं पसीजता। ऐसी दशा में साहित्य ही उनके हृदय की रक्षा करता है। वह भावों का उद्-बोधन करनेवाली विविध प्रकार की घटनाओं का आश्रय लेकर हृदय को सजीव रखता है। उसके द्वारा भावों को भोजन मिलता रहता है, भावों का व्यायाम होता रहता है। कोई कार्य-भार से कितना ही क्यों न दबा हुआ हो, यदि साहित्य से सम्बन्ध रक्खेगा तो सदैव सहृदय बना रहेगा। उसके हृदय के अन्तर्गत सभी भाव अक्षुण्ण रहेंगे और उपयुक्त अवसर पाकर जाग्रत हो जायँगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य अमानुषिकता से मनुष्य की रक्षा करता है, मनुष्य को पशु नहीं बनने देता।

यही नहीं, साहित्य नीति की शिक्षा भी देता है, सदाचार का पाठ भी पढ़ाता है। वह जीवन का व्याख्या करता है, जीवन का विश्लेषण करता है। अतः उसके द्वारा जीवन-सम्बन्धी नैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन होना भी अवश्यम्भावी है। उसका और सदाचार का नित्य एवं घनिष्ट सम्बन्ध है। मैथ्यूआर्नल्ड ने कहा है—

"A poetry of revolt against moral ideas is a poetry of revolt against life: a poetry

of indifference towards moral ideas is a poetry of indifference towards life" अर्थात् जो कविता सदाचार का विरोध करती है वह जीवन का भी विरोध करती है। जो कविता सदाचार से उदासीन रहती है वह जीवन से भी उदासीन रहती है। पर कलावादी साहित्य तथा सदाचार का सम्बन्ध नहीं मानते। वे तो साहित्य और जीवन का भी सम्बन्ध नहीं स्वीकार करते। 'कला-कला ही के लिए' उनका मूल सूत्र है। क्या साहित्य जीवन से अलग रह सकता है? क्या वह कल्पना के शून्य आकाश में बेपर की उड़ान ही भरता रह सकता है? साहित्य-निर्माता स्वयं एक जीवधारी व्यक्ति है। वह जीवन से अपनी कृति को किस प्रकार पृथक् रख सकता है? हडसन ने कहा है—

"Poetry is made out of life, belongs to life, exists for life" अर्थात् काव्य जीवन से उत्पन्न होता है, जीवन की वस्तु है और जीवन के लिए ही उसका अस्तित्व है। जिस प्रकार पक्षी को, चाहे वह आकाश में कितना ही क्यों न उड़े, अपनी उदर-पूर्ति के लिए धरती पर आना पड़ता है, उसी प्रकार साहित्यकार को, चाहे वह कल्पना के लोक में कितना ही विचरण क्यों न करे, अपने मन एवं हृदय की तृप्ति के लिए जीवन का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है और जब जीवन का आश्रय ग्रहण किया जाता है तब नीति और आचरण स्वतः आ जाते हैं। अतः स्पष्ट है कि साहित्य द्वारा आचरण की रक्षा होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आचरण-रहित मनुष्य, मनुष्य नहीं कहा जा सकता, उसे पशु-कोटि में रखना ही उचित है।

साहित्य से मानसिक विकास भी होता है। साहित्य में सहस्रों वर्ष पूर्व के संचित विचार, भावनाएँ तथा अनुभव विद्यमान रहते हैं। वह विचारों एवं अनुभवों का अक्षय भंडार है। आज गोस्वामी तुलसीदास की पुनीत वाणी हमारे हृदय में पवित्रता का संचार कर रही है। आज भक्त-शिरोमणि सूरदास के मधुर पद हमारे मन को प्रफुल्लित कर रहे हैं। आज महर्षि वाल्मीकि की अनुभूतियों से हम अभिज्ञ हैं। आज कालिदास भवभूति सरीखे भारतीय वाङ्मय के अमूल्य रत्नों का एवं भव्यालोक हमारे मस्तिष्क तथा हृदय को आलोकित कर रहा है। आज न्यूटन, प्लेटो, अरस्तू आदि महान् आत्माओं की अमर कृतियाँ हमारे ज्ञान की अभिवृद्धि कर रही हैं। यह किसका प्रसाद है? साहित्य का। निस्संदेह साहित्य ही प्राचीन आचार-विचारों, रीति-नीति, मान-मर्यादा का परिचय कराता हुआ हमारे मानसिक विकास में योग दे रहा है। यदि साहित्य यह उदारता न प्रदान करे, तो हमें बहुत हानि हो। हम पूर्वजों के अर्जित एवं संचित ज्ञान-भंडार रूपी अमूल्य सम्पत्ति से वंचित रह जायँ, हमारा मानसिक विकास रुक जाय। जैसे शरीर का विकास भोजन, जल, वायु, प्रकाशादि पर निर्भर है, उसी प्रकार मस्तिष्क की उन्नति साहित्य पर अवलम्बित है। जिसका मस्तिष्क विकसित नहीं है उसे मनुष्य कहना कहाँ तक उचित है? उसमें और पशु में क्या भेद?

यह तो हुई साहित्य की बात। अब संगीत को लीजिए। संगीत का प्रभाव बहुत व्यापक तथा विस्तृत होता है। वह अनादि काल से मनुष्य-मात्र की आत्मा

पर पड़ता चला आ रहा है। जंगली से जंगली, असभ्य से असभ्य, मनुष्य से लेकर सभ्य से सभ्य मनुष्य तक संगीत के वशीभूत हो सकता है। मनुष्यों की बात जाने दीजिए। पशु-पक्षी, जीव-जंतु तथा जड़ पदार्थ भी उसका शासन मानते हैं। हरिण वीणा की ध्वनि पर निछावर हो जाते हैं, जैसा कि 'सुनि बीना की मधुरता मारे जात कुरंग' से प्रकट है। सर्प महुअर की ध्वनि सुनकर मस्त हो जाते हैं। अतीत काल में कृष्ण भगवान् की मुरली पर लताएँ स्तम्भित हो जाती थीं। तानसेन के कलकंठ की ध्वनि पर पशु भी मुग्ध हो जाते थे। वाद्यों की मधुर ध्वनि से, पक्षियों के कल-कूजन से, कोमल कण्ठ-स्वर से, किसका हृदय-सागर तरंगित नहीं होता, किसका मन-मयूर नृत्य नहीं करता, कौन बेसुध नहीं होता ? संगीत हमें रुला सकता है, हमें हँसा सकता है, हमारे-हृदय-सागर में अनिवर्चनीय आनन्द की हिलोरें उत्पन्न कर सकता है, हमें शोक-सागर में निमग्न कर सकता है, हमें क्रोधाभिभूत करके पागल वना सकता है, हमें शान्ति-धारा में प्रवाहित कर सकता है। इस प्रकार संगीत हमारे हृदय में विविध भावों का उत्पादन कर सकता है। इस कला के सम्पर्क से भी साहित्य को भाँति मानव-हृदय सजीव रहता है।

संगीत और साहित्य में पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। साहित्य की प्रभावोत्पादकता वहुत कुछ संगीत के के कारण है। उसके एक अङ्ग कविता की छन्द-योजना इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए है। उससे कविता में संगीतात्मकता उत्पन्न होती है। संगीत-रहित होने के कारण ही साहित्य

के अन्य अङ्ग—नाटक, उपन्यास, कहानी तथा निबन्ध का उतना प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार संगीत साहित्य के साहचर्य से अधिक प्रभावशाली हो जाता है। यदि वाद्ययंत्र का से कविता समन्वय हो जाय तो वाद्ययंत्र का प्रभाव कहीं अधिक बढ़ जाता है।

साहित्य, संगीतादि कला द्वारा जीवन में सरसता का समावेश होता है, मन की मलिनता दूर होती है, हृदय आह्लादित होता है। यदि किसी का जी टूट रहा हो, तो साहित्य और संगीत उसे आनन्द प्रदान करते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कला सौन्दर्य पर आधारित है और सौन्दर्य का गुण आनन्द संचार करना है। अतः कला के समक्ष नीरसता अथवा उदासी टिक नहीं सकती।

साहित्य, संगीत इत्यादि कला से विहीन मनुष्य मनुष्य नहीं कहा जा सकता। उसे पशु कोटि में ही रखना उचित है। मनुष्य और पशु में जहाँ तक शारीरिक आवश्यकताओं का सम्बन्ध है, कोई अन्तर नहीं होता। भोजन, जल, वायु, प्रकाशादि की मनुष्य को आवश्यकता होती है और पशु को भी। किन्तु मस्तिष्क का, जो मनुष्य के अन्दर प्रधान वस्तु है, पशु में अभाव होता है। इसके अतिरिक्त हृदय यद्यपि मनुष्य और पशु दोनों में होता है तद्यपि मनुष्य का हृदय पशु के हृदय की अपेक्षा कहीं अधिक विकसित एवं सजीव होता है। अब हमें देखना है कि साहित्य-संगीत-कला-विहीन मनुष्य क्यों पशु-कोटि का पात्र है। ऊपर बताया जा चुका है

कि मस्तिष्क का विकास करने के लिए साहित्य की नितान्त आवश्यकता होती है। यदि कोई मनुष्य साहित्य का अभ्यास नहीं करेगा तो वह मस्तिष्क की विकास-हीनता के कारण पशु-तुल्य मूर्ख बना रहेगा। इसके अतिरिक्त उसका हृदय भी सजीवता नहीं प्राप्त कर सकेगा। उसमें सहानुभूति, समवेदना, पर-दुख-कातरता, दयार्द्रता आदि मनुष्योचित गुणों का अभाव होगा। ऐसे मनुष्य को पशु नहीं तो क्या कहा जायगा ? सच पूछिए तो वह पशु से भी निकृष्ट है, क्योंकि यह देखा जाता है कि कतिपय पशुओं में उक्त गुण होते हैं। कीश-समाज को देखिए। यदि एक बन्दर को कोई कष्ट पहुँचावे अथवा पीड़ित करे तो उसके अन्य साथी दुःख-निवारणार्थ उसकी सहायता करते हैं, भले ही ऐसा करने में उनको स्वयं पीड़ित होना पड़े। यह है सच्ची पर-दुख-कातरता।

सारांश यह है कि साहित्य-संगीत-कला-विहीन मनुष्य को भर्तृहरिजी द्वारा पशु-श्रेणी में रखना सर्वथा उचित है। जिसमें मनुष्योचित गुण न हों, जिसका मस्तिष्क विकसित न हो, उसे किस प्रकार मनुष्य कहा जा सकता है ? वह तो सींग तथा पूँछ रहित पशु ही है।

स्वतन्त्र भारत की समस्याएँ

(१) प्रस्तावना—भारतवर्ष की बन्धन-मुक्ति

(२) स्वतन्त्र भारत की समस्याएँ—

(क) शरणार्थी-समस्या

(ख) काश्मीर-समस्या

(ग) भोजन-वस्त्र-समस्या

(घ) मुद्रा-प्रसार

(ङ) भ्रष्टाचार-समस्या

(३) भारत सरकार द्वारा इन समस्याओं के हल के प्रयत्न

(४) उपसंहार—निष्कर्ष

भारतवर्ष की बन्धन-मुक्ति भारतीय इतिहास की अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। जिस दिन यह घटना घटी वह दिन चिरस्मरणीय रहेगा। उस दिन शताब्दियों से दासता की शृङ्खलाओं में जकड़ी हुई भारतमाता ने स्वतंत्र वायुमंडल में साँस ली। उस दिन शताब्दियों से अस्त भारत-भाग्य-सितारा उदित हुआ। उस दिन हमारे पददलित देश को 'जन्म-सिद्ध अधिकार' प्राप्त हुआ। उस दिन हम दीन-हीन शोपित-पीड़ित, भूखे-नंगे भारतीयों की तपस्या सम्पन्न हुई। उस दिन हमारे बलिदानों की करुण कहानी दीन बन्धु करुणाकर भगवान ने सुन ली और हमारी गुलामी की जंजीर अपनी अनुकम्पा-छेनी से काट दी। उस दिन भगवती स्वतन्त्रता ने अपना दिव्य दर्शन देकर हमें कृतार्थ किया। उनके स्वागतार्थ हमारे हृदय उमड़ पड़े। मंगलाचार हुए, आनन्दोत्सव मनाए गए, दीपमालिकाएँ सजाई गईं, भूखे-नंगों को भोजन-वस्त्र प्रदान किए गए, पूजा-पाठ हुए, नवीन वस्त्राभूषण धारण किए गए, मिष्ठान्न-पक्वान तैयार हुए। उस राष्ट्रीय पर्व पर हमें अपूर्व आनन्द एवं अपार हर्ष हुआ। परन्तु एक बात जो खटकी वह थी भारतमाता का अङ्ग-भङ्ग। उससे जो अनर्थ हुए उन्हें अंकित करते हुए लेखनी थर्राती है।

उसी दिन जब हमारा हृदय आनन्द-सागर में हिलोरें ले रहा था, हमारे पाकिस्तानी हिन्दू भाई आठ-आठ आँसू रो रहे थे। उसी दिन जब इधर मुसलमानों को गले लगाया जा रहा था, उधर हिंदुओं पर कहर ढाया जा रहा था, उनको तलवार के घाट उतारा जा रहा था, उनके बाल-बच्चों का बलात् धर्म परिवर्तित किया जा रहा था, उनकी कन्याओं तथा पत्नियों का सतीत्व नष्ट किया जा रहा था, उनकी धन-सम्पत्ति लूटी जा रही थी, उनके गृहों को भस्मीभूत किया जा रहा था, पाशविकता का तांडव-नृत्य हो रहा था। उस दिन आरम्भ होनेवाली इन रोमांचकारी हृदय-विदारक अमानुषिक घटनाओं से पाकिस्तान-निवासी हिन्दुओं में हाहाकार मच गया, इन वर्बर एवं पैशाचिक कृत्यों से उनको अपनी प्यारी जन्मभूमि का परित्याग करने के लिये वाध्य होना पड़ा। पाकिस्तान में चारों ओर हिंदुओं में भगदड़ मच गई। सबको अपनी-अपनी जान को पड़ी। किसी ने किसी को नहीं सँभाला। पति ने पत्नी छोड़ी और पत्नी ने पति। पिता ने पुत्र छोड़ा और पुत्र ने पिता। भाई ने भगिनी छोड़ी और भगिनी ने भाई। माता ने बेटी छोड़ी और बेटी ने माता। सब तितर-बितर होकर शरण के लिये हिन्दुस्तान की ओर चल पड़े। किसी को किसी का पता न था। सैकड़ों-हजारों नर-नारियों के काफिले यात्रा की यातनाएँ सहते हुए हिन्दुस्तान में प्रविष्ट हुए। मार्ग में कितने ही पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों के प्राण-पखेरू भूख-प्यास से तड़प-तड़प कर उड़ गये, कितने ही पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों को मुसलमान आक्रमणकारी-भेड़िये खा गये। भारत-सरकार ने उनकी रक्षा का तथा उन्हें यहाँ लाने का यद्यपि भरसक प्रयत्न एवं उद्योग

किया तद्यपि लाखों व्यक्ति इस नर-संहार में काम आए। जो जीवित बचे उनके पास न पेट भरने के लिए भोजन था और न तन ढकने के लिए वस्त्र, न रहने के लिये स्थान था और न जीविकोपार्जन के लिए पूँजी। अतः इन लाखों शरणार्थियों की आवश्यकताओं की पूर्ति का भार भारत-सरकार के निवल कंधों पर आ पड़ा। आज स्वतन्त्र एवं दरिद्र भारत के लिए यह एक विकट समस्या वन गई है। इस समस्या के हल करने के लिए जो कुछ हो सकता है वह सब हो रहा है। पर यह ऐसी समस्या है जो सारी शक्तियाँ लगाने पर भी अभी पूर्णतया हल नहीं हो पाई है।

स्वतन्त्र भारत की दूसरी समस्या है काश्मीर-सम्वन्धी। भारतीय शासन-सत्ता के हस्तान्तरित होने पर रियासतों का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। पहले तो रियासतों ने अपनी पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र सत्ता घोषित करनी चाही। परन्तु यह वात चल न सकी। फिर यह निश्चय हुआ कि भौगोलिक स्थिति को दृष्टिगत रखते हुए प्रत्येक रियासत भारत-संघ अथवा पाकिस्तान में प्रविष्ट हो जाय और वैदेशिक सम्बन्ध, रक्षा तथा यातायात के प्रवन्ध में उसकी अधीनता स्वीकार करे। जिस रियासत की भौगोलिक स्थिति ऐसी हो कि वह भारत-संघ तथा पाकिस्तान दोनों में प्रविष्ट होने की अधिकारिणी हो वह जनमत के आधार पर दोनों में से एक के साथ अपना सम्वन्ध स्थापित करे। काश्मीर ऐसी ही रियासत है वह हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दोनों की सीमा पर स्थित है। इस रियासत ने कुछ समय तक अपना निर्णय स्थगित

रक्खा। वह न भारत-संघ में प्रविष्ट हुई और न पाकिस्तान में। इससे पाकिस्तान अधीर हो उठा और काश्मीर पर आर्थिक दबाव डालने लगा। जब यह युक्ति सफल नहीं हुई तब सीमांत प्रदेशों के कबालियों, अफगानों तथा पठानों को काश्मीर का सब्ज बाग दिखाकर उसने काश्मीर पर आक्रमण करने के लिए लालायित किया और इस प्रकार काश्मीर को भयभीत करना चाहा। जब उसकी यह कुचाल कार्यान्वित हो गई तब काश्मीर विवश होकर भारत-संघ में प्रविष्ट हुआ और उसने भारत-सरकार से रक्षा की प्रार्थना की। ऐसी दशा में भारत-संघ द्वारा उसकी सहायता सर्वथा उचित थी। अतः भारत-सरकार ने आक्रमणकारियों से लोहा लेने के लिए, उन्हें काश्मीर की सीमा से बाहर भगाने के लिए, अपनी सेना भेज दी। यह देखकर पाकिस्तान ने गुप्त रूप से आक्रमणकारियों को अस्त्र-शस्त्र तथा धन-जन से सहायता प्रदान करना आरम्भ कर दिया। फिर क्या था, घोर युद्ध होने लगा। भारत-संघ ने पाकिस्तान की इस धूर्तता की शिकायत संयुक्त-राष्ट्र-संघ से की, जिसने काश्मीर-समस्या को सुलझाने के लिए काश्मीर-कमीशन नियुक्त किया। आजकल वह कमीशन समस्या को सुलझाने का उद्योग कर रहा है। काश्मीर की जटिल समस्या ने स्वतन्त्र भारत को अपार क्षति पहुँचाई है। काश्मीर की रक्षा में भारत का रुपया पानी की भाँति प्रवाहित हो रहा है, अनेक भारतीय सैनिक युद्ध-क्षेत्र में अपने प्राण होम रहे हैं, अस्त्र-शस्त्रादि युद्ध-सामग्री पहुँचाने में रेलें जुटी हुई हैं, जिससे अन्न, कपड़ा इत्यादि आवश्यक वस्तुएँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाने के लिए रेल के डिब्बों की कमी हो गई है।

स्वतन्त्र भारत की तीसरी समस्या है मुद्रा-प्रसार। इसका प्रधान कारण व्यय-वृद्धि है। यदि व्यय-वृद्धि के साथ-साथ आय-वृद्धि भी होती तो मुद्रा-प्रसार की समस्या न उठ खड़ी होती। शासन की बागडोर सँभालते ही हमारी सरकार ने देश के पुनर्निर्माण की कई योजनाएँ हाथ में ले ली हैं जो व्ययसाध्य हैं। पाकिस्तान से हिन्दुओं तथा सिक्खों को हिन्दुस्तान लाने और मुसलमानों को यहाँ से पाकिस्तान पहुँचाने में बहुत व्यय हुआ है। शरणार्थियों की रक्षा, पालन-पोषण एवं पुनर्निवास का कार्य भी अति व्ययसाध्य है। काश्मीर की सैनिक कार्यवाही में करोड़ों रुपये व्यय हुए हैं और हो रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लेने के लिए भेजे गए प्रतिनिधि-मंडलों पर तथा विभिन्न देशों में में स्थित भारतीय राजदूतों पर पानी की तरह रुपया बहाया जा रहा है। इन सब कारणों ने मुद्रा-प्रसार की समस्या को जन्म दिया है। मुद्रा-प्रसार से लोगों की क्रय-शक्ति बढ़ गई है और वस्तुओं की कमी के कारण उनके मूल्य दिन-प्रतिदिन बढ़ते चले जा रहे हैं। फलतः वे जन-साधारण के लिए दुर्लभ होती जा रही हैं।

स्वतन्त्र भारत की चौथी समस्या भोजन-वस्त्र-सम्बन्धी है। अनाज तथा कपड़ा बहुत महँगा है। घी-दूध बहुमूल्य होने के कारण जन-साधारण के लिए अप्राप्य है। सेर-डेढ़ सेर का गेहूँ कौन खा सकता है? दस-बारह रुपये का धोती-जोड़ा कौन पहन सकता है? तीन छटाँक का घी कौन खा सकता है? दस-बारह आने सेर दूध कौन पी सकता है? वही जो धनाढ्य है। वही जिस पर लक्ष्मी

महारानी की कृपादृष्टि है। यदि खाद्य पदार्थ इतने बहुमूल्य रहेंगे तो जनता की क्या दशा होगी? दिन-प्रतिदिन वस्तुएँ तेज होती जा रही हैं। इससे चारों ओर असंतोष बढ़ता जा रहा है। सरकार भी यह दशा देखकर परेशान है। इस विषम समस्या के कई कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि उत्पादनकर्ता कृषक अनाज को बेचना नहीं चाहता या बहुत कम बेचता है। दूसरा कारण यह है कि एक स्थान से दूसरे स्थान पर अनाज पहुँचाने की सुविधाएँ नहीं हैं। समस्या को सुलझाने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि किसानों के घरों से बलात् अनाज निकलवाया जाय और उसे बाजार में बेचने के लिए उन्हें बाध्य किया जाय। कोई भी किसान वर्ष भर के खाने तथा बीज के अतिरिक्त और अनाज अपने-पास न रख सके। इसके अतिरिक्त अनाज का यातायात सदैव होता रहे, उस पर कोई प्रतिबन्ध न लगाया जाय, जिससे जहाँ अनाज की कमी हो वहाँ उसे शीघ्र पहुँचाया जा सके। साथ ही सरकार को अनाज के उत्पादन में वृद्धि करने के प्रयत्न करने चाहिएँ। बंजर भूमि पर खेती कराई जाय। सिंचाई का सुप्रबन्ध सर्वत्र हो। कपड़े की समस्या को विकट रूप प्रदान करने में मिल-मालिकों का तो हाथ है ही, दूकानदारों का भी हाथ है। इसके अतिरिक्त उत्पादन भी देश के आवश्यकतानुसार नहीं हो रहा है। शरणार्थियों के कारण भारत की जनसंख्या में पर्याप्त वृद्धि हो गई है। इस समस्या को सुलझाने के लिए यह आवश्यक है कि प्रथम तो कपड़े के उत्पादन में वृद्धि की जाय। दूसरे मिल-मालिकों पर ऐसा नियन्त्रण रहे कि वे उचित मूल्य लेकर निश्चित

अवधि के अन्दर उसे बेच दिया करें । दूकानदार भी कपड़े को अधिक समय तक न रोक सकें । साथ ही कपड़े के यातायात को अधिक से अधिक सुविधाएँ दी जायँ । इस प्रकार जब अनाज और कपड़े की कमी दूर होगी तब अन्य वस्तुएँ स्वतः सस्ती हो जायँगी तथा जन-साधारण के लिए सुलभ हो सकेंगी ।

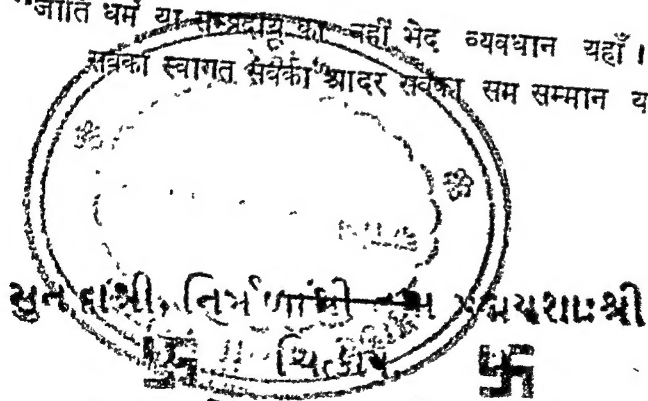
स्वतन्त्र भारत की पाँचवीं समस्या भ्रष्टाचार-सम्बन्धी है । हमारे यहाँ चोर-बाजारी, रिश्वतखोरी, सिफारिश तथा पक्षपात का दौर-दौरा है । व्यापारी-समाज चोर-बाजारी से कलुषित है । वह येन-केन-प्रकारेण सरकार द्वारा नियन्त्रित मूल्यवाली वस्तुओं को अधिक मूल्य में बेचता रहता है । राशनवाली वस्तुओं में से भी युक्तिपूर्वक बचत करके जनता से कई गुना मूल्य लिया जाता है । उदाहरण के लिए पैट्रोल को ले लीजिए । यद्यपि उसका राशन है और उसका नियन्त्रित मूल्य दो रुपये चार आना प्रति गैलन है; तथापि चोर-बाजार में वह प्राप्य है और पन्द्रह रुपये तक प्रति गैलन के भाव से बिकता है । यही दशा सीमेंट, मिट्टी का तेल, लोहा आदि नियंत्रित वस्तुओं की है । चोर-बाजारी का उत्तरदायित्व सरकारी कर्मचारियों पर भी है । वे यदि अपने कर्तव्य का पालन करें तो चोर-बाजारी असम्भव है । किन्तु घूस-देवी में बड़ी शक्ति है । वह क्यों कर्तव्य का पालन करने दे ? जहाँ कर्मचारियों की जेब गर्म हुई वहाँ सब अपराध क्षमा, सब पाप माफ । सरकारी कर्मचारियों की उत्कोच-प्राप्ति की कलुषित मनोवृत्ति चोर-बाजारी को बहुत कुछ प्रोत्साहन दे रही है । रिश्वतखोरी का बाजार इतना गर्म है

कि न्याय एवं कर्तव्य का गला घुट रहा है। जो घूस दे सकता है उसकी पाँचों उँगलियाँ घी में रहती हैं, न्याय उसके इशारे पर नाचता है, सफलता उसकी ओर ताकती रहती है। सिफारिश और पक्षपात इतना बढ़ा हुआ है कि योग्यता सिर धुन रही है। गधों को घी पिलाया जा रहा है और घोड़े भूखे मर रहे हैं। कौओं को सम्मानित किया जा रहा है और कोयलों की कोई बात भी नहीं बूझता। शासन में शिथिलता के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। अधिकारी अपना-अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं। जनता दुःखी है।

भारत-सरकार बड़ी सतर्कता एवं सजगता के साथ उपर्युक्त समस्याओं को सुलझाने में प्रयत्नशील है। वह प्राणप्रण से राष्ट्र का हित-साधन कर रही है। शरणार्थियों के लिए भोजन, वस्त्र, गृह, दूकान, जीविकोपार्जनार्थ पूंजी आदि की व्यवस्था हो रही है। उनमें जो पढ़े-लिखे हैं उन्हें योग्यतानुकुल सरकारी पदों पर आरूढ़ किया जा रहा है। काश्मीर का प्रश्न संयुक्त-राष्ट्र-संघ को सौंप दिया गया है। मुद्रा-प्रसार को रोकने के लिए अधिक उत्पादन मितव्ययता, अनिवार्य बचत आदि साधनों को अपनाया जा रहा है। भोजन-वस्त्र-समस्या को हल करने के लिए पुनः नियंत्रण की शरण ली जा रही है। भ्रष्टाचार का अन्त करने के लिए कानून बन रहे है और अपराधियों को दंडित किया जा रहा है। प्रान्तों में भ्रष्टाचार-विरुद्ध-विभागों (Anti-corruption departments) की स्थापना हो गई है और रिश्वतखोरी के मामलों की जाँच-पड़ताल करके मुकद्दमे चलाए जा रहे हैं।

निष्कर्ष यह है कि हमारे राष्ट्र को स्वतन्त्रता मिलते ही उसके सिर पर आपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ा है, मानो सिर मुड़ाते ही ओले पड़े हैं। पर हमारी सरकार बड़ी दृढ़ता, बड़ी गम्भीरता, बड़ी बुद्धिमत्ता, बड़ी सूझ-बूझ के साथ आपत्तियों के भँवर से राष्ट्र-नौका को बाहर निकाल रही है। पं० जवाहरलाल नेहरू और सरदार वल्लभभाई पटैल जैसे कुशल कर्णधारों के हाथों में हमारे राष्ट्र की नैया सुरक्षित है। हमें पूर्ण आशा है कि हमारे स्वतन्त्र भारत का सौभाग्य सूर्य आपत्तियों तथा कठिनाइयों के अंधकार को नष्ट करता हुआ शीघ्र ही चमकेगा और अपने भव्य आलोक से विश्व को चमत्कृत कर देगा। स्वतन्त्र भारत में किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं बरता जा रहा है और सबके साथ प्रेम एवं समानता का व्यवहार रहा है।

"जाति धर्म या सम्प्रदाय का नहीं भेद व्यवधान यहाँ।
सबका स्वागत सबका आदर सबका सम सम्मान यहाँ॥"



मुद्रक—गुलाबचन्द अग्रवाल बी० काम०, अग्रवाल प्रेस, आगरा।